पाणिनि के उत्तराधिकारी

डॉ० उदयनारायण तिवारी
अध्यक्ष, हिन्दी एवं भाषाविज्ञान विभाग
जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

समर्पणम्

'सरस्वती' के यशस्वी सम्पादक
एवं हिन्दी के परमोन्नायक
भैया साहब
पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी के
करकमलो मे
सादर-सभक्ति-सप्रीति
सर्मपित

● ●

वागीश्वर्या. वरलब्ध्वा सरस्वत्या प्रकाशक ।
तत्त्वज्ञ राष्ट्रभाषाया. प्राणकल्पश्च य पर ॥
विशिष्टाद्वैततत्त्वज्ञ ब्रह्मविद्या कलातिग ।
श्रीनारायणो जयति परमब्रह्मण्य वैष्णव ॥

प्रणम्य शिरसा भक्त्या
श्रीकरकरकराम्बुजे
उदयनारायणाख्येन
ग्रन्थोऽय सुसमर्प्यते ॥

आमुख

प्रस्तुत पुस्तक, समय-समय पर लिखे गए, मेरे वारह निवन्धों का संकलन है जो 'पाणिनि के उत्तराधिकारी' नाम से साहित्य के सुरुचि-सम्पन्न जिज्ञासुओ के लिए उपलब्ध हो रही है।

भाषा तथा लिपि-सम्बन्धी समस्याओ के चिन्तको के लिए तो इन निवन्धो मे पर्याप्त सामग्री है ही, उच्चस्तरीय शिक्षण के अध्येताओ को भी अपनी-अपनी आवश्यकताओ के अनुकूल इन लेखो से मार्ग-दर्शन मिल सकेगा।

हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि मे अपना विशिष्ट योगदान देनेवाली प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका 'सरस्वती' के कतिपय अको में इनमे से कई निवन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। अपने सुहृद एव हिन्दी के परम उन्नायक, श्रद्धेय भैया साहव पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के प्रति इन पक्तियो का लेखक अत्यधिक् आभारी है जिनकी वलवती प्रेरणा से इन निवन्धो की रचना हुई है।

प्रत्येक देश मे किसी न किसी रूप मे भाषा एव लिपि की समस्या है और उसे हल करने मे उस देश के नेता एव विद्वान् सलग्न हैं। 'टर्की भाषा मे सुधार' एव 'साम्यवादी चीन की भाषा-समस्या' निवन्धो के पढ़ने से यह वात स्पष्ट हो जायेगी।

इनमे से अधिकाश निवन्ध मेरे अमेरिका-प्रवास के समय लिखे गये थे। आज लगभग वारह वर्षों के उपरान्त मुझे यह स्मरण भी नही है कि इनकी सामग्री के मूल स्रोत क्या थे? 'पालिवाङमय' की अधिकाश सामग्री गायगर-कृत 'पालिभाषा एव साहित्य' से ली गई है।

पृष्ठ ७६, ७७ मे ब्राह्मी से प्रसूत विभिन्न लिपियो का एक चार्ट दिया गया है। इसके पृष्ठ ७६ मे २२ कालम है जिनका विवरण इस प्रकार है —

१. प्राचीन मौर्य लिपि, २-३, ५. उत्तर-भारतीय लिपियो का प्राचीन नमूना, ४ भव्य गुप्त लिपि, ६ उत्तरी भव्य लिपि का पूर्वी रूप, ७ तथा-कथित 'कुटिल' लिपि, ८-१०. तिव्वती लिपियाँ, ११ पस्सेपा लिपि (तिव्वती लिपि का एक रूप), १२ देवनागरी, १३. गुरुमुखी, १४ वगला, १५ उडिया, १६ गुजराती, १७ सिन्धी, १८ मुल्तानी, १९-२०. फिलिपाइन्स की प्राचीन लिपियाँ, २१-२२ सेल्वीज की लिपियाँ।

इसी प्रकार पृष्ठ ७७ के २१ कालमो मे उल्लिखित लिपियो का विवरण इस प्रकार है —

१-३ वर्मा की लिपियाँ, ४-५ स्याम की लिपियाँ, ६ मॉन लिपि, ७. अहोम लिपि, ८. जावा की लिपि, ९-१० वटक लिपियाँ, ११-१२. लैम्पौड

रेड्जङ लिपियाँ (दक्षिण-पश्चिमी सुमात्रा की लिपियाँ), १३. सिंहली लिपि, १४. कदम्ब लिपि, १५ प्राचीन चालुक्य (प्राचीन कन्नड) लिपि, १६. मध्यभारतीय लिपि (मध्य प्रदेश तथा उत्तरी हैदराबाद मे उपलब्ध लिपि), १७ तेलुगू लिपि, १८ कन्नड लिपि, १९. ग्रन्थ लिपि, २०. तमिल लिपि, २१ वट्टेलुट्टू लिपि (दक्षिण की हलावर्त लिपि)।

'लोकभारती' की ओर से मुद्रण कराने के दायित्व के लिए श्री पद्मधर त्रिपाठी तथा प्रूफ आदि कठिनाइयो का भार वहन करनेवाले डॉ० जयशंकर त्रिपाठी भी मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

जबलपुर
गाँधी जयन्ती, १९७०

—उदयनारायण तिवारी

अनुक्रम

पाणिनि के उत्तराधिकारी

पाणिनि के उत्तराधिकारी

●

जब से यूरोप तथा अमरीका मे वर्णनात्मक (Descriptive) भाषा-शास्त्र के अध्ययन का आरम्भ हुआ है, तब से संस्कृत के वैयाकरण पाणिनि का महत्त्व बढ गया है। संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र मे पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि सर्वोपरि माने जाते हैं तथा 'मुनित्रय' के नाम से विख्यात हैं। पाणिनि के पूर्व अनेक वैयाकरणो के नाम तो मिलते है, किन्तु उनकी कृतियाँ आज उपलब्ध नही है, पर पाणिनि के सर्वांगीण व्याकरण को देखकर यह सहज मे ही अनुमान किया जा सकता है कि उनके बहुत पूर्व ही, भारत मे, व्याकरण की शास्त्ररूप मे प्रतिष्ठा हो चुकी होगी। यूरोप के लोग अपनी सभ्यता एव संस्कृति का सयोगसूत्र ग्रीक मे जोडते है। उच्च सास्कृतिक दृष्टि से ससार की पाँच भाषाएँ—प्राचीन चीनी, सस्कृत, अरबी, ग्रीक तथा लैटिन—श्रेष्ठ मानी जाती है। यूरोप की आधुनिक भाषाओ के व्याकरण मे, वाक्य को आठ भागो—सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, अव्यय, उपसर्ग, सयोजक, विस्मयादि-सूचक—मे वर्गीकृत करने की पद्धति, वस्तुत. ग्रीक मे, लैटिन द्वारा होते हुए आई है। पहले यूरोप के लोगो को इस बात का अभिमान था कि ग्रीक लोग दर्शन से लेकर भाषा तक के चिन्तन के क्षेत्र मे अप्रतिम हैं, किन्तु इधर जब से अमरीका के विद्वानो ने भाषा-शास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन करना आरम्भ किया है, तब से यह स्पष्ट हो गया है कि कम-से-कम भाषा के क्षेत्र मे जितना सूक्ष्म एव गम्भीर चिन्तन प्राचीन भारत मे हुआ था, उतना कही अन्यत्र नही हुआ। सन् १७८६ ई० मे बगाल की एशियाटिक सोसायटी के सम्मुख सस्कृत को ग्रीक तथा लैटिन से अधिक समृद्ध एव पूर्ण बतलाते हुए विलियम जोन्स ने कहा था—

"व्याकरण विषयक रूपो तथा धातुओ मे सस्कृत, ग्रीक एव लैटिन मे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो आकस्मिक नही हो सकता। इनमे पारस्परिक इतना अधिक सम्बन्ध है कि कोई भी भाषाशास्त्री इनका परीक्षण करके इस परिणाम पर पहुँच सकता है कि इन तीनो का स्रोत एक है। यद्यपि इस बात के लिए प्रमाण का अभाव है तथापि इसकी सहज मे ही कल्पना की जा सकती है कि गॉथिक तथा केल्टिक का भी मूल स्रोत वही है जो सस्कृत का है।"

यूरोप मे जोन्स के इन शब्दो का मत्रवत् प्रभाव पडा। यद्यपि जोन्स के

इस कथन के पूर्व ही संस्कृत यूरोप में पहुँच चुकी थी, तथापि विद्वानों ने इसके महत्त्व पर ध्यान नहीं दिया था। उस समय तक यूरोप के भाषाशास्त्री अपनी मातृभाषाओं का हिब्रू तथा अरबी से ही सम्बन्ध जोड़ने में व्यस्त थे। जोन्स की विचारधारा ने यूरोप के भाषाशास्त्रियों का स्पष्ट रूप से मार्ग-प्रदर्शन किया और वे भाषा के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ढंग से विचार करने के लिए बाध्य हुए। भाषाशास्त्र के लिए इसका परिणाम भी अत्यधिक शुभ हुआ और यूरोप के विद्वानों ने भारोपीय परिवार की भाषाओं[1] का, गम्भीर, तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया। किन्तु इतना होते हुए भी, भाषा तथा व्याकरण-शास्त्र के सम्बन्ध में पाणिनि ने जो अभूतपूर्व कार्य किया था, उसका यूरोप के विद्वान्, पूर्ण रूप से मूल्यांकन न कर सके। इधर जब से यूरोप तथा अमरीका के भाषाशास्त्री, भाषा के अन्तस्तल में प्रवेश करने का प्रयत्न करने लगे तथा जब उन्होंने देखा कि प्रत्येक भाषा का अपना गठन अथवा अपना ढाँचा होता है, इस ढाँचे का पता केवल उस भाषा के विविध तत्त्वों के सूक्ष्म विश्लेषण से ही ज्ञात हो सकता है और वास्तव में इस ढाँचे की सूत्ररूप में व्याख्या ही उस भाषा के व्याकरण का मुख्य विषय है, तब उन्हें पाणिनि का महत्त्व ज्ञात हुआ। उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि आधुनिक भाषाओं के विश्लेषण के लिए जिस प्रक्रिया (Methodology) की आवश्यकता है, उसकी पूर्ण परिणति तो भारत में, ईसा के जन्म से पाँच सौ वर्ष पूर्व[2] पाणिनि की कृति अष्टाध्यायी में हो चुकी थी। इस तत्त्व के ज्ञात होते ही यूरोप तथा अमरीका के भाषाशास्त्री पाणिनि का दाय अथवा उत्तराधिकार प्राप्त करने में संलग्न हो गये।

ऊपर के तथ्य को समझने के लिए हमें यूरोप तथा अमरीका के भाषाशास्त्र के इतिहास को संक्षेप में समझना पड़ेगा। इसके साथ ही पाणिनि तथा ग्रीक एवं लैटिन वैयाकरणों के अन्तर को भी जानना होगा। जहाँ तक पाणिनि की कृति का प्रश्न है, उसका धर्म तथा दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है। उस युग में, शिष्ट लोगों में प्रचलित भाषा का विवरण है। इसके विपरीत ग्रीक एवं लैटिन के व्याकरण पर धर्म एवं दर्शन की स्पष्ट छाप है और वे पाणिनि

---

१. भारोपीय के अन्तर्गत मुख्य रूप से केल्तिक, इतालीय, ग्रीक, आर्मनीय, आल्बनीय, बाल्तोस्लाविक, ट्यूटनिक या जर्मेनिक, आर्यभाषा (संस्कृत तथा ईरानीय) हत्ती या खत्ती एवं तोखारीय भाषाओं की गणना है।

२. यूरोप के तथा अनेक भारतीय विद्वान् पाणिनि का समय यही मानते हैं, यद्यपि कई भारतीय विद्वान् इसके पक्ष में नहीं हैं।

के व्याकरण की भाँति वर्णनात्मक भी नहीं है। पाणिनि तथा संस्कृत के सम्बन्ध मे जो अनेक भ्रान्तिपूर्ण बातो का प्रचार हमारे देश मे हो गया है, उनमे से एक यह है कि संस्कृत कृत्रिम तथा मृत भाषा है और पाणिनि ने इसका व्याकरण लिखकर इसकी समाधि खडी कर दी है। यह विचारधारा गत शताब्दि के कतिपय यूरोपीय विद्वानो के उर्वर मस्तिष्क से प्रसूत होकर भारत पहुँची और आज भी उनके मानस पुत्र इसकी रट लगाये जा रहे है। सच बात तो यह है कि पाणिनि ने जिस संस्कृत का व्याकरण लिखा था, वह उस युग मे उसी रूप मे सजीव भाषा थी, जिस रूप मे आज हिन्दी, अँगरेजी, फ्रेंच, जर्मन तथा रूसी हैं। जिस प्रकार आधुनिक भाषाओ मे सामाजिक स्तर के अनुसार यत्किंचित् भेद है, उसी प्रकार पाणिनि-काल की संस्कृत मे भी रहा होगा। पाणिनि ने उस युग के ब्राह्मण-गुरुकुलो मे प्रचलित शिष्ट उदीच्य (पश्चिमी पंजाब की) भाषा को लेकर उसका वर्णनात्मक व्याकरण तैयार कर दिया। आज अँगरेजी, फ्रेंच, हिब्रू तथा अमरीका की विविध बोलियो के वर्णनात्मक व्याकरण लिखे जा रहे हैं।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि संस्कृत की उपलब्धि के बाद यूरोप मे भाषाशास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन का सूत्रपात हुआ था। इस अध्ययन पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पाणिनि का प्रभाव परिलक्षित होता है। सर्व-प्रथम हमे यह प्रभाव फ्रेडरिक मूलर (१८७६-१८८८) तथा फिक (१९१०) की भारोपीयेतर भाषाओ की कृतियो मे दृष्टिगोचर होता है। यूरोप के इस युग के अनेक विद्वानो ने भाषा एव ध्वनि का वैज्ञानिक अध्ययन किया, जिनमे वॉन हम्बोल्ट (१८३६-१८३९), स्टिथल (१८६०), वॉन डेर गैवेलेज, वुण्ड (१९००-१९०९), हेमहोल्ज़ (१८६३), केम्पलेन (१७९१), विलिस (१८३०) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। १९वी शताब्दी के अन्त तक मे इस रूप मे भाषाशास्त्र के अध्ययन की शुरूआत हुई थी। वस्तुत इसने बीसवी शताब्दी के अध्ययन के मार्ग को प्रशस्त किया। यह बात अमरीका तथा यूरोप दोनो के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। अमरीका के प्रख्यात भाषाशास्त्री स्वर्गीय ब्लूम फील्ड, १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण मे, भाषाशास्त्र की गति-विधि पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—"इस युग मे, एक ओर, ऐतिहासिक तुलनात्मक तथा दूसरी ओर दार्शनिक विवरणात्मक भाषा-सम्बन्धी विचारधारा के समन्वय मे कतिपय ऐसे सिद्धान्त सामने आये, जो १९वी शताब्दी के भारोपीय भाषाओ के अध्येताओ को उपलब्ध न हो सके थे। इन सिद्धान्तो के हरमन पाउल की कृति मे हमे दर्शन होते हैं। प्राय. भाषा-सम्बन्धी सभी ऐतिहासिक अध्ययनो का आधार दो या दो से अधिक वर्णनात्मक सामग्री की तुलना होती है। इन

अध्ययनो की शुद्धता वस्तुत. सामग्री पर निर्भर करती है।"

१९वी शताब्दी के अन्तिम चरण के सबसे प्रतिभाशाली भाषाशास्त्री फर्डिनेण्ड डि सासे (१८५७ से १९१३) थे, जिन्होने भाषा के गठन-सम्बन्धी अध्ययन तथा वर्णनात्मक वर्णन पर विशेष बल दिया। इसी समय ध्वनि-ग्राम (Phoneme) का अनुसन्धान हुआ, जिससे भाषा के विश्लेषण का कार्य सरल हो गया। इसके आविष्कर्ता दो रूसी भाषाशास्त्री बॉडविन डि कुर्तने तथा उनके शिष्य क्रुजेवस्की (१८८१) थे। प्राहा विचार-शैली (Prague School) के भाषाशास्त्री, रोमन याकोब्सन तथा त्रुबेस्क्वाय ने अपने नवीन अनुसन्धानों से भाषाशास्त्र के अध्ययन को पर्याप्त प्रगति प्रदान की है। अमरीका तो आज ध्वनि-शास्त्र तथा गठन-सम्बन्धी (Structural) एव वर्णनात्मक भाषाशास्त्र (Descriptive linguistics) के अध्ययन का विराट् केन्द्र हो रहा है। यहाँ एक ओर तो बाइबिल के अनुवाद के लिए मिशनरियो ने ध्वनि एव भाषाशास्त्र के अध्ययन का केन्द्र स्थापित कर रखा है, तो दूसरी ओर यहाँ के प्रत्येक विश्वविद्यालय मे भाषाशास्त्र के गम्भीर अध्ययन का कार्यक्रम चल रहा है। अमरीका की पिछली पीढी के भाषाशास्त्रियो मे फ्रैंजबोआ, लिओनार्ड ब्लूमफील्ड, एडवर्ड सापिर तथा बेंजामिन ली हूर्फ प्रसिद्ध हैं। वर्त्तमान पीढी के भाषाशास्त्रियो मे पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय के प्रो० जैलिग हैरिस तथा कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय की कुमारी मेरी हास का स्थान बहुत ऊँचा है। मिशनरी भाषाशास्त्रियो मे पाइक तथा नाइडा प्रसिद्ध हैं। प्राहा तथा अमरीका के अतिरिक्त डेनमार्क मे भी भाषाशास्त्र के अध्ययन का एक केन्द्र है, जो "ग्लासमेटिक" विचारधारा के नाम से प्रसिद्ध है। 'ग्लॉस' ग्रीक भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है 'भाषा'। इस विचारधारा के भाषाशास्त्रियो मे लुई हेमसेव, एच० जे० उदाल एव कुमारी जोर्गेन जोर्गेन्सन मुख्य हैं।

ऊपर ध्वनि-ग्राम (फोनीम) शब्द का व्यवहार किया गया है। यहाँ इसे स्पष्टतया समझ लेना आवश्यक है। हिन्दी मे **पता, पत्ता, पुर, पुण्य** तथा **पौत्र** मे प्रयुक्त प-ध्वनि को हम ओष्ठ के नाम से अभिहित करते है, किन्तु यदि हम इन शब्दो मे प-ध्वनि का विश्लेषण करे तो ज्ञात होगा कि यद्यपि सुनने मे प-ध्वनि सर्वत्र समान प्रतीत होती है, किन्तु इनमे पारस्परिक भिन्नता है, जो इनके उच्चारण-प्रयत्न की भिन्नता के कारण है। इनमे 'पता' के 'प' के उच्चारण मे दोनो होठ उतनी सघनता से नही मिलते, जितना 'पत्ता' के 'प' के उच्चारण मे। इसी प्रकार 'पुर', 'पुण्य' तथा 'पौत्र' की प-ध्वनि की भी दशा है। यदि हम ऊपर के शब्दो मे प-ध्वनि का विश्लेषण करे तो इन्हे क्रमश. 'प' 'प'^{1}, त^{2}, प^{3}, प^{4} के रूप मे लिख सकते हैं। यहाँ 'प' के साथ जो

१,२,३,४ अको का प्रयोग किया गया है, वह केवल उच्चारण की भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए है, गणितीय-मान प्रदर्शित करने के लिए नही। सूक्ष्म विश्लेषण से 'प' ध्वनि मे चाहे जितना भी अन्तर हो, किन्तु इनकी निर्माण-पद्धति तथा इनके ध्वन्यात्मक रूप एक वर्ग के अन्तर्गत हैं। दूसरे शब्दो मे ये ओष्ठ ध्वनियाँ हैं और कोई भी हिन्दी-भाषा-भाषी इन पाँचो शब्दो के 'प' के उच्चारण मे किसी प्रकार के अन्तर का अनुभव नही करता। यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से समझनी चाहिए कि "प" ध्वनिग्राम वस्तुत एक वश का परिचायक है और इसके अन्तर्गत, अलग-अलग भाषण-ध्वनियो, प१, प२, प३ प४ की सत्ता सदस्य के रूप मे वर्त्तमान है। यदि हमे व्यावहारिक रूप मे 'प' ध्वनिग्राम का ज्ञान न हो तो हमे प१ ,प२, प३, प४ आदि के लिए अन्य प्रतीको अथवा वर्णों का निर्माण करना पडेगा और तब हमारी वर्णमाला भी चीनी और जापानी की भाँति ही जटिल हो जायगी।

महर्षि पाणिनि ध्वनिग्राम से पूर्णतया परिचित थे और उन्होने चौदह माहेश्वर-सूत्रो के अन्तर्गत इन्हे बाँधा था।[1] यही बात ध्वनिशास्त्र (Phonetics) के सम्बन्ध मे भी है। पाणिनि ने अपने व्याकरण मे वर्णों के उच्चारण-स्थान, मात्राकाल, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि के सम्बन्ध मे भी विचार किया है। पदग्राम (Morpheme) का भी पाणिनि को ज्ञान था और शब्दो की विश्लेषणात्मक पद्धति के तो वे पूर्ण ज्ञाता थे। इसी प्रकार उन्होने जो परिभाषाएँ दी हैं, वे एक रूप से उदाहरणो मे लागू होती हैं और उनके अपवाद नहीं मिलते। सक्षेप मे भाषा के अध्ययन के लिए जिस प्रक्रिया को वर्णनात्मक भाषा-शास्त्री (Descriptive Linguists) बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण से अपनाने लगे हैं, वह पाणिनि को ईसा से ५०० वर्ष पूर्व ही ज्ञात थी। इस बात का अनुभव करके आज अमरीका का भाषाशास्त्री महर्षि पाणिनि के प्रति नतमस्तक हो जाता है और भावातिरेक से, उसके हृदय से श्रद्धासवलित उद्गार निकल पडते हैं। इस शताब्दी के महान् भाषाशास्त्री स्वर्गीय ब्लूमफील्ड ने अपनी पुस्तक मे कई स्थानो पर इस प्रकार के उद्गार प्रकट किए हैं। आप लिखते हैं—

(वास्तव मे) वह भारत देश था जहाँ ऐसे ज्ञान का उदय हुआ, जो यूरोप के लोगो की भाषा-सम्बन्धी विचारधारा मे क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित करनेवाला था। . . . जिस प्रकार आज हमारे देश मे विभिन्न वर्ग के लोगो

---

१ आधुनिक भाषाविद् 'ङ' को ध्वनिग्राम नहीं मानते। इनके अनुसार अनुरूपता (Symmetry) के लिए महर्षि ने इसे रखा है। —लेखक

की भाषा मे अन्तर है, उसी प्रकार (प्राचीन काल मे) हिन्दुओ मे भी विभिन्न सामाजिक स्तर के लोगो की भाषा मे अन्तर था। उस समय कुछ ऐसी परिस्थिति आ गई थी कि उच्चवर्ग के लोग निम्नवर्ग के लोगो की भाषा को अपनाने के लिए वाध्य हो रहे थे। ऐसी स्थिति मे हिन्दू वैयाकरणो का ध्यान वैदिक भाषा की ओर से उच्चवर्ग के लोगो की भाषा की ओर गया और वे उस भाषा के नियम-उपनियम वनाने मे प्रवृत्त हुए जिसे आज सस्कृत कहते है। समय की प्रगति से इस भाषा के व्यवस्थित व्याकरण एव कोश का निर्माण हुआ। (ऐसा प्रतीत होता है कि) पाणिनि के व्याकरण की रचना के पूर्व वैयाकरणो की कई पीढियाँ गुजर गई होगी। पाणिनि के व्याकरण की रचना ३५० ई० पूर्व—२५० ई० पू० मे हुई होगी। यह व्याकरण वस्तुत. मानव-ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है। इसमे वैयाकरण ने अपनी भाषा के शव्दरूपो, क्रियारूपो एव शव्द-निर्माण-सम्वन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म नियम दिये है। आज तक ससार की किसी भी भाषा का इतना पूर्ण विवरण उपलव्ध नही है। आगे चलकर, सस्कृत जो ब्राह्मण-सस्कृति से ओत-प्रोत भारत की, साहित्यक एव राज्य-भाषा वनी, उसका आशिक कारण पाणिनि का व्याकरण भी था। जव भारत मे सस्कृत किसी की मातृभाषा नही रह गई, उसके वहुत दिनो वाद तक (इसी व्याकरण के कारण) यह विद्वानो तथा धर्म की भाषा रही। ··यदि यूरोप के विद्वानो को सस्कृत के वर्णनात्मक व्याकरण की भाँति ही ग्रीक एवं लैटिन के व्याकरण उपलव्ध होते तो भारोपीय भाषाओ का तुलनात्मक अध्ययन आज की अपेक्षा कही अधिक तीव्रगति से एवं शुद्ध रूप मे होता।

अपने सन् १९४० के दिसम्वर के एक लेख मे, प्रसिद्ध भाषाशास्त्री स्वर्गीय श्री वेंजामिन ली हूर्फ, भाषाशास्त्र के विषय मे अपने विचार प्रकट करते हुए पाणिनि के सम्वन्ध मे लिखते हैं —

यद्यपि भाषाशास्त्र वहुत प्राचीन विज्ञान है तथापि इसका आधुनिक प्रयोगा-त्मक रूप, जो अलिखित भाषा के विश्लेषण पर जोर देता है, सर्वथा आधुनिक है। जहाँ तक हमे ज्ञात है, आज के रूप मे ही, ईसा से कई शताव्दी पूर्व, पाणिनि ने, इस विज्ञान का शिलान्यास किया था। पाणिनि ने उस युग मे वह ज्ञान प्राप्त कर लिया था, जो हमे आज उपलव्ध हुआ है। (सस्कृत) भाषा के वर्णन अथवा सस्कृत भाषा को नियमवद्ध करने के लिए पाणिनि के सूत्र वीजगणित के जटिल सूत्रो (फार्मूलो) की भाँति है। ग्रीक लोगो ने वस्तुत इस विज्ञान (भाषाशास्त्र) की अवोगति कर रखी थी। इनकी कृतियो से ज्ञात होता है कि वैज्ञानिक विचारक के रूप मे, हिन्दुओ के मुकावले मे, ये (ग्रीक लोग) कितने अधिक निम्नस्तर के थे। (सच तो यह है कि) उनकी

पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि

●

पाणिनि, कात्यायन तथा पतजलि इन तीनो को सस्कृत व्याकरण के मुनित्रय के नाम से अभिहित किया जाता है; यहाँ इन तीनो के सम्बन्ध मे सक्षेप मे विचार किया जाता है ।

पाणिनि का जीवन तथा स्थिति-काल

लौकिक सस्कृत भाषा की भागीरथी को भारत की पुण्यभूमि मे प्रवाहित करनेवाले, पाणिनि का नाम सस्कृत साहित्य मे सदैव अमर रहेगा । उनके समय के सम्बन्ध मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है । युधिष्ठिर मीमासक एक ओर जहाँ उनका समय विक्रम सवत् पूर्व अट्ठाइस सौ वर्ष मानते हैं वहाँ, प० सत्यव्रतसामाश्रमी उनका समय ईसा पूर्व चौबीस सौ वर्ष स्थिर करने के पक्ष मे हैं । वेवर तथा मैक्समूलर के अनुसार पाणिनि ईसा पूर्व ३५० मे वर्तमान थे । किन्तु डा० गोर्डस्कूटर एव भण्डारकर उनका समय ईसा पूर्व पाँच सौ निर्धारित करते हैं । सत्य तो यह है कि जब तक वैदिक साहित्य के विभिन्न स्तरो का समय निर्धारित न हो जाय, तब तक पाणिनि के स्थितिकाल के विषय मे अन्तिम निर्णय देना कठिन है ।

श्री पुरुषोत्तम देव ने, अपने "त्रिकाण्ड शेष कोश" मे पाणिनि के छह नामो का उल्लेख किया है यथा—१. पाणिनि, २. पाणिन, ३ दाक्षीपुत्र, ४. शालकि, ५-शालातुरीय तथा ६. आहिक । इनमे से पाणिनि नाम ही लोक-प्रसिद्ध है । दाक्षीपुत्र नाम सज्ञा के विषय मे यह तथ्य ज्ञातव्य है कि इनकी माता का नाम दाक्षी था । प्राचीन काल मे माता के नाम मे पुत्र शब्द सयुक्त कर नामकरण की प्रथा प्रचलित थी, यथा सारिपुत्र । शालातुरीय नाम देश-परक है । विद्वानो के अनुसार वे पश्चिमी पजाब के अटक जिले (अब पाकिस्तान) के वर्तमान लाहुर ग्राम मे आविर्भूत हुए थे । इस लाहुर का ही प्राचीन नाम शालातुर था । यह ग्राम वस्तुत पाणिनि का अभिजन था । यहाँ अभिजन और निवास के भी अन्तर को जान लेना आवश्यक है । अभिजन का तात्पर्य है पूर्वजो का निवास-स्थान, निवास से अपने वासस्थान का बोध होता है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनि के पूर्वज शालातुर ग्राम मे बसते थे । किन्तु पाणिनि कही अन्यत्र रहने लगे थे ।

पचतत्र के एक कथानक के अनुसार पाणिनि की मृत्यु सिंह के द्वारा हुई थी[1]। वैयाकरणो मे यह किंवदन्ती है कि यह घटना त्रयोदशी को घटित हुई थी। मास और पक्ष का निश्चय न होने से पाणिनि-वैयाकरण त्रयोदशी को आज भी अनध्याय करते हैं। यह परिपाटी काशी मे आज भी प्रचलित है।

पाणिनीय अष्टाध्यायी के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनि केवल शब्द-शास्त्र के ज्ञाता ही नही थे, अपितु समस्त प्राचीन वाड्मय उनके लिए हस्तामलकवत् था। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त भूगोल, इतिहास, मुद्रा-शास्त्र एव लोकव्यवहार का उन्हे अद्वितीय ज्ञान था। महाभाष्यकार पतजलि उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए लिखते है—

"दर्भ से पवित्रपाणि होकर आचार्य ने, शुद्ध एकान्त स्थान मे, पूर्वाभिमुख बैठकर एकाग्र चित्त होकर, अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक सूत्रो की रचना की है, अत उनमे एक वर्ण भी व्यर्थ नही हो सकता। इतने बडे सूत्र के व्यर्थ होने की आशका ही नही करनी चाहिए।"

प्रसिद्ध वैयाकरण जयादित्य उद्गार प्रकट करते हुए लिखते है —"सूत्रकार की दृष्टि बडी सूक्ष्म है। वे साधारण स्वर की भी उपेक्षा नही कर सकते।" पातजल महाभाष्य मे ज्ञात होता है कि "कौत्स" पाणिनि के विशिष्ट शिष्य थे। पाणिनि के अन्य व्याकरण-ग्रन्थ, धातु-पाठ, गण-पाठ, उणादि-सूत्र, लिंगानु-शासन बताये जाते है। उणादि पाठ कात्यायन-प्रणीत प्रतीत होता है। अष्टाध्यायी की वृत्ति स्वय पाणिनि के प्रवचनो का प्रतिरूप है। पाताल-विजय अथवा जाम्बवती-विजय नामक महाकाव्य के रचनाकार के रूप मे भी पाणिनि की ख्याति है। यद्यपि यह अभी भी विवाद का विषय है। द्विरूप कोश, उनका एक कोश-ग्रन्थ बताया जाता है।

अष्टाध्यायी की रूपरेखा

पाणिनि के ग्रन्थ का नाम अष्टाध्यायी है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, इसमे आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय के चार छोटे भाग है जिन्हे "पाद" कहते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अष्टाध्यायी मे ३२ 'पाद' है। प्रत्येक 'पाद' मे जो व्याकरण-सम्बन्धी नियम हैं उन्हे सूत्र कहते हैं। सूत्रो को किस प्रकार सक्षिप्त बनाया जाय, और उनकी स्पष्टता भी बनी रहे, इसके लिए पाणिनि ने कुछ नियम बना लिये थे जिनका उन्होने अष्टाध्यायी मे उल्लेख किया है।

पाणिनि ने अनुवृत्ति के द्वारा पूर्व के सूत्रो मे प्रयुक्त शब्दो को बाद मे आनेवाले सूत्रो मे पुनरावृत्ति से बचाया है। इसी प्रकार अष्टाध्यायी मे उन्होने सूत्रो को इस क्रम से सजाया है कि यदि किसी शब्द की सिद्धि मे दो

सूत्रों का समान रूप से व्यवहार आवश्यक प्रतीत होता हो तो 'पूर्वत्रासिद्धम्' के अनुसार, पूर्व वाला सूत्र ही व्यवहार्य होता है। पाणिनीय सूत्रो की रचना-शैली इतनी सक्षिप्त है कि बाद के वैयाकरणो ने यहाँ तक लिख डाला कि यदि सूत्र के शब्दों मे, आधी मात्रा अर्थात् एक व्यजन की कमी हो जाये और अर्थ मे व्यत्यय न हो, तो सूत्र रचनेवाले को, पुत्रोत्पन्न होने के समान आनन्द होता है। "अर्धमात्रा लाघवेन वैयाकरणा पुत्रोत्सव मन्यन्ते"। पाणिनि के सूत्रो के विषय मे यह उल्लेखनीय है कि सक्षिप्त होते हुए भी उन्हे क्लिष्ट या दुरुह नही कहा जा सकता। इस सम्बन्ध मे वास्तविक बात तो यह है कि यदि सूत्रों के अर्थ करने की शैली को, थोडे अभ्यास से समझ लिया जाये तो सस्कृत भाषा के नियम सूत्रो की सहायता से शीघ्रता से बोधगम्य हो जाते हैं। पाणिनि के अष्टाध्यायी मे कुल ३९९५ सूत्र हैं। पाणिनि व्याकरण की सबसे बडी विशेषता यह है कि उन्होने धातुओ से शब्द-निर्माण की प्रक्रिया को स्वीकार किया है। इसके लिए उन्होने उस समय की भाषा मे प्रचलित धातुओ का एक बृहत् सकलन किया है, जो पाणिनीय धातु पाठ के नाम से अभिहित किया जाता है। इसमे १९४३ धातुएँ हैं। इसकी एक यह भी विशेषता है कि इसमे उदीच्य, प्रतीच्य और प्राच्य चारो ओर प्रचलित सस्कृत भाषा की विभिन्न धातुएँ समाहित है। पाणिनि के सम्बन्ध मे यह बात भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन वैयाकरणो मे, जहाँ विवाद या अलग-अलग मतो का आग्रह था, वहाँ आचार्य ने दोनो मतो मे समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है।

उदाहरणार्थ, 'उणादि' प्रत्यय आवश्यक है अथवा नही, इस बात को लेकर वैयाकरणो मे पर्याप्त मतभेद है। प्रसिद्ध वैयाकरण शाकटायन का यह स्पष्ट मत था, कि धातु मे उणादि प्रत्यय जोडकर, सज्ञा शब्द सिद्ध किए जा सकते है। सम्प्रति जो उणादि सूत्र उपलब्ध हैं, उनके प्रणेता, सम्भवत शाकटायन अथवा उनके मतानुयायी थे। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी मे अलग से कोई 'उणादि' पाठ नही बनाया, किन्तु उन्हे यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि कुछ शब्दों की सिद्धि उणादि प्रत्ययो द्वारा की जा सकती है। अतएव उन्होने "उणादयो बहुलम्" ३।३।१ सूत्र लिखकर, उणादि शैली से शब्द सिद्ध करने की प्रक्रिया पर अपनी स्वीकृति दी तथा 'बहुलम्' कहकर यह छूट भी दी कि इस दिशा मे यथेच्छ व्यवहार हो सकता है।

पाणिनि के विराट व्यक्तित्व के प्रभाव मे, उनके समकालीन तथा परवर्ती अनेक उद्भट वैयाकरणो का अस्तित्व क्षीण-प्रभ रह गया। आज भी सस्कृत वाङ्मय के इने-गिने आचार्यों के बीच उनका महत्त्व ध्रुवतारे की तरह स्थायी है।

अष्टाध्यायी के वार्तिककार

पाणिनि कृत अष्टाध्यायी पर अनेक आचार्यों ने वार्तिक पाठ का प्रणयन किया, किन्तु इनके ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है। महाभाष्य मे निम्नलिखित वार्तिककारो के नामो का उल्लेख मिलता है—

१. कात्य या कात्यायन

२. भारद्वाज

३. सुनाग

४. क्रोष्टा

५ वाडव

इनके अतिरिक्त महाभाष्य की टीकाओ मे दो नाम और मिलते हैं। वे है —

६ व्याघ्रभूति

७. वैयाघ्रपाद

कई वैयाकरणो ने तो वार्तिककार के लिए वाक्यकार शब्द का प्रयोग किया है। एक ने तो उन्हे पदकार की भी सज्ञा दी है। किन्तु पदकार वास्तव मे भाष्यकार महर्षि पतजलि के लिए प्रत्युक्त होता है। वार्तिक का लक्षण है—

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते ।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ॥

अर्थात् जिस ग्रन्थ मे सूत्रकार द्वारा उक्त, अनुक्त और दुरुक्त विषयो पर विचार किया गया हो, उसे विद्वानो ने वार्तिक की सज्ञा दी है।

वार्तिककारो मे कात्यायन का नाम सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, अतएव यहाँ उनके सम्बन्ध मे विचार किया जाता है।

कात्यायन

प्रसिद्ध वार्तिककार कात्यायन के अन्य नाम पुनर्वसु, मेधाजित् और वररुचि भी मिलते है। पडित युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार याज्ञवल्क्य के पौत्र कात्यायन के पुत्र, "वररुचि कात्यायन" ही अष्टाध्यायी के वार्तिककार हैं।

पाश्चात्य पण्डितो के अनुसार कात्यायन का समय, ईसा से ५०० वर्ष पूर्व से ३५० वर्ष पूर्व के बीच मे है। किन्तु युधिष्ठिर मीमासक इनका समय विक्रम पूर्व २७०० वर्ष मानते है।

महाभाष्य से यह सूचना मिलती है—

"प्रियतद्धिता दाक्षिणात्या. यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्यं लौकिकेषु वैदिकेषु प्रयुज्यते ।"

इससे ज्ञात होता है कि कात्यायन दाक्षिणात्य थे । पतजलि ने कात्यायन के लिए "भगवान्" शब्द का प्रयोग किया है, "प्रोवाच भगवास्तु कात्य." जो, स्वत. प्रमाण है कि कात्यायन ने अपने युग मे अपूर्व ख्याति अर्जित कर ली थी ।

कात्यायन-कृत वार्तिक

कात्यायन विरचित वार्तिको की सख्या डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार लगभग सवा चार हजार है। डा० अग्रवाल ने 'पाणिनि परिचय' नामक अपनी कृति मे लिखा है कि कात्यायन के बारे मे यह बात गढ ली गई है कि वे पाणिनि के यश से कुढते थे, और उन्होने वक्रदृष्टि से सूत्रो मे त्रुटि निकालने के लिए वार्त्तिक बनाए । कहाँ पाणिनीय-व्याकरण के सूत्रो के सम्बन्ध मे इतना महान् परिश्रम और कहाँ उन पर यह लाछन ! सच तो यह है कि कात्यायन ने वार्तिक रचकर पाणिनीय शास्त्र को अत्यधिक निखार दिया है । जहाँ तक वार्तिको का सम्बन्ध है, उन्होने एक-एक शब्द अलग करके उसका अर्थ समझाया है। इस सरल शैली का नाम चूर्णि है।

डा० वेलवेलकर ने उचित ही कहा है कि कात्यायन के वार्तिक का लक्ष्य पाणिनि के सूत्रो मे सशोधन और परिवर्धन है। इतना ही नही, कात्यायन पाणिनीय शास्त्र के अभावो के अनुपूरक है । यथार्थ तो यह है कि कात्यायन-विरचित वार्तिक पाणिनीय व्याकरण के ऐसे आवश्यक अग है जिनके अभाव मे पाणिनि की शब्द-सिद्धि अपूर्ण ही कही जाएगी ।

भाष्यकार पतंजलि

पाणिनीय व्याकरण पर महाभाष्य की रचना करके पतजलि ने अक्षय कीर्ति अर्जित की है। यह परम आश्चर्य की बात है कि उन्होने महाभाष्य जैसी अपनी विशालतम कृति मे आत्म-प्रकाशन नही किया। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि पतंजलि की जन्मभूमि कश्मीर थी । महाभाष्य ३।२।१२३ से ज्ञात होता है कि वे बहुधा पाटलिपुत्र मे निवास करते थे । महाभाष्य के अन्तर्साक्ष्य के कतिपय स्थल प्रमाणित करते है कि वे मथुरा, साकेत, कौशाम्बी, आदि स्थानो से भलीभाँति परिचित थे ।

विभिन्न ग्रन्थो मे पतजलि के गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, नागनाथ, अहिपति, फणिभृत, चूर्णिकार और पदकार नाम मिलते है । पतजलि के गोनर्दीय और गोणिकापुत्र नामकरण के सम्बन्ध मे डा० राजेन्द्रलाल मित्र तथा डा० किल्हार्न

का विचार है कि ये नाम भिन्न ख्यातिलब्ध लेखकों के हैं—जिन्हें कि वात्सायन ने अपने कामसूत्र में स्मरण किया है। युधिष्ठिर मीमांसक भी इसी आशय का समर्थन करते हैं।

कैयट—महाभाष्य ४।२।९३ की व्याख्या में पतंजलि के लिए "नागनाथ" चक्रपाणि—'चरक टीका' में अहिपति, भोजराज अपनी योग-सूत्र-वृत्ति में 'फणिभृत' तथा भर्तृहरि महाभाष्य दीपिका में "चूर्णिकाकार" नामों से पतंजलि के प्रति श्रद्धा ज्ञापित करते हैं।

पतंजलि का समय निरूपण करनेवाले विद्वानों, विशेषकर बेलवेलकर के अनुसार पतंजलि ईस्वी पूर्व-१५० के लगभग विद्यमान थे। अपने मत की पुष्टि में वे पतंजलि की रचना के निम्नलिखित अन्तर्साक्ष्य उपस्थित करते हैं—

१ इह पुष्यमित्र याजयाम (मैं पुष्यमित्र का यज्ञ कराता हूँ।) इससे ज्ञात होता है कि पतंजलि पुष्यमित्रों के अश्वमेध यज्ञ के ऋत्विक् रहे।

२ "अरुणद्यवन साकेतम्" तथा "अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्"—इन पंक्तियों से मिनाण्डर नामक यवन सैनिक द्वारा साकेत राज्य पर आक्रमण किए जाने की सूचना मिलती है। पुष्यमित्र राजा का उल्लेख पतंजलि को उनका समकालीन सिद्ध करता है। पाश्चात्य तथा कतिपय भारतीय इतिहासविद् पुष्यमित्र का राज्य काल-ईस्वी पूर्व १५० स्वीकार करने के पक्ष में है, किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक इस विषय में उनसे विमत हैं। आपकी धारणा है कि पुष्यमित्र का काल भारतीय पौराणिक कालगणनानुसार विक्रम से लगभग १२०० वर्ष पूर्व है। अधिकांश विद्वान् पतंजलि का काल ईसा पूर्व १५० ही मानते हैं।

पतंजलि प्रणीत महाभाष्य का महत्त्व

सरल, सुबोध, सुस्पष्ट और वार्ता पद्धति पर आधारित, महाभाष्य की रचना करनेवाले पतंजलि, शैली की दृष्टि से अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। उनके महाभाष्य से यह सिद्ध होता है कि उनके युग में जन-साधारण से लेकर शिष्ट वर्ग तक, संस्कृत भाषा को व्यवहार की भाषा के रूप में व्यवहृत करता था। संस्कृत-साहित्य के आनन्द-सिन्धु में अवगाहन करनेवाले प्रबुद्ध पाठक यह स्वीकार करेंगे कि पतंजलि और आदि शंकराचार्य ये दो ही ऐसी विभूतियाँ हैं, जिनकी कृतियाँ अपनी मौलिक शैलियों में अध्येताओं की कण्ठहार हैं।

पतंजलि महाभाष्य अपने विराट रूप में सिन्धु के समान है, जिसमें व्याकरण-सम्बन्धी अन्य रचनाओं की सरिताएँ समाहित देखी जा सकती हैं। पतंजलि के ग्रन्थ का यथार्थ मूल्यांकन तो भर्तृहरि के इन शब्दों में ही दिखाई देता है—

कृतेऽथ पतंजलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना ।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निवन्धने ।।
(वाक्यपदीय, २।४८६)

पतजलि महाभाष्य के रचना-विधान और उसकी ललित-शैली का परिचायक एक प्रसग सवाद के रूप मे उदाहृत है, जो सूत्र ६।३।१०९ तथा सूत्र २।४।५६ से सम्बन्धित है —

'प्राजिता' (चलानेवाला) शब्द की व्युत्पत्ति की शुद्धि को लेकर वैयाकरण तथा एक सारथी मे जो वाद-विवाद हुआ, वह महाभाष्य की मनोरजक शैली मे इस प्रकार है—

वैयाकरण ने पूछा—इस रथ का प्रवेता कौन है ?

सूत का उत्तर— आयुष्मान, मैं इस रथ का 'प्राजिता' हूँ (चलानेवाला हूँ)।

वैयाकरण— "प्राजिता" अपशब्द है ।

सूत—(देवानां प्रिय) महाशय जी, आप केवल "प्राप्तिज्ञ है, 'इष्टिज्ञ' (प्रयोग के ज्ञाता) नही ।

वैयाकरण—ओह ! यह दुष्ट सूत (दुरुत) हमे कष्ट पहुँचा रहा है ।

सूत–आपका 'दुरुत' प्रयोग उचित नही है। 'सूत' शब्द-सू (प्रसव, उत्पन्न करना) धातु से निर्मित है। 'वेञ्' धातु विनना से नही । अतएव यदि आप निन्दा ही करना चाहते हैं, तो 'दु सूत' शब्द का प्रयोग करें।

महाभाष्य का लोप और पुनरुद्धार

भर्तृहरि के वाक्यपदीय के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि पतंजलि की महान् कृति पहली वार "वैजि सौभव" और "हर्यक्ष" सदृश शुष्क तार्किको के प्रकोप से नष्ट हुई थी और तब दक्षिण के किसी पर्वतीय क्षेत्र से प्राप्त हस्तलेख की सहायता से चन्द्राचार्य ने इसका पुनरुद्धार किया था ।

कश्मीरी कवि कल्हण की 'राजतरगिणी' मे प्राप्त प्रसग से विदित होता है कि विक्रमाब्द ८वी शताब्दी मे कश्मीर के महाराज जयापीड के समय लुप्त महाभाष्य का पुनरुद्धार, 'क्षीर' नामक शब्द-विद्योपाध्याय द्वारा सम्पूर्ण हुआ था । इधर दो ढाई सौ वर्ष पूर्व महाभाष्य की अध्ययन-प्रणाली पुन. विच्छिन्न-सी हो गई थी। परन्तु कुछ ही काल मे, पाणिनि-व्याकरण के स्पष्ट समझने मे महाभाष्य के योगदान को स्वीकार करके विद्वानो ने इसके अध्ययन-अध्यापन की पुनर्व्यवस्था की, जिसका परिणाम यह हुआ कि आज

संस्कृत-व्याकरण की सर्वोच्च परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी इसे स्थान प्राप्त हुआ।

व्याकरण के क्षेत्र में पतजलि—'यथोत्तर-मुनीना प्रामाण्यम्" के प्रतिष्ठापक हैं, वे पाणिनी के व्याख्याता मात्र ही नहीं, अपितु स्वय मनस्वी चिन्तक भी हैं।

पतजलि के महाभाष्य में उनके युग की समस्त परिस्थितियो का प्रतिविम्ब प्राप्त होता है। महाभाष्य में उन्होंने, काठक, कालापक, मौदक, पैप्पलाद और अथर्वण सज्ञक प्राचीन धर्म-सूत्रो का उल्लेख किया है। पतजलि साख्य, न्याय, काव्य आदि विषयो मे भी अद्भुत ज्ञान रखते थे। साख्य-प्रवचन, सामवेदीय-निदान सूत्र, 'छदोविचिति' आदि ग्रन्थ भी उनके द्वारा विरचित वताये जाते हैं। उनके 'महाभाष्य' पर निम्नलिखित प्रसिद्ध टीकाएँ उपलब्ध हैं—

१. भर्तृहरि (विक्रम पूर्व ४५०) महाभाष्यदीपिका
२. कैयट-महाभाष्य प्रदीप—(११०० ई० के आसपास)
३. मैत्रेय रक्षित (१२वी शती) धातु प्रदीप
४. पुरुषोत्तमदेव (१२वी शती) प्राण पणित
५. शेषनारायण (१६वी शती) सूक्ति रत्नाकर
६. विष्णुमित्र (१६वी शती) महाभाष्य टिप्पण
७. नीलकण्ठ (१७वी शती) भाषा तत्त्व विवेक
८. शिवरामेन्द्र सरस्वती (१७वी शती) महाभाष्य रत्नाकर
९ शेषविष्णु (१७वी शती) महाभाष्य प्रकाशिका

•

पालि वाङ्मय

बुद्ध के समस्त उपदेश मौखिक ही थे। उनके शिष्य उन्हें कठस्थ कर लेते थे। इन्ही उपदेशों का सकलन 'तेपिटक' [स० त्रिपिटक] के नाम से विख्यात है जिसके अन्तर्गत 'सुत्त' 'विनय' तथा 'अभिधम्म' पिटक आते हैं। त्रिपिटक की भाषा पालि है। ये सीलोन (लका) के थेर [स्थविर] वादियो के मुख्य ग्रथ हैं। परम्परा के अनुसार इनका सकलन तथा सगायन, भगवान् बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् ईसा के ४८३ वर्ष पूर्व, राजगृह [राजगृह) की प्रथम सगीति (सभा) मे महाकस्सप [महाकश्यप] के अधिनायकत्व मे हुआ था। वैशाली-निवासी वज्जिपुत्तक [वृजिपुत्र] भिक्षुओ ने विनय के विरुद्ध आचरण आरम्भ किया, अतएव व्यवस्था के लिए प्रथम सगीति के सौ वर्ष बाद ही वैशाली मे दूसरी सगीति हुई, जिसमे महास्थविर रेवत तथा सर्वकामी मुख्य थे। तीसरी सगीति अशोक [ईस्वी पूर्व २६४–२२७] की प्रेरणा से हुई, जिसमे 'पिटको' को एक प्रकार से अन्तिम रूप मिला। इस सगीति मे ही 'सुत्तपिटक' के उपदिष्ट सिद्धान्तो के आधार पर 'अभिधम्म' [अभिधर्म] पिटक अस्तित्व मे आया तथा अशोक के गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्स ने 'कथावत्थुप्पकरण' का संगायन किया। तिस्स ने बौद्ध सघ मे प्रविष्ट अनेक भ्रान्त-धारणाओ का भी निराकरण किया। यह तीसरी सगीति इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि इसके प्रस्तावानुसार बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए अनेक प्रचारक पडोस के देशो मे भेजे गए। परम्परा के अनुसार अशोक-पुत्र महिन्द [महेन्द्र] को धर्म-प्रचरार्थ सीलोन (लका) जाना पडा था। वही अपने साथ त्रिपिटक भी ले गये थे।

दीर्घकाल तक, सीलोन मे, त्रिपिटक की मौखिक परम्परा ही चलती रही, किन्तु दीपवस तथा महावस के अनुसार वट्टगामिनी के राजत्वकाल [ईस्वी पूर्व २९–१) मे 'अट्ठ [अर्थ] कथाओ' सहित उसे लिपिबद्ध किया गया। समस्त त्रिपिटक मूल बुद्ध-वचन ही है, इसमे विद्वानो मे मतभेद है। इसमे कुछ गाथाओं के प्रक्षिप्त होने की बात तो पुराने आचार्यो ने भी स्वीकार की है।[1] किन्तु इसमे तनिक भी सन्देह नही कि इनमे मूल बुद्ध-वचन पूर्णरूप से सुरक्षित

---

१. महावग्ग महाक्खन्धक की 'अट्ठकथा' मे 'नेरंजरायं भगवा' आदि गाथाओं को 'पच्छापक्खित्ता' (पीछे डाली गई) कहा गया है।

है। सूत्रों की शैली अत्यधिक सजीव है तथा प्रत्येक सूत्र के आरम्भ में उस स्थान का नाम भी है, जहाँ भगवान् ने उसका उपदेश किया, यथा—"एक समय भगवा सावत्थियं विहरति जेतवने अनाथपिण्डिकस्स आरामे"—अर्थात् 'एक समय भगवान् बुद्ध, श्रावस्ती में, अनाथपिण्डिक के आराम, जेतवन में, विहार करते थे।' धर्मोपदेश आरम्भ करने के पूर्व, इस बात का विस्तार-सहित वर्णन रहता है कि किस अवसर पर किस सम्बन्ध में वह उपदेश दिया गया था। उपदेश के अवसर पर जो प्रश्नोत्तर होते थे, उनका भी पूरा-पूरा वर्णन मिलता है। उपदेश के अन्त में श्रद्धा से गद्‌गद होकर श्रावकगण जो सन्तोष प्रकट करते थे, उसके सम्बन्ध में भी सूत्रों में सुन्दर वाक्य आते हैं, यथा—

"अभिकन्तं भो गोतम, अभिकन्तं भो गोतम, सेय्यथापि भो गोतम, निक्कुज्जितं वा उक्कुज्जेय्य, पटिच्छन्नं वा विवरेय्य, मूळ्हस्स वा मग्गं आचिक्खेय्य, अन्धकारे वा तेलपज्जोतं धारेय्य, चक्खुमन्तो रूपानि दक्खिन्तीति... ..।"

अर्थात्—हे गौतम! आपने सुन्दर कहा। जैसे उलटे को सीधा कर दे, ढके को खोल दे, भटके को राह दिखा दे, अन्धकार में तेल का दीपक जला दे, जिससे आँखवाले रूपों को देख लें।

कतिपय सूत्रों में ऐसा भी आता है—"इदमवोच भगवा। अत्तमना ते भिक्खू भगवतो भासितं अभिनन्दुन्ति।" अर्थात्—भगवान् ने यह कहा। संतुष्ट होकर उन भिक्षुओं ने भगवान् के कथन का अभिनन्दन किया।

साधारणतः सभी सूत्र गद्य में ही हैं, किन्तु बीच-बीच में गाथाएँ भी आती हैं। कितने सूत्र तो पद्य में ही हैं। भाषा अत्यन्त ओजपूर्ण है। 'धम्मचक्कपवत्तन सुत्त' में भोगवाद की निन्दा करते हुए भगवान् बुद्ध कहते हैं—

"... यो चायं भिक्खवे! कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो, गम्मो, पोथुज्जनिको, अनरियो, अनत्थ-संहितो ...।" अर्थात्—भिक्षुओ! जो यह "खाओ पीओ—मौज करो" का सिद्धान्त है, वह दीन है, ग्राम्य है, अनार्य है, अनर्थकर है ...।

सतिपट्ठान सुत्त उपदेश करते हुए भगवान् कहते हैं—"एकायनो अयं भिक्खवे मग्गो, सत्तानं विसुद्धिया, सोकपरिद्दवानं समतिक्कमाय, दुक्खदोमनस्सानं अत्थङ्गमाय, ञाणस्स अधिगमाय, निब्बाणस्स सच्छिकिरियाय, यदिदं चत्तारो सतिपट्ठाना।"

अर्थात्, भिक्षुओ! यही अकेला एक मार्ग है—जीवों की विशुद्धि के लिए, शोक तथा व्याकुलता के समतिक्रमण के लिए, दुःख और दौर्मनस्य को अस्त करने के लिए, ज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा निर्वाण के साक्षात्कार करने के लिए—जो यह चार स्मृति उपस्थान हैं।

१. सुत्तपिटक

त्रिपिटक का सामान्य परिचय ऊपर दिया जा चुका है। अव प्रत्येक पिटक के सम्वन्ध मे विवरण यहाँ दिया जाता है। सुत्त (स० सूत्र) पिटक मे साधारण वातचीत के ढग पर दिए गए भगवान् बुद्ध के उपदेशो का सग्रह किया गया है। इसमे सारिपुत्त तथा मोग्गल्लान[1] आदि द्वारा भी उपदिष्ट कतिपय सूत्र सम्मिलित कर लिए गये हैं जिनका अनुमोदन भगवान् ने अन्त मे कर दिया है। सुत्तपिटक के अन्तर्गत निम्नलिखित पाँच निकाय हैं—१ .दीघनिकाय, २. मज्झिम-निकाय, ३. सयुक्तनिकाय, ४. अगुत्तरनिकाय, ५ खुद्दकनिकाय। खुद्दक-निकाय मे पन्द्रह ग्रन्थ हैं :—१. खुद्दक पाठ २. धम्मपद, ३. उदान, ४. इतिवुत्तक, ५. सुत्तनिपात, ६. विमानवत्थु, ७. पेतवत्थु, ८. थेरगाथा, ९. थेरीगाथा, १०. जातक, ११. निद्देस, १२. पटिसम्भिदामग्ग, १३. अपदान, १४. वुद्धवस, १५ चरियापिटक।

सुत्तपिटक के ग्रन्थों को पाँच निकायो मे विभक्त करने मे सूत्रो के विषय का नही, अपितु उनके आकार-प्रकार का विचार किया गया है। लम्वे-लम्वे सूत्रो का सग्रह करके उसका नाम 'दीघनिकाय' रखा गया। 'दीघनिकाय' का 'ब्रह्मजाल-सुत्त' 'सयुक्त-निकाय' मे भी उद्‌धृत किया गया है। पालि के प्रसिद्ध विद्वान् आर० ओ० फ्राके ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'दीघ-निकाय' एक क्रमवद्ध साहित्यिक रचना है; किन्तु अन्य विद्वान् आपके इस मत से सहमत नही है। बात यह है कि 'दीघनिकाय" के सुत्तो मे भी कही-कही विपरीत विचार धाराएँ मिलती हैं। यदि किसी साहित्यिक ने इसका सम्पादन किया होता तो ऐसा न होता। इस निकाय का सोलहवाँ—महा-परिनिब्बान [महापरिनिर्वाण]—सुत्त अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योकि इसमे भगवान् बुद्ध के जीवन के अन्तिम दिनो की घटनाओ का सुन्दर चित्रण है। 'दीघ निकाय' मे कुल ३४ सूत्र हैं जो तीन वग्गो [वर्गों] मे विभाजित हैं। ये हैं क्रमश: 'सीलक्खन्धवग्ग', 'महावग्ग' तथा 'पाटिक वग्ग'।

'मज्झिमनिकाय' मे मध्यम आकार के सूत्रो का सग्रह है। इसके कतिपय सुत्त, यथा 'रट्ठपाल' [८२ वाँ], 'मखादेव' [८३वाँ] तथा 'अस्सलायण' [९३ वाँ] अत्यन्त सुन्दर हैं। मज्झिमनिकाय मे कुल १५२ सुत्त हैं जो तीन

---

१. सारिपुत्त तथा मोग्गल्लान भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्यों मे से थे। बिहार स्थित प्राचीन नालन्द विश्वविद्यालय के निकट ही इनकी जन्मभूमि थी। निर्वाण के पश्चात् इनकी पवित्र धातु (अस्थियाँ) साँची के स्तूप में रखी गई थीं।

भागो मे विभक्त है। प्रथम भाग, 'मूलपण्णासक' मे ५० सुत्त, द्वितीय भाग 'मज्झिमपण्णासक' मे ५० सुत्त तथा तृतीय भाग 'उपरिपण्णसक' मे ५२ सुत्त हैं।

'संयुक्त' तथा 'अगुत्तर' निकाय वस्तुत. अन्य निकायो के पूरक रूप हैं। ये दोनो दीर्घ तथा मज्झिम निकाय से वडे है। 'सयुक्तनिकाय' मे छोटे-वडे, दोनो प्रकार के सुत्तो का सग्रह किया गया है। इसमे पाँच वर्ग हैं—१—सगाथ वर्ग, २—निदानवर्ग, ३—स्कन्धवर्ग, ४—षडायतनवर्ग, ५—महावर्ग। इस निकाय के भीतर वर्गों का विभाजन विषय की दृष्टि से किया गया है। अन्य निकायो मे भागो अथवा वर्गों का विभाजन विषय की दृष्टि से नही, अपितु आकार की दृष्टि से किया गया है। सयुक्त-निकाय का सर्वाधिक प्रसिद्ध सुत्त "धम्मचक्क पवत्तन" है। सम्यक् सम्बुद्ध होने के पश्चात् भगवान् बुद्ध का यह प्रथम उपदेश है। इस निकाय मे सयुक्तो की सख्या ५६ तथा सुत्तो की सख्या २८८९ है।

'अगुत्तरनिकाय' मे एकक निपात, द्विक निपात, तिक निपात आदि ग्यारह निपात है। एक-एक धर्म वतलानेवाले सूत्र 'एकक निपात' मे, दो-दो धर्म वतलानेवाले सूत्र 'द्विक निपात' मे तथा ग्यारह-ग्यारह धर्म वतलानेवाले सूत्र 'एकादस निपात' मे है। यथा :—

एकक निपात—"नाहं भिक्खवे अञ्ञ एक धम्मम्पि समनुपस्सामि, यो एव महतो अनत्थाय सवत्तति, यदिद भिक्खवे पापमित्तता। पापमित्तता भिक्खवे महतो अनत्थाय सवत्तति।"

अर्थात्—भिक्षुओ! मैं किसी भी अन्य वस्तु को नही देखता हूँ, जो इतनी अनर्थकारी हो जितनी 'पापमित्रता'। भिक्षुओ! पापमित्रता महान् अनर्थकारी है।

द्विक निपात—"द्वे मे भिक्खवे, असनिया फलन्तिया न सन्तसन्ति। कतमे द्वे? भिक्खू च खीणासवो, सीहो च मिगराजा। इमे खो भिखवे, द्वे असनिया फलन्तिया न सन्त-सन्तीति।"

अर्थात्—भिक्षुओ। विजली कडकने पर दो ही प्राणी चौंक नही पडते हैं। कौन से दो? क्षीणाश्रव भिक्षु और मृगराज सिंह। भिक्षुओ! यही दो विजली कडकने पर चौंक नही पडते।

'खुद्दकनिकाय' छोटे-छोटे सूत्रो का सग्रह है। इसमे विभिन्न आकार-प्रकार के ग्रन्थो का समावेश है। इन ग्रन्थो के सम्बन्ध मे भी सीलोन, वर्मा तथा स्याम के बौद्ध एकमत नही हैं। इसके अन्तर्गत ऊपर जो १५ ग्रन्थो की सूची दी गई है, वह सीलोन के बौद्धो के अनुसार है। यहाँ इन १५ ग्रन्थो के सम्बन्ध

मे विवरण दिया जाता है। १—'खुद्दक पाठ' मे ९ सुत्त हैं। लोग इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं। इसके ५, ६ तथा ९वे ['मंगल', 'रतन' तथा 'मेत्त'] सुत्त 'सुत्तनिपात' मे भी मिलते है। इसका, ७वाँ 'तिरोकुड्डसुत्त' प्रेतो के सम्बन्ध मे है, जिसके पद सीलोन तथा वर्मा मे मृतक के दाह-संस्कार के समय पढे जाते है।

२. 'धम्मपद' मे ४२३ प्रसिद्ध गाथाओ का सग्रह किया गया है। यह विषयानुसार २६ वग्गो [वर्गो] मे विभक्त है। गीता की भाँति ही बौद्ध देशो मे "धम्मपद" का भी प्रचार है। ससार की प्राय. सभी प्रसिद्ध भाषाओं में इसका अनुवाद भी हो चुका है। इसकी आधी से अधिक गाथाएँ तो त्रिपिटक के अन्य ग्रन्थो मे भी उपलब्ध हैं।

३. 'उदान'—मे भगवान् बुद्ध के मुख से समय-समय पर भावातिरेक से निकले हुए प्रीति-वाक्यो का सग्रह है। ये वाक्य गाथाओ के रूप मे ही है, किन्तु प्रत्येक उदान के साथ, गद्य मे इस बात का भी उल्लेख है कि वह किस स्थान तथा अवसर पर कहा गया था। उदान मे ८० सुत्त है जो ८ वर्गो मे विभक्त है।

४. 'इतिवुत्तक'—मे भी उदान की भाँति ही प्रीति-वाक्यो का संग्रह है। ये वाक्य आचरण-सम्बन्धी है। इसमे कुल ११२ सुत्त हैं। कही-कही गद्य तथा गाथाओ मे एक ही विचार व्यक्त किए गए हैं, किन्तु अन्य स्थानो पर वे एक दूसरे के पूरक रूप मे है। 'अगुत्तरनिकाय' की भाँति ही 'इतिवुत्तक' भी पहले एकक, दुक, तिक और चतुक्क निपातो मे तथा बाद मे वर्गो मे विभक्त है।

५. 'सुत्तनिपात'—अत्यधिक प्राचीन ग्रथो मे से है। इसके प्रथम चार वर्गो मे ५४ सुत्त हैं। पाँचवें 'पारायण वग्ग' मे बावरी ब्राह्मण के सोलह शिष्यो ने भगवान् बुद्ध से जो प्रश्न किए है, उनके उत्तर हैं। सुत्तनिपात के कतिपय सुत्त तो आख्यान काव्य की भाँति हैं।

६. 'विमानवत्थु' तथा ७ 'पेतवत्थु'—बाद की रचनाएँ हैं। ये उतनी सुन्दर भी नही है। कदाचित् इनका सकलन तीसरी सगीति के कुछ पहले हुआ था। 'विमानवत्थु' मे उन स्वर्गीय सुन्दर भवनो का वर्णन है, जो जीवन मे शुभकर्म करने के पश्चात् देवो को उपलब्ध होते है। इसमे ८३ कथाएँ है तथा सात वर्गो मे विभक्त है। 'पेतवत्थु' मे ५० कथाएँ हैं, जो चार वर्गो मे विभक्त हैं। पूर्व योनि मे अशुभ तथा पापकर्म करने के कारण प्रेतो को जो अनेक यातनाएँ भोगनी पडती है, उनका विशद वर्णन इसमे है।

८. थेरगाथा, ९ थेरीगाथा—'विमानवत्थु' तथा 'पेतवत्थु' की भाँति ही 'थेरगाथा' तथा 'थेरीगाथा' की रचना भी पदो मे हुई है। ये पद थेरों [स्थविरो] तथा थेरियो [स्थविरियो] के मुख से कहलाए गए हैं। इसमे सदेह नही कि इनके अधिकाश पद अत्यन्त प्राचीन हैं। ये गाथाएँ किसी एक

व्यक्ति की रचना नही है, क्योकि इनमे एकरूपता का अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय मे प्रचलित गाथाओ को सग्रह करके उन्हे थेरो तथा थेरियो के द्वारा कहलाया गया है। 'थेरगाथा' मे १२७९ तथा 'थेरीगाथा' मे ५२२ गाथाएँ हैं। ये एक दुक, तिक आदि निपातो मे भी विभक्त है।

१० जातक का अर्थ है, जन्म-सम्बन्धी। सम्यक् सम्बुद्ध होने के पूर्व भगवान् बुद्ध बोधिसत्व थे। बोधिसत्व का अर्थ है, 'बुद्धत्व के लिए प्रयत्नशील प्राणी।'

जातको मे बोधिसत्व के पाँच सौ सैंतालीस जन्मो का उल्लेख है। त्रिपिटक मे जिस जातक ग्रन्थ का समावेश है, वह केवल गाथाओ का सग्रह है, जातक अट्ठकथा तो बाद की चीज़ है। इस अट्ठकथा के बिना केवल गाथा से जातक की कथा का बोध नही होता। जातकट्ठकथा मे अट्ठकथा-सहित जातक कथाएँ आरम्भ होने से पूर्व 'निदान कथा' नाम का एक लम्बा उपोद्घात है। इस निदान कथा मे सिद्धार्थ गौतमबुद्ध के जीवन-चरित्र के साथ उनके पूर्व के २७ बुद्धो का भी जीवन-चरित है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'बुद्धवस' मे लिया गया है।

जातक की अट्ठकथा तीन भागो मे विभक्त है—(१) दूरे निदान, (२) अविदूरे निदान, (३) सन्तिके निदान। बोधिसत्व ने जब सुमेध तपस्वी का जन्म ग्रहण कर भगवान् दीपङ्कर के चरणो मे जीवन समर्पित किया, उस समय से लेकर 'वेस्सन्तर'[1] का शरीर छोड, तुषित स्वर्गलोक मे उत्पन्न होने तक की कथा "दूरे निदान" कही जाती है। तुषित लोक से च्युत होकर महामाया देवी के गर्भ से उत्पन्न होकर बोधगया मे बुद्धत्व प्राप्त करने तक की कथा 'अविदूरे निदान' कही जाती है। जहाँ-जहाँ भगवान् बुद्ध ने विहार करते समय कोई जातक कथा कही, उन स्थानो का जो उल्लेख है, वह 'सन्तिके निदान' है।

जातक की कथाएँ दूरे निदान के अन्तर्गत ही आती हैं। प्रत्येक जातक-कथा के चार विभाग है—(१) 'पच्चुपन्नवत्थु' (२) 'अतीतवत्थु' (३) अत्थवण्णना' (४) 'समोधान'। पच्चुपन्नवत्थु से तात्पर्य है वर्तमान कथा अर्थात् भगवान् बुद्ध के समय की कोई घटना, अतीतवत्थु से तात्पर्य है किसी भी ऐसे अवसर पर भगवान् बुद्ध द्वारा कही गई पूर्वजन्म की कथा, अत्थ-वण्णना मे तात्पर्य है इन गाथाओ की व्याख्या। इसमे गाथाओ का शब्दार्थ तथा विस्तृतार्थ रहता है। समोधान सदैव अन्त मे आता है। इसमे बुद्ध

---

१. देखिए, वेस्सन्तर जातक (५४७)।

बतलाते है कि उन्होने जो अतीतवस्तु सुनाई, उसके प्रधान पात्रो मे कौन-कौन था तथा वे स्वयं उस समय किस योनि मे उत्पन्न हुए थे।

जातकों की समस्त गाथाएँ किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं प्रतीत होती। बाद के कई जातकों की गाथाएँ तो वर्णनात्मक हैं और वीरकाव्य का रूप ग्रहण कर लेती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन गाथाओ के रूप मे उस समय तक की प्रचलित गाथाओ का सग्रह कर लिया गया है। थेर और थेरीगाथा की भाँति ही निपातो मे उनका कृत्रिम विभाजन भी इसी धारणा को पुष्ट करता है।

११ निद्देस—सुत्तनिपात के एक भाग का भाष्य है जिसके कर्ता सारिपुत्त बतलाए जाते हैं। —१२. पटिसम्भिदामग्ग—मे अर्हतो द्वारा उपलब्ध ज्ञान का उल्लेख है। विषय की दृष्टि से यह अभिधम्म-साहित्य की वस्तु है। —१३. अपदान—पद्यबद्ध कथाओ का सग्रह है। इसमे बौद्ध सन्तो के पूर्व जन्म के शुभकर्मो का वर्णन किया गया है। त्रिपिटक-साहित्य मे यह सबसे बाद की वस्तु है, किन्तु संस्कृत मे लिखित बौद्ध अवदान-साहित्य से तो यह प्राचीन ही है। १४ बुद्धवस—की रचना पदो में हुई है। यह २८ काण्डो मे विभक्त है। इसमें २४ अतीत बुद्धो की कथाएँ है, जिनमे गौतमबुद्ध की कथा भी सम्मिलित है, बुद्ध के मुख से कहलाई गई हैं। —१५. चरिया पिटक—पद्यबद्ध ३५ जातकों का सग्रह है। बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व, बोधिसत्त्वावस्था मे बुद्ध ने किस प्रकार दश पारमिताओं को पूर्ण किया था, वही बात बुद्ध के द्वारा कहलाई गई है। अन्य चार निकायो मे पारमिताओ की कुछ भी चर्चा नही है। चरिया-पिटक मे कवित्व का अभाव है। श्रीविंटर्निट्ज़ महोदय का अनुमान है कि इसका रचयिता कोई स्थविर होगा।

२. विनयपिटक

इस पिटक मे भगवान् बुद्ध की उन शिक्षाओ का संग्रह है, जो उन्होने समय समय पर संघ-संचालन को नियमित करने के लिए दी थी। प्रव्रज्या की दीक्षा कैसे देनी चाहिए, शिष्य तथा आचार्य का परस्पर व्यवहार कैसा होना चाहिए, भिक्षुओ को कैसे भिक्षाटन के लिए, गाँव मे जाना चाहिए, कैसे उठना-बैठना, खाना-पीना चाहिए, क्या दोष करने से भिक्षु को क्या दण्ड देना चाहिए, किन-किन वस्तुओ का व्यवहार भिक्षु के लिए विहित है और किन-किन का निषिद्ध, आदि-आदि दैनिक-जीवन की छोटी-छोटी बातो तक के विषय मे भगवान् बुद्ध की शिक्षाएँ इस पिटक मे मिलती हैं। सक्षेप मे इसे संघ के शासन सम्बन्धी नियमो का कोष कहा जा सकता है। किस अवसर पर अथवा परि-

स्थिति मे ये शिक्षाएँ बनी, रद्द अथवा संशोधित की गई—इसका भी इस पिटक मे विशद वर्णन किया गया है। 'विनयपिटक' के निम्नलिखित विभाग है—

१. सुत्तविभग—[क] पाराजिक [ख] पाचित्तिय

२. खन्धक—[क] महावग्ग [ख] चुल्लवग्ग

३. परिवार

१. सुत्त-विभग वस्तुत. 'पातिमोक्ख सुत्तो' (प्रातिमोक्ष-सूत्रो) की व्याख्या मात्र है। पातिमोक्ख सुत्तो के अन्तर्गत 'भिक्खु पातिमोक्ख' तथा 'भिक्खुनी पातिमोक्ख' की गणना है। ये दोनो 'विनय-पिटक' के सर्वाधिक प्रामाणिक अश हैं। उपोसथ[1] के दिन सघ के उपोसथागार मे एकत्र होकर किसी स्थान विशेष मे रहनेवाले भिक्खुओ तथा भिक्खुनियो को पातिमोक्ख के नियमों की आवृत्ति करना आवश्यक है। ये नियम अपराधो के स्वीकरण के सम्बन्ध मे हैं। अपराध की गुरुता के अनुसार विभक्त हैं—यथा—पाराजिकधम्म—के अन्तर्गत वे अपराध आते है जिनके करने से भिक्षु सदैव के लिए सघ से वहिष्कृत कर दिए जाते हैं। 'सघादिसेस धम्म'—के अन्तर्गत उन अपराधो की गणना है जिनके करने पर सघ किसी भिक्षु को कुछ समय का परिवास (मुअत्तली) का दंड देता है। 'अनियत धम्म०'—से तात्पर्य उन अपराधो से है जिनके करने से 'पाराजिक', 'सघादिसेस' अथवा 'पाचित्तिय' मे से कोई एक दड दिया जाये। पहले से 'नियत' (निश्चित) न होने के कारण इसे 'अनियत धम्म' की सज्ञा दी गई है। 'निस्सग्गिय पाचित्तिय' तथा 'पाचित्तिय'—'पाचित्तिय' का अर्थ है 'प्रायश्चित्तिक' तथा 'निस्सग्गिय' का 'नैसर्गिक'। इनके अन्तर्गत वे अपराध आते हैं जिन्हे सघ, अनेक भिक्षु अथवा एक भिक्षु के समक्ष स्वीकार करने पर उनका प्रतिकार हो जाता है। 'पाटिदेसनीय'—से तात्पर्य उन अयुक्त अथवा निन्दनीय कर्मों से है जिन्हे भिक्षु को स्वीकार कर लेना चाहिए। स्वीकरण के समय भिक्षु को कहना चाहिए—'आयुष्मान्! मैंने निन्दनीय, अयुक्त, प्रतिदेशना (=अपराध की स्वीकृति) करने योग्य कार्य किया, अतएव मैं उसकी प्रतिदेशना करता हूँ। 'सेखिय धम्म'—के अन्तर्गत वे व्यावहारिक शिक्षाएँ आती हैं जिन्हे भिक्षु को सदैव पालन करना चाहिए। 'अधिकरणसमर्थ'—मे, अधिकरणो (=झगडो) के शमन करने के लिए उपाय बतलाए गए हैं।

---

१. प्रत्येक मास की कृष्ण चतुर्दशी तथा पूर्णिमा का दिन 'उपोसथ' का दिन है। इनके अतिरिक्त, कार्य विशेष के लिए, यदि किसी दिन संघ एकत्र हो तो वह भी उपोसथ का ही दिन कहलाएगा।

भिक्खुपातिमोक्ख तथा भिक्खुनीपातिमोक्ख के शिक्षापदों की सख्या २२७ है। ये भिक्खु तथा भिक्खुनियो के लिए हैं।

२. खन्धक—भी वास्तव मे सुत्तविभग के ही पूरक हैं। इनमे भिक्षुओ के दैनिक जीवन-सम्बन्धी नियमो का उल्लेख है। 'महावग्ग' मे दश खन्धक (स्कन्धक) हैं। प्रथम, 'महास्कन्धक' मे बुद्ध के बुद्धत्त्वलाभ, शिष्य-उपाध्याय के कर्त्तव्य तथा उपसम्पदा आदि के सबध मे विचार किया गया है। द्वितीय, 'उपोसथ-स्कन्धक' मे उपोसथ एव प्रातिमोक्ष के विधान एव आवृत्ति आदि के सम्बन्ध मे नियम दिए गए हैं। तृतीय, 'वर्षोपनायिका स्कन्धक', मे भिक्षुओ के वर्षावास सम्बन्धी नियमो का उल्लेख है। चतुर्थ, 'प्रवारणास्कन्धक', मे प्रवारणा मे स्थान, काल और व्यक्ति-सम्बन्धी नियम हैं। पचम, 'चर्म-स्कधक', मे, 'चरण-पादुका (जूते) धारण करने के नियम हैं। षष्ठ, 'भैषज्य-स्कन्धक', मे औषधियो के नियम हैं। सप्तम्, 'कठिन स्कन्ध', मे कठिन चीवर-सम्बन्धी नियम हैं। वर्षावास की समाप्ति पर समस्त सघ की सम्मति से सम्मान प्रदर्शन के लिए किसी भिक्षु को जो चीवर दिया जाता है, उसे 'कठिन-चीवर' कहते हैं। अष्टम्, 'चीवर-स्कन्धक', मे चीवर-सम्बन्धी नियम है। नवम्, 'चाम्पेय-स्कन्धक', मे कर्म-अकर्म एव नियमविरुद्ध तथा नियमानुकूल दड आदि के सम्बन्ध मे व्यवस्था है। इस स्कन्ध के 'चाम्पेय' नामकरण का यह कारण है कि जिस समय ये नियम बने, उस समय भगवान् बुद्ध चम्पा नगरी मे विहार करते थे। दशम 'कौशम्बक-स्कन्धक' के नियम कौशाम्बी मे बने। उस समय भगवान् बुद्ध कौशाम्बी के 'घोषिताराम' मे विहार करते थे। इसमे भिक्षु सघ मे कलह तथा धर्मवादी एव अधर्मवादी आदि के सम्बन्ध मे विचार किया गया है।

महावग्ग के बाद ही विनय-पिटक मे 'चुल्लवग्ग' आता है। इसमें भी 'कर्म', 'पारिवासिक', 'समुच्चय', 'शमथ', 'क्षुद्रक-वस्तु', 'शयन-आसन', 'संघ-भेद', 'व्रत', 'प्रातिमोक्ष', 'स्थापन', तथा 'भिक्षुणी', ये दश स्कन्धक है। आरम्भ के नव स्कन्धको में भिक्षुओ के दैनिक जीवन-सम्बन्धी अति साधारण बातों को लेकर नियम बनाए गए हैं, जैसे, नियम-विरुद्ध-दड, नियमानुसार-दड, दड क्षमा करने की विधि, शयनासन, सघभेद तथा व्रत-सम्बन्धी नियम। दसवें, भिक्षुणी स्कन्धक मे भिक्षुणियो की प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा आदि के नियम हैं। विनयपिटक के ग्यारहवें तथा बारहवें स्कन्धक मे क्रमश. राजगृह की प्रथम सगीति (सभा) तथा वैशाली की द्वितीय सगीति के सम्बन्ध मे विवरण हैं। भगवान् बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् जब विनय के विरुद्ध आचरण करना आरम्भ किया गया तो नियमो के ठीक अर्थ तथा व्याख्या करने के लिए इन संगीतियों

की आवश्यकता पडी । विटर्निट्ज़ के अनुसार ये दोनो स्कन्वक वस्तुत. विनय-पिटक मे वाद मे सम्मिलित किए गए है और एक प्रकार से चुल्लवग्ग के परिशिष्ट हैं ।

परिवार वस्तुत विनयपिटक की मात्तिका (सूची) है । इसकी रचना कदाचित् सीलोन मे हुई और यह वहुत वाद की रचना है । इसका कोई महत्व भी नही है ।

विनय-पिटक के नियमो को देखने से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि इनका क्रमश विकास हुआ होगा और समय की प्रगति के साथ ही साथ इनमे परिवर्तन भी हुआ होगा । सावारणत भिक्षु को भिक्षान्न से ही जीवन-निर्वाह करना चाहिए, किन्तु समय की प्रगति के साथ-साथ उन्हे निमत्रण स्वीकार करने की भी आज्ञा मिली । इसी प्रकार आरम्भ मे उनके लिए चिथड़ो से वने हुए चीवर पहनने तथा वृक्षो के नीचे निवास करने का नियम था, किन्तु आगे चलकर उन्हे कौशेय वस्त्र घारण करने तथा घरो एव गुफाओ मे भी निवास करने की आज्ञा मिली । औपवि मे सावारण रूप से वे गोमूत्र का ही उपयोग कर सकते थे, किन्तु उन्हे मक्खन, तेल तथा मवु के उपयोग का भी अविकार था । वे मास भी खा सकते थे, किन्तु इसके साथ शर्त यह थी कि वह "त्रिकोटि परिशुद्धि" हो, अर्थात् वह भिक्षु के लिए पशुवव से प्राप्त न किया गया हो । इन सभी नियमो मे विकास का क्रम स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है ।

३. अभिधम्म पिटक

सुत्तपिटक के उपदिष्ट सिद्धान्तो के आवार पर ही वस्तुत 'अभिवम्म पिटक' का विकास हुआ है । इसके अन्तर्गत निम्नलिखित सात ग्रथो की गणना है—

१ वम्मसगिनि, २ विभग, ३. कथावत्थु, ४ पुग्गलपञ्जत्ति, ५ वातुकथा अथवा धातुकथापकरण, ६. यमक, ७ पट्ठानप्पकरण अथवा महापट्ठान ।

ये वौद्ध-वर्म के दर्शन-ग्रन्थ कहे जाते है, किन्तु वे उस रूप मे दर्शन-ग्रथ नही है जिस रूप मे ब्राह्मण-दर्शन ग्रथ । वौद्ध-वर्म 'आत्मा' के अस्तित्व को स्वीकार नही करता । उसके अनुसार मनुष्य, चित्त (mind) और शरीर [matter] का सघात मात्र है । शरीर ही रूप कहलाता है और चित्त के चार आकार हैं—वेदना [feeling], सज्ञा [conceptual knowledge], सखार [Synthetic mental states], विज्ञान [consciausness] । इन सघात की अवस्थाओ को ही 'वम्म' कहते हैं । 'अभिवम्म-पिटक' के सर्वाधिक

प्राचीन एव महत्त्वपूर्ण-ग्रथ 'धम्मसगिनि' मे इन धर्मो का पूर्ण विश्लेषण एव विभाजन किया गया है, जैसे—'कुसला धम्मा' 'अकुसला धम्मा', 'अव्याकता धम्मा' आदि । 'अभिधर्म-पिटक' के शेष छः ग्रन्थो मे इन्ही धर्मो के स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध पर विचार किया गया है। धर्मो का वर्गीकरण भी चार भागो मे किया गया है। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित गाथा उल्लेखनीय है—

तत्थ वुत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो ।
चित्तचेतसिक रूपं निब्बानमिति सब्बथा ।

अर्थात् परमार्थ की दृष्टि से 'अभिधर्म' के चार विषय बतलाए गए हैं— १. (किसी वस्तु का जाननेवाला) चित्त, २. (चित्त से सयुक्त रहनेवाला) चैतसिक, ३ (विकार स्वभाव वाला) रूप और ४ (तृष्णा से विमुक्त) निर्वाण ।

ऊपर अभिधम्म-पिटक के सात ग्रथो मे 'कथावत्थु' का भी नाम आया है। परम्परानुसार कथावत्थु का सगायन बौद्ध-धर्म की तीसरी सगीति मे सम्राट् अशोक के गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्स ने किया था। बौद्ध-सघ मे जो अनेक भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हो गई थी, उनका निराकरण करके उन्होने सच्चे 'विभज्जवाद' की स्थापना की ।

पालि-साहित्य—त्रिपिटकेतर

प्रथम युग : [त्रिपिटक की समाप्ति से पाँचवी शताब्दी ईस्वी तक)]

भारतीय परम्परा के अनुसार महिन्द [महेन्द्र] अपनी सीलोन (लका) यात्रा के समय तिपिटक तथा अट्ठकथा (—अर्थकथा जो त्रिपिटक का भाष्य है) अपने साथ लेते गये थे। पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे इस सम्बन्ध मे कुछ भी कहना कठिन है, किन्तु इसमे तनिक भी सन्देह नही कि अति प्राचीन-काल मे भी सीलोन मे अट्ठकथा-साहित्य विपुल-परिमाण मे उपलब्ध था। इसी अट्ठकथा-साहित्य के आधार पर बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथा लिखी और दीपवस तथा अन्य इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थो की आधारभूता भी यही अट्ठकथाएँ थी। ये अट्ठकथाएँ बारहवी शताब्दी तक सीलोन मे उपलब्ध थी। विनयपिटक की अट्ठकथा 'समन्त पासादिका' के आरम्भ की गाथा मे बुद्धघोष[1] ने अपने

---

१. आचार्य बुद्धघोष का समय विद्वानो ने ईसा की ५वीं शताब्दी निश्चित किया है। महावंस (पालि मे लिखित सीलोन का इतिहास) के अनुसार बुद्धघोष सीलोन के राजा महानाम के राजत्वकाल मे हुए थे। महानाम का राजत्वकाल

इस ग्रन्थ का आधार अट्ठकथा बतलाया है। बुद्धघोष के अनुसार यह अट्ठकथा प्राचीन सिंहली भाषा मे थी। बुद्धसी (=बुद्धश्री) थेर(=स्थविर) की प्रेरणा मे उन्होने इन अट्ठकथाओ को सिंहली से पालि मे अनूदित किया था।

बुद्धघोष की कृति का मुख्य आधार 'महा-अट्ठकथा' थी, किन्तु उन्होंने अन्य अट्ठकथाओ—जैसे 'महापच्चरी' तथा 'कुरुण्डी-अट्ठकथा'—से भी सहायता ली। 'समन्त-पासादिका' की दो टीकाओ, 'वजिरबुद्धि' तथा 'सारत्थदीपनी' मे 'चुल्लपच्चरी, 'अन्धट्ठकथा', 'पण्णवार' तथा 'सखेपट्ठकथाओ' के भी उल्लेख मिलते है। 'सद्धम-सगह' (१४वी शताब्दी) के अनुसार 'सुत्तपिटक' पर 'महा-अट्ठकथा, 'अभिधम्म' पर 'महापच्चरी अट्ठकथा' तथा 'विनयपिटक' पर 'कुरुण्डी-अट्ठकथा', लिखी गई थी। 'गधवस' मे भी इन तीन अट्ठकथाओ का उल्लेख मिलता है। 'महाअट्ठकथा' के प्रणेता 'पोराण' (प्राचीन आचार्यगण) बतलाए गए है। इससे यह विदित होता है कि शेष दो अट्ठकथाएँ बाद की रचना है। प्राचीन सिंहली मे लिखित अट्ठकथाएँ अब उपलब्ध नही है।

बुद्धघोष के पूर्व की दो पुस्तको—'नेत्तिप्पकरण' अथवा 'नेत्ति' एव 'पेटकोप-देस'—को बर्मा मे त्रिपिटिक के अन्तर्गत ही माना जाता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट हो जाता है, ये दोनो ग्रथ वस्तुत बुद्ध की शिक्षा की भूमिकाएँ हैं। परम्परा के अनुसार इनके प्रणेता बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य महाकच्चायन

५वीं शताब्दी ही है। किन्तु विद्वानो के अनुसार महावंस १३वीं शताब्दी के मध्य की रचना है। जो हो, आचार्य की एक कृति का अनुवाद चीनी भाषा मे ४८९ ई० में हुआ था। इससे महावस मे दी हुई तिथि की पुष्टि हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि महानाम के राजत्वकाल में, सीलोन स्थित अनुराधपुर के महाविहार में आचार्य ने त्रिपिटक तथा उसकी सिंहली-अट्ठकथा का अध्ययन किया था और इसके परिणामस्वरूप उन्होंने पालि मे 'विसुद्धिमग्ग तथा अट्ठ-कथाओं की रचना की।

परम्परानुसार बुद्धघोष का जन्म बोधगया के निकट ब्राह्मण-कुल मे बतलाया जाता है। अपने आरम्भिक-जीवन मे आचार्य ने वेद, शास्त्र तथा उपनिषदो का गम्भीर अध्ययन किया था, किन्तु महास्थविर रेवत से शास्त्रार्थ मे परास्त होकर उन्होने बौद्धधर्म की दीक्षा ली। इसके पश्चात् ही वे प्राचीन सिंहली में लिखित अट्ठकथाओं का अध्ययन करने के लिए सीलोन गये। यहीं पर उन्होंने पालि में अट्ठकथाओं की रचना की जिससे वे महान् भाष्यकार बने। बहुत सम्भव है कि कई अट्ठकथाओ के प्रणेता अन्य विद्वान् हों, किंतु प्रसिद्धि के कारण बुद्धघोष ही उनके रचयिता मान लिए गए हों।

बतलाए जाते हैं, किन्तु यह सत्य नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके प्रणेता कच्चायन नाम के कोई अन्य व्यक्ति होगे, किन्तु बाद मे लोगो ने इनका रचयिता महाकच्चायन को मान लिया होगा। अन्त.साक्ष्य तथा बहि-साक्ष्य के आधार पर श्री ई० हार्डी ने इन दोनो ग्रन्थो का रचनाकाल ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी का आरम्भ माना है। 'नेत्ति' तथा 'पेटक' के साथ ही साथ यहाँ सुत्त 'सगह' का उल्लेख भी आवश्यक है। यह वस्तुत. सूत्रो का सग्रह मात्र है। इसके रचनाकाल तथा प्रणेता के सम्बन्ध मे कुछ भी मालूम नही है। इसका उल्लेख यहाँ इसलिए आवश्यक है कि 'नेत्ति', 'पेटक' एवं 'मिलिन्दपञ्हो', के साथ-साथ बर्मा मे इसे भी 'खुद्दकनिकाय' के अन्तर्गत माना जाता है।

मिलिन्द-पञ्हो [मिलिन्द प्रश्न] मे राजा मिलिन्द तथा भिक्षु नागसेन के प्रश्नोत्तर हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ की गणना त्रिपिटक के अन्तर्गत नही है, फिर भी इसकी प्रामाणिकता उससे कम नही मानी जाती। अट्ठकथाचार्य बुद्ध-घोष तक ने भी कई बातो को पुष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर मिलिन्द प्रश्न का प्रमाण दिया है। यह ग्रन्थ पूर्णरीति से स्थविरवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधि है और बौद्ध-जनता मे इसका अत्यन्त आदर है।

मिलिन्द से यहाँ बैक्ट्रिया के ग्रीक राजा मिनाण्डर [Minander] से तात्पर्य है। उत्तरी-भारत मे सतलज नदी के पार यमुना के आसपास तक उसके राज्य का विस्तार था। अभी तक राजा मिलिन्द के बाईस सिक्के उपलब्ध हुए हैं। इनमे एक ओर ग्रीक मे और दूसरी ओर पालि मे लेख हैं। इक्कीस सिक्को पर निम्नलिखित लेख हैं .—

एक तरफ—Basileos Soteros Menadrou और दूसरी तरफ .—महरज-ननव्रतस मेनन्द्रस। कतिपय सिक्को पर दौडते घोड़े, ऊँट, हाथी, सूअर, चक्र तथा ताड के पत्ते खुदे है। चक्रवाले सिक्के से यह प्रमाणित होता है कि राजा पर बौद्धधर्म का प्रभाव अवश्य पडा होगा। एक सिक्के के लेख से तो यह भी मालूम पडता है कि कदाचित् राजा ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार भी कर लिया था। उसके एक तरफ लिखा है—Basileos Dikaiou Menandrou और दूसरी तरफ लिखा है—महरजसधमिकस मेनन्द्रस, यहाँ 'धमिकस' से 'धार्मिकस्य' तात्पर्य है। बौद्ध-ग्रन्थो मे उपासक राजा के लिए बराबर "धम्म-राज" शब्द का प्रयोग मिलता है। अशोक का तो नाम ही हो गया था, धर्मा-शोक। अत इस सिक्के का 'धार्मिकस्य' इस मत की पुष्टि करता है कि कदा-चित् अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे मिलिन्द ने बौद्धधर्म की दीक्षा ले ली थी।

मिलिन्द का राजत्व काल ईसा से लगभग डेढ सौ वर्ष पूर्व था, किन्तु इससे

यह सिद्ध नही होता कि 'मिलिन्दप्रश्न' की रचना भी इसी समय हुई होगी। बुद्धघोष (५वी शताब्दी) के समय तक, 'मिलिन्द-प्रश्न' पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुका था। बहुत सम्भव है कि इस ग्रन्थ की रचना ईसा की प्रथम शताब्दी मे हो चुकी हो, क्योकि उस समय मिलिन्द का नाम उत्तरी-भारत की जनता मे अवश्य प्रसिद्ध होगा।

परम्परा से प्रसिद्ध है कि मिलिन्द बडा विद्याव्यसनी था। वेद, पुराण, दर्शन आदि का उसने अच्छा अध्ययन किया था। दार्शनिक विवाद मे वह अत्यन्त निपुण था। बड़े-बडे दिग्गज पण्डित भी उससे शास्त्रार्थ करने मे भय मानते थे। तर्क मे वह अजेय समझा जाता था। एक बार राजा अर्हत-पद प्राप्त, परम-यशस्वी, स्थविर, नागसेन के पास, शास्त्रार्थ करने गया। स्थविर ने राजा के तर्को को काटकर उसे बुद्ध-धर्म की शिक्षा दी। इस ग्रथ मे उसी राजा मिलिन्द तथा नागसेन के शास्त्रार्थ का वर्णन है। ग्रथ के अन्तिम भाग मे आता है कि राजा बुद्धधर्म से इतना प्रभावित हुआ कि सारा राजपाट छोडकर उसने प्रव्रज्या ग्रहण की और अर्हत-पद को प्राप्त हुआ।

'मिलन्द-प्रश्न' के सम्बन्ध मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि इसके प्रणेता का नाम अभी तक ज्ञात नही। कतिपय विद्वानो का मत है कि यह ग्रथ मूलत सस्कृत अथवा किसी अन्य प्राकृत मे लिखा गया था, किन्तु बाद मे इसका पालि मे अनुवाद हुआ। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि इसकी शैली पालि की अपेक्षा सस्कृत के ही अधिक निकट है।

पालि के अतिरिक्त मिलिन्द-प्रश्न का एक दूसरा सस्करण चीनी-भाषा मे भी उपलब्ध है। त्रिपिटकाचार्य भिक्षु जगदीश काश्यप ने एक चीनी पण्डित की सहायता से इसका अनुवाद अग्रेजी मे किया। श्री काश्यप का इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित विवरण है—

पुस्तक का चीनी नाम "ना-से-पि-क्कु-किन्" है जिसका अर्थ है "नागसेन-भिक्षु-सूत्र"। इस पुस्तक मे कुल छब्बीस पृष्ठ हैं। अनुवाद से पता चला कि—

१ इसका "पूर्व योग" पालि 'मिलिन्द'-प्रश्न से बिल्कुल भिन्न है।

२ यह ग्रन्थ पालि 'मिलिन्द-प्रश्न' तीसरे परिच्छेद तक ही है।

३ इसके प्रश्नोत्तर करीब-करीब उतने ही और वे ही है, भाषा और प्रकार मे कही-कही साधारण अन्तर है।

चीनी 'ना-से-पि-क्कु-किन्' का पूर्वयोग सक्षेप मे निम्नलिखित है—

एक-समय भगवान् बुद्ध 'सिय औ ए-कोक' (श्रावस्ती) मे विहार करते थे। भिक्षु-भिक्षुणियो तथा उपासक-उपासिकाओ से दिन-रात घिरे रहने मे उनका मन ऊब गया। एकान्तवास के लिए वे सभी को छोड "कार लो

चोग शू" (पारिलेय्य?) नामक वन मे जाकर एक वरगद के वृक्ष के नीचे ध्यान मग्न होकर बैठ गए।

उसके पास ही दूसरे जगल मे एक हस्तिराज अपने अनुचर पाँच सौ हाथियो के साथ वास करते थे। हस्तिराज भी समुदाय के जीवन से ऊबकर अपने सभी अनुचरो को छोड उसी जगल मे उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ भगवान् बुद्ध बैठे थे। भगवान् बुद्ध ने हस्तिराज को प्रेम से अपने निकट बुलाया। बहुत दिनो तक हस्तिराज वहाँ भगवान् की सेवा करते रहे। जब भगवान् ने वहाँ से प्रस्थान किया तो हस्तिराज को बडा दुःख हुआ। वे जीवन भर सदा भगवान् का स्मरण करते रहे।

दूसरे जन्म मे हस्तिराज एक ब्राह्मण के घर उत्पन्न हुए। बडे होने पर उन्हे वैराग्य हो आया और वे सन्यास ग्रहण कर एक पहाड पर रहने लगे। उसी पहाड़ पर एक दूसरा सन्यासी भी रहता था जिससे उनकी बड़ी मित्रता हो गई। इन्होने उससे कहा—"भाई, ससार बडा दोषपूर्ण है, इसमे दुख ही दुख है। इसी से निर्वाण पाने के लिए मैं सन्यास ले ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत कर रहा हूँ।

उसने कहा—नही, मैं तो यह जीवन इसलिए व्यतीत कर रहा हूँ जिससे अगले जन्म मे इस पुण्य के कारण लोक-विजयी अधिराज हो सकूँ। मेरी यही कामना है।

अगले जन्म मे उनमे से एक समुद्र के किनारे 'मी-नन' (मिलिन्द) नाम का राजकुमार हुआ। दूसरा "की-पिनकुन" प्रदेश मे उत्पन्न हुआ। पूर्वजन्म मे निर्वाण पाने की प्रबल इच्छा होने के कारण 'बच्चा' ऐसा मालूम पडता था, मानो काषाय पहने हो। उसके उत्पन्न होने के दिन ही उस स्थान पर एक हथिनी को बच्चा पैदा हुआ था। चूँकि हाथी को 'नाग' कहते है, इसलिए उसका नाम इस संयोग से "नागसेन" पडा।

नागसेन का एक मामा था जिसका नाम था लोहन। लोहन बडे सिद्ध भिक्षु थे। बालक नागसेन लोहन के साथ रहकर धर्म का अध्ययन करने लगा। नागसेन की बुद्धि बडी तीक्ष्ण थी। उसने अपना अध्ययन शीघ्र समाप्त कर डाला। बीस वर्ष की अवस्था होने पर "ही-सेन" नामक विहार मे उसकी उपसम्पदा हुई। भिक्षु-नागसेन निर्वाण प्राप्त करने का दृढ अधिष्ठान करके निकल पड़े।

शेष 'पूर्वयोग' पालि सस्करण के जैसा ही है। सभी प्रश्नोत्तर, उपमाएँ तथा भाषा भी कुछ हद तक पालि सस्करण के समान ही है।

पालि मिलिन्द-प्रश्न के तीसरे परिच्छेद के अन्त मे स्पष्ट लिखा है—

मिलिन्द राजा के 'प्रश्नो का उत्तर' देना समाप्त। चीनी सस्करण "ना-से-पिक्कु-किन्" यही समाप्त हो जाता है। इस ग्रन्थ का अन्तिम वाक्य है—"तब स्थविर नागसेन पात्र और चीवर लेकर उठे और जाने को उद्यत हुए, राजा भी प्रासाद के द्वार तक आया और उसने उन्हें सम्मान-पूर्वक विदाई दी।" इससे ऐसा जान पडता है कि मूल ग्रथ यही तक लिखा गया होगा। पालि-सस्करण मे आगे के तीन परिच्छेद—(१) मेण्डक प्रश्न (१) अनुमान प्रश्न तथा (३) उपमा-कथा-प्रश्न पीछे से जोड़ दिए गए होगे। वास्तव मे ये तीन परिच्छेद स्थविर नागसेन तथा राजा मिलिन्द के स्वाभाविक प्रश्नोत्तर नही मालूम पड़ते।

बहुत सम्भव है कि मूल-ग्रंथ भारत मे सस्कृत मे लिखा गया हो और ये पालि तथा चीनी-सस्करण उसी के अनुवाद हों अथवा उसी के आधार पर लिखे गए हो। पालि सस्करण के अन्त मे आता है कि राजा मिलिन्द भिक्षु बना और उसने अर्हत-पद प्राप्त किया। इसमे ऐतिहासिक सत्य कहाँ तक है, निश्चित रूप से कहा नही जा सकता।

जटिल से जटिल दार्शनिक-तत्त्वो को दैनिक-जीवन की घटनाओ द्वारा स्पष्ट करना, 'मिलिन्द-प्रश्न' की एक बडी विशेषता है। प्रश्नोत्तर द्वारा ही इसमे बौद्धधर्म के सिद्धान्त समझाए गए है। उदाहरणस्वरूप बौद्धदर्शन के अनुसार मनुष्य नाम-रूप का सघात मात्र है। इसके अतिरिक्त शाश्वत आत्मा का अस्तित्व बौद्ध धर्म को स्वीकार नही है। 'मिलिन्द-प्रश्न' के द्वितीय परिच्छेद मे "पुद्गल-प्रश्न मीमासा" के अन्तर्गत इस सिद्धान्त को बड़े अच्छे ढग से समझाया गया है। नीचे यह अश दिया जाता है।[1]

तब राजा मिलिन्द आयुष्मान् नागसेन के पास गया और उन्हे नमस्कार तथा अभिनन्दन करने के बाद एक ओर बैठ गया। आयुष्मान् नागसेन ने भी उत्तर मे राजा का अभिनन्दन किया। उससे राजा के चित्त को सात्वना मिली।

तब, राजा मिलिन्द ने पूछा—'भन्ते ! आप किस नाम से जाने जाते हैं, आपका शुभ नाम ?"

महाराज ! 'नागसेन' के नाम से मैं जाना जाता हूँ, और मेरे सब्रह्मचारी मुझे इसी नाम से पुकारते है। महाराज ! यद्यपि माँ-बाप नागसेन, सूरसेन, वीरसेन या सिंहसेन ऐसा कुछ नाम दे देते हैं, किन्तु ये सभी केवल व्यवहार करने के लिए संज्ञाएँ भर हैं, क्योकि यथार्थ में ऐसा कोई एक पुरुष (आत्मा) नही है।

१. मिलिन्द प्रश्न—अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप, पृ० ३०-३४।

तब राजा मिलिन्द बोला—"मेरे पाँच सौ यवन और अस्सी हजार भिक्षुओ ! आप लोग सुने !! आयुष्मान् नागसेन का कहना है—'यथार्थ मे कोई एक पुरुष नही है।' उनके इस कहने को क्या समझना चाहिए ?"

"भन्ते नागसेन ! यदि कोई एक पुरुष नही है तो कौन आपको चीवर, पिण्डपात, शयनासन और ग्लान प्रत्यय–[1] देता है ? कौन उसका भोग करता है? कौन शील की रक्षा करता है ? कौन ध्यान-भावना का अभ्यास करता है? कौन आर्य-मार्ग के फल, निर्वाण का साक्षात्कार करता है ? कौन प्राणतिपात करता है ? कौन अदत्तादान (चोरी) करता है ? कौन मिथ्या भोगो मे अनुरक्त होता है ? कौन मिथ्या भाषण करता है ? कौन मद्य पीता है ? कौन इन पाँच अन्तराय-कारक-कर्मो[2] को करता है ? यदि ऐसी बात है तो न पाप है और न पुण्य; न पाप और पुण्य कर्मो का कोई करनेवाला है, और न कोई करानेवाला, न पाप और न पुण्य कर्मों के कोई फल होते हैं। भन्ते नागसेन ! यदि कोई आपको मार डाले तो किसी का मारना नही हुआ। भन्ते नागसेन ! तब आपके कोई आचार्य[3] भी नही हुए, कोई उपाध्याय[4] भी नही हुए, आपकी उपसम्पदा भी नही हुई।

आप कहते हैं कि आपके सब्रह्मचारी आपको 'नागसेन' नामसे पुकारते हैं, तो यह 'नागसेन' क्या है ? भन्ते ! क्या ये केश नागसेन हैं ?

नही महाराज !

ये रोम (रोयें) नागसेन है ?

नही महाराज !

ये नख, दाँत, चमडा, मास, स्नायु, हड्डी, मज्जा, वक्क, हृदय, यकृत

---

१ चीवर, पिण्डपात, शयनासन तथा ग्लान प्रत्यय—ये भिक्षु के चार प्रत्यय कहलाते हैं। भिक्षु का काषाय वस्त्र जो कई टुकड़ों को जोडकर तैयार किया जाता है, चीवर कहलाता है। पिण्डपात से भिक्षान्न का तात्पर्य है; और शयनासन का अर्थ है वासस्थान। ग्लान प्रत्यय के अन्तर्गत ओषधियाँ आती हैं।

२ पाँच अन्तराय-कर्म ये हैं—(१) माता को जान से मार देना, (२) पिता को जान से मार देना (३) अर्हत् को जान से मार देना, (४) बुद्ध के शरीर से रक्त बहाना, (५) सघ मे फूट पैदा करना। इन पाँच कर्मो से मनुष्य उस जन्म मे कदापि मुक्त नहीं हो सकता।

३. जो गुरु पढ़ाता-लिखाता है, उसे आचार्य कहते हैं।

४. जो गुरु प्रव्रज्या देता है, उसे उपाध्याय कहते हैं।

क्लोमक, प्लीहा (तिल्ली), फुफ्फुस, आँत, पसली आँत, पेट, पखाना, पित्त, कफ, पीव, लोहू, पसीना, मेद, आँसू, चर्बी, लार, नेटा ,लसिका, दिमाग नागसेन है ?

नही, महाराज !

क्या आपकी वेदनाएँ नागसेन है ?

नही, महाराज !

आपकी सज्ञा नागसेन है ?

नही महाराज !

आपके सस्कार नागसेन है ?

नही, महाराज !

आपका विज्ञान नागसेन है ?

नही, महाराज !

भन्ते ! तो क्या, रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान सभी एक साथ नागसेन है ?

नही, महाराज !

भन्ते ! तो क्या इन रूपादि से भिन्न कोई नागसेन है ?

नही, महाराज !

भन्ते ! मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया, किंतु 'नागसेन' क्या है, इसका पता नही लगा। तो क्या 'नागसेन' केवल शब्दमात्र है ? आखिर नागसेन है कौन ? भन्ते ! आप झूठ बोलते है कि नागसेन कोई नही है।

तब आयुष्मान् नागसेन ने राजा मिलिन्द से कहा—महाराज ! आप क्षत्रिय बहुत ही सुकुमार है। इस दोपहर की तपी और गर्म बालू तथा ककडो से भरी भूमि पर पैदल चलकर आने से आपके पैर दुख रहे होगे, शरीर थक गया होगा, मन को अच्छा नही लगता होगा और बडी शारीरिक पीडा हो रही होगी। क्या आप पैदल चलकर यहाँ आए या किसी सवारी पर ?

भन्ते ! मैं पैदल नही, किन्तु रथ पर आया।

महाराज ! यदि आप रथ पर आए तो मुझे बतावे कि आपका रथ कहाँ है ? महाराज ! क्या ईषा (दड) रथ है ?

नही भन्ते !

क्या अक्ष रथ है?

नही भन्ते !

क्या चक्के रथ है ?

नही भन्ते !

रथ का पञ्जर रथ है ?

नही भन्ते !

क्या रथ की रस्सियाँ रथ है ?

नही भन्ते !

क्या लगाम रथ है ?

नही भन्ते !

क्या चाबुक रथ है ?

नही भन्ते !

"महाराज ! आपसे पूछते-पूछते मैं थक गया, किन्तु यह पता नही लगा कि रथ कहाँ है ? क्या रथ केवल एक शब्द मात्र है ? आखिर यह रथ है क्या ? महाराज ! आप झूठबोलते है कि रथ नही है ! महाराज ! सारे जम्बूद्वीप[1] के आप सबसे बडे राजा हैं, भला किससे डरकर आप झूठ बोलते हैं !

पाँच सौ यवन और मेरे अस्सी हजार भिक्षुओ ! आप लोग सुने ! राजा मिलिन्द ने कहा—मैं रथ पर यहाँ आया, किन्तु मेरे पूछने पर कि रथ कहाँ है, वे मुझे नही बता पाते । क्या उनकी बाते मानी जा सकती है ?

इस पर उन पाँच सौ यवनो ने आयुष्मान् नागसेन को साधुकार देकर राजा मिलिन्द से कहा—"महाराज ! यदि आप दे सके तो उत्तर दे ।"

तब राजा मिलिन्द ने आयुष्मान् नागसेन से कहा—भन्ते नागसेन ! मैं झूठ नही बोलता । ईषा इत्यादि रथ के अवयवो के आधार पर केवल व्यवहार के लिए "रथ" ऐसा एक नाम कहा जाता है ।

महाराज ! बहुत ठीक, आपने जान लिया कि रथ क्या है । इसी तरह मेरे केश इत्यादि के आधार पर व्यवहार के लिए "नागसेन" ऐसा एक नाम कहा जाता है । किन्तु, परमार्थ मे 'नागसेन' ऐसा कोई एक पुरुष विद्यमान नही है । भिक्षुणी वज्रा ने भगवान् के सामने कहा था—

"जैसे अवयवो के आधार पर 'रथ' सज्ञा होती है, उसी तरह स्कन्धो के होने से एक 'सत्व (जीव)' समझा जाता है ।"[2]

भन्ते नागसेन ! आश्चर्य है ! अद्भुत है !! इस जटिल प्रश्न को आपने बडी खूबी के साथ सुलझा दिया । यदि इस समय भगवान् बुद्ध स्वयं होते

---

१. भारतवर्ष का प्राचीन नाम पालि-साहित्य में जम्बूदीप है । अभी तक लका के लोग भारतवर्ष को 'दमदिव' के नाम से पुकारते हैं, जो जम्बूद्वीप का ही सिहली रूप है ।

२. देखो, सयुत्त-निकाय ५।१०।६

तो वे भी अवश्य साधुवाद देते—साधु, साधु, नागसेन! तुमने इस जटिल प्रश्न को खूबी के साथ सुलझा दिया।

'मिलिन्द प्रश्न' छ भागो मे विभक्त है—१. पूर्वयोग २ मिलिन्द-प्रश्न ३ लक्षण-प्रश्न ४ मेण्डक-प्रश्न ५ अनुमान-प्रश्न ६. उपमाकथा प्रश्न।

इनमे मिलिन्द प्रश्न के दो भाग है—(क) लक्षण और (ख) विमतिच्छेदन। मेण्डक-प्रश्न के भी (क) महावर्ग और (ख) योगी कथा नामक दो भाग है।

पूर्वयोग मे मिलिन्द तथा नागसेन के पूर्वजन्म की कथा है। लक्षण प्रश्न के अन्तर्गत विविध तत्त्वो के लक्षण दिए गए हैं और विमतिच्छेदन प्रश्न मे निर्वाण तथा भगवान् बुद्ध सम्बन्धी अनेक शकाओ का निराकरण किया गया है। मेण्डक-प्रश्न मे दुविधाएँ, अनुमान प्रश्न मे धर्मनगर की कल्पना तथा उपमा-कथा-प्रश्न मे विविध जीवो के गुण का वर्णन मिलता है।

बुद्धघोष के पूर्व ही 'दीपवस' की रचना हुई थी। वस्तुत यह महासेन के राजत्व काल [३२५ ई० से ३५२ तक] का सीलोन का इतिहास है। चूकि बुद्धघोष को इसका नाम मालूम था, अतएव इसकी रचना ३५२ ई०—४५० ई० के बीच हुई होगी। साहित्यिक-दृष्टि से दीपवस का कुछ भी महत्त्व नही है। प्रणेता का पालिभाषा का ज्ञान भी साधारण ही प्रतीत होता है, किन्तु इस ग्रथ का ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। इसके निर्माता ने पुरानी अट्ठकथाओ से सामग्री लेकर ही इसकी रचना की है। इसमे उपलब्ध तथ्यो की भारतीय परम्परा से भी पुष्टि हो जाती है।

द्वितीय युग: (५वीं शताब्दी से ११वीं तक)

पालि-साहित्य के द्वितीय युग का प्रारम्भ त्रिपिटक की अट्ठकथाओ से होता है। पालि-अट्ठकथाओ का आधार प्राचीन सिहली मे लिखित अट्ठकथाएँ है। इस अट्ठकथा-साहित्य के प्रणेता आचार्य बुद्धघोष बतलाए जाते है जिनके जीवन के सम्बन्ध मे अन्यत्र लिखा जा चुका है। सीलोन के राजा महानाम (४५८ ई० से ४८०) के शासनकाल मे ये भारत से सिहल आए। अनुराधपुर के महाविहार मे इन्होने त्रिपिटक तथा उसकी अट्ठकथाओ का गम्भीर अध्ययन किया और इसके पश्चात् वे पालि अट्ठकथाओ के प्रणयन मे प्रवृत्त हुए। बुद्धघोष ने निम्नलिखित अट्ठकथाएँ लिखी—

१ विनयपिटक १ समन्तपासादिका—विनयपिटक की अट्ठकथा
२ कखावितरणी—पातिमोक्ख की अट्ठकथा
२ सुत्तपिटक ३. सुमगलविलासिनी—दीघनिकाय की अट्ठकथा

४ पपञ्चसूदनी—मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा
५ सारत्थपकासिनी—संयुक्तनिकाय की अट्ठकथा
६ मनोरथपूरणी—अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा
७ परमत्थजोतिका—खुद्दकनिकाय के 'खुद्दकपाठ' तथा सुत्तनिपात की अट्ठकथा

३ अभिधम्मपिटक ८. अट्ठसालिनी—धम्मसंगनी की अट्ठकथा
९. सम्मोहविनोदनी—विभंग की अट्ठकथा
१०. पञ्चप्पकरणट्ठकथा—अभिधम्म पिटक के 'धातुकथा', 'पुग्गलपञ्चत्ति' 'कथावत्थु' 'यमक' तथा 'पट्ठानप्पकरण' की अट्ठकथा।

अभिधम्मपिटक की अट्ठकथा को सामान्य रूप से 'परमत्थकथा' के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके अतिरिक्त जातक, धम्मपद तथा अपदान की अट्ठकथाओं के प्रणेता भी बुद्धघोष ही बतलाए जाते हैं। कहा जाता है कि सीलोन जाने के पूर्व ही उन्होंने 'ज्ञाणोदय' तथा 'अट्ठसालिनी' का प्रणयन भारत में ही किया था।

अट्ठकथाओं के अतिरिक्त बुद्धघोष की सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति "विसुद्धि मग्ग (विशुद्धि मार्ग)" है। इसमें बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया गया है। यदि इसे बौद्धसिद्धान्तों का कोष कहा जाय तो इसमें तनिक भी अत्युक्ति न होगी। इस ग्रन्थ का आरम्भ अत्यन्त रोचक ढंग से हुआ है। श्रावस्ती में विहार करते हुए भगवान् बुद्ध के समीप एक देवपुत्र ने किसी रात में आकर अपने संशय को मिटाने के लिए—

> अन्तो जटा बहि जटा जटाय जटिता पजा।
> तं तं गोतम पुच्छामि को इमं विजटये जटन्ति॥

यह प्रश्न पूछा। इसका संक्षेप में यह अर्थ है—

'जटा' से यहाँ जालरूपी तृष्णा से तात्पर्य है। यह तृष्णा रूपादि विषयों में ऊपर-नीचे (सर्वत्र) पुन-पुन उत्पन्न होने के कारण, सीने (बाँधने या जकड़ने) के अर्थ में वेणु गुल्मादि (बाँस, झाड़ी) की शाखाओं से घनीभूत जटा के समान है। उस जटा के स्वकीय और परकीय पदार्थों में, स्वात्म भाव और परात्म भाव में तथा आध्यात्मिकायतन और बहिरायतनों में उत्पन्न होने के कारण उसे "अन्तो जटा बहि जटा", कहा गया है। इस प्रकार उत्पन्न होने से "जटाय जटिता पजा", (=इस जटा से प्रजा जकड़ी हुई) है। 'तं तं गोतम

पुच्छामि,—हे गौतम ! हे बुद्ध ! इसीलिए मैं आपसे पूछता हूँ कि 'को इमं विजटये जटन्ति'—कौन इस जटा को विजटित करे (=सुलझावे)? भाव यह है कि संसार के समस्त जीव तृष्णारूपी जटा में आबद्ध हैं। उन्हें इस बन्धन से मुक्त करने में कौन समर्थ है?

इस प्रश्न के पूछे जाने पर सर्वधर्मों में अप्रतिहत ज्ञानवाले, देवों के देव, इन्द्रों के इन्द्र, ब्रह्मा के ब्रह्मा, चार वैशारद्यों में विशारद, दस बलों के धारण करनेवाले, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा भगवान् बुद्ध ने निम्नलिखित गाथा कही—

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो,
चित्तं पञ्ञञ्च भावयं,
आतापी निपको भिक्खु
सो इमं विजटये जटन्ति ।

अर्थात् शील में प्रतिष्ठित होकर समाधि तथा विदर्शना की भावना करते हुए वीर्यवान् तथा प्रज्ञावान् भिक्षु इस जटा को विजटित करने (सुलझाने) में समर्थ है।

'सील' (शील), 'समाधि' एवं 'पञ्ञा' (प्रज्ञा) इन तीन भागों में ही 'विसुद्धि मग्ग' विभक्त है। यह ग्रन्थ संस्कृत की शास्त्रीय शैली में पालि में लिखा गया है। इससे यह विदित होता है कि बौद्ध होने के पूर्व आचार्य बुद्धघोष इस शैली में पूर्णरूप से अभ्यस्त हो चुके थे।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि 'जातकट्ठकथा' (जातक की अट्ठकथा) के प्रणेता भी आचार्य बुद्धघोष ही हैं। यहाँ 'जातक' तथा 'जातकट्ठकथा' में अन्तर जान लेना आवश्यक है। त्रिपिटक में जिस जातक (ग्रंथ) का समावेश है, वह केवल गाथाओं का संग्रह मात्र है। जिस प्रकार 'धम्मपद' एक वस्तु है और 'धम्मपद अट्ठकथा' दूसरी, इसी प्रकार जातक एक चीज है और 'जातकट्ठकथा' दूसरी। अन्तर यह है कि धम्मपद का अर्थ 'धम्मपद अट्ठकथा' के बिना भी समझ में आ सकता है। जातक यद्यपि धम्मपद की ही तरह गाथाएँ मात्र हैं, तो भी उन गाथाओं से, यदि पहले से कथा मालूम हो, तो पाठक को वह कथा याद आ सकती है, किन्तु यदि कथा मालूम न हो तो अकेली गाथाओं से उद्देश्य पूरा नहीं होता। बिना जातकट्ठकथा के जातक अधूरा है।

फिर जातक में केवल भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों से सम्बन्ध रखनेवाली गाथाएँ भर हैं। 'जातकट्ठकथा' में अट्ठकथा सहित असल जातक कथाएँ आरम्भ होने से पहले निदानकथा नाम का एक लम्बा उपोद्घात है। इस निदान

कथा मे सिद्धार्थ गौतम बुद्ध के जीवन चरित के साथ उनके पूर्व के २७ बुद्धों का भी जीवन-चरित है। यह बुद्धवस से उद्वृत किया हुआ प्रतीत होता है।

जातकट्ठकथा तीन भागो मे विभक्त है—

(१) दूरे निदान (२) अविदूरे निदान (३) सन्तिके निदान।

वोधिसत्त्व ने जब सुमेध तपस्वी का जन्म ग्रहण कर दीपङ्कर के चरणो मे जीवन समर्पित किया, उस समय से लेकर वेस्सन्तर का शरीर छोड, तुषित स्वर्गलोक मे उत्पन्न होने तक की कथा दूरेनिदान कही जाती है। तुषित-लोक से च्युत होकर महामाया देवी के गर्भ से उत्पन्न हो बोधगया मे बुद्धत्त्व प्राप्त करने तक की कथा अविदूरे निदान कही जाती है। जहाँ जहाँ भगवान् बुद्ध ने विहार करते समय कोई जातक-कथा कही, उन स्थानो का जो उल्लेख है, वह सन्तिके निदान है।

जितनी जातक कथाएँ है, वे दूरे-निदान के ही अन्तर्गत आती है। प्रत्येक जातक कथा चार भागो मे विभक्त है—(१) पच्चुपन्नवत्थु (२) अतीतवत्थु (३) अट्ठवण्णना (४) समोधान। पच्चुपन्नवत्थु से वर्तमान कथा से तात्पर्य है। इनमे भगवान् बुद्ध के समय की किसी घटना का उल्लेख रहता है। अतीतवत्थु मे तात्पर्य है, किसी भी ऐसे अवसर पर बुद्ध द्वारा कही हुई पूर्वजन्म की कथा। प्रत्येक कथा मे एक या अनेक गाथाएँ है। अट्ठवण्णना से इन गाथाओ की व्याख्या से तात्पर्य है। इनमे गाथाओ का शब्दार्थ तथा विस्तृत अर्थ रहता है। समोधान सदैव अन्त मे आता है। इसमे भगवान् बुद्ध बतलाते है कि उन्होंने जो अतीतवत्थु सुनाई, उसके प्रधान पात्रो मे कौन कौन था और वे स्वय उस समय किस योनि मे उत्पन्न हुए थे।

इसमे सन्देह नही कि पालि अट्ठकथा का आधार सिहली मे लिखित पुरानी अट्ठकथाएँ है। आरम्भ मे गाथाओ तथा कथाओ की परम्परा साथ-साथ चली होगी ,किन्तु इन दोनो मे थोडा अन्तर भी है। जहाँ तक गाथाओं का सम्बन्ध है, ये बहुत कुछ अपरिवर्तित रही है, किन्तु कहानियो मे सदैव परिवर्तन होता रहा। यही कारण है कि गाथाओ तथा कथाओ मे कही-कही विरोधाभास भी मिलता है। सक्षेप मे, जातक आख्यान के समान है, किन्तु सभी जातक इस प्रकार के नही है। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही, सीलोन मे उपदेश देते समय जातक कथाएँ कहने की परम्परा है, इससे इनकी सर्वप्रियता के सम्बन्ध मे सहज मे ही अनुमान किया जा सकता है।

जातक-कथाएँ वस्तुत भारत की प्राचीनतम कथाओ मे से है। निस्सन्देह इनमे से अनेक की मौखिक परम्परा प्राचीनकाल से ही चली आ रही होगी। अतएव इन पर बौद्धो तथा अबौद्धो का समान अधिकार है। भदन्त आनन्द

कौसल्यायन ने ठीक ही कहा है[1]—"प्राचीनकाल का कथा-साहित्य तब आज की तरह स्पष्ट रूप से बौद्ध और अबौद्ध विभाग मे विभक्त नही था। उस समय एक ही कथा ने बौद्धो के हाथो बौद्धरूप और अबौद्ध कलाकारो के हाथो मे पड़कर अबौद्ध रूप धारण किया होगा।" सच बात तो यह है कि इन कथाओ का बौद्धीकरण 'पच्चुपन्नवत्थु' मे ही हुआ होगा, क्योकि यह 'अतीत-वत्थु' के बाद का है। इन कथाओ की घटनाओ के स्थानो पर भी विचार करने की आवश्यकता है। 'अतीतवत्थु' की कथाओ का क्षेत्र प्राय पश्चिमी एव उत्तरी भारत (गन्धाररट्ठ आदि) है, किन्तु 'पच्चुपन्नवत्थु' की कथाओ मे पूर्वी भारत (कोसल तथा मगधरट्ठ) का ही उल्लेख मिलता है।

इस 'जातकट्ठकथा' का रचयिता अथवा संग्रहकर्त्ता कौन है? विल्हेम गाइगर[2] का अनुमान है कि इसका प्रणेता सीलोन का कोई स्थविर होगा। सम्भव है, यह बुद्धघोष ही हो अथवा उन्ही का समकालीन कोई अन्य व्यक्ति हो। आनन्द कौसल्यायन जातकट्ठकथा के प्रणयन का श्रेय बुद्धघोष को नही देना चाहते। आप लिखते है[3] —

जातकट्ठकथा के रचयिता ग्रन्थ के आरम्भ मे कहते है कि "बुद्धधर्म की चिरस्थिति चाहनेवाले अर्थदर्शी स्थविर सहवासी तथा एकान्त प्रेमी शान्त-चित्त पण्डित बुद्धमित्त, और महिशासक वश मे उत्पन्न, शास्त्रज्ञ शुद्ध बुद्धि भिक्षु बुद्धदेव के कहने से महापुरुषो के चरित्र के अनन्त प्रभाव को प्रकट करनेवाली जातक अर्थवण्णना की महाविहारवालो के मत के अनुसार व्याख्या करूँगा। यहाँ इस आत्म-परिचयात्मक लेख मे जो महिशासक सम्प्रदाय के बुद्धदेव का नाम है, वह कुछ बहुत अनोखा है, खटकनेवाला है। महिशासक सम्प्रदाय स्थविरवाद से बाहर निकला हुआ एक सम्प्रदाय था। महाविहार परम्परा शुद्ध स्थविरवाद को ही माननेवाली परम्परा रही है। आचार्य बुद्धघोष ने अपनी नव अट्ठकथाओ मे इसी परम्परा को अपनाया है। यदि जातकट्ठकथा बुद्धघोष रचित मानी जाय, तो उसमे महिशासक सम्प्रदायी बुद्धदेव की याचना का क्या अर्थ?"

धम्मपदट्ठकथा वस्तुत जातककथा के बाद की चीज है। इसकी आर-म्भिक गाथाओ से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल सिहली अट्ठकथा से ही इसका पालि मे अनुवाद हुआ है। कतिपय विद्वानो का मत है कि बुद्धघोष

---

१. आनन्द कौसल्यायन—जातक [प्रथम खण्ड] की भूमिका, पृ० २५-२६

२. विल्हेम गाइगर—'पालि लिट्रेचर एड लैंग्वेज'

३. देखिए—जातक, (प्रथम खण्ड) की भूमिका, पृ० २२-२३

इसके प्रणेता न थे, किन्तु बहुत सम्भव है कि किसी पुरानी अट्ठकथा के आधार पर इसकी रचना हुई थी। धम्मपदट्ठकथा में प्रत्येक गाथा अथवा गाथा समूह के रचना-स्थान तथा अवसर आदि का निर्देश मिलता है। पहले धर्मदेसना (धर्मोपदेश) के रूप में बुद्ध कहानी कहते हैं और अन्त में गाथा आती है। इन गाथाओं की भी शब्दश: व्याख्या इस अट्ठकथा में मिलती है।

धम्मपदट्ठकथा एक प्रकार से जातकट्ठकथा का पूरक है। जातक की भाँति ही इसकी कहानियाँ भी अत्यन्त प्राचीन हैं, किन्तु इन दोनों में अन्तर यह है कि जातक की कहानियों की अपेक्षा धम्मपदट्ठकथा की कहानियों में बौद्धधर्म सम्बन्धी भावना अधिक है। इसी में 'किसागोतमी' (कृशा गौतमी) की कथा भी है। गौतमी अपने मृतक पुत्र को गोद में लिए बुद्ध के पास पहुँच जाती है और उनसे उसे जिलाने की प्रार्थना करती है। बुद्ध उससे कहते हैं— गौतमी! कहीं से सरसों माँग ला, किन्तु यह उस घर का होना चहिए जिसके घर कभी कोई मरा न हो। वह चारों ओर से भटककर अन्त में बुद्ध के पास लौट आती है, किन्तु इस व्यर्थ प्रयास में उसे संसार की अनित्यता का बोध हो जाता है और वह बुद्ध के शरणापन्न हो जाती है। इस अट्ठकथा में स्थान-स्थान पर जातकों, निकायों, 'विमानवत्थु, 'पेतवत्थु', 'सुत्तनिपात' तथा 'विनय-पिटक' के उद्धरण भी मिलते हैं।

बुद्धघोष के साथ-साथ बुद्धदत्त का उल्लेख भी आवश्यक है। परम्परा-नुसार आप बुद्धघोष के समकालीन थे। कहा जाता है कि आपने 'बुद्धवंस' पर 'मधुरत्थविलासिनी' अथवा 'मधुरत्थपकासिनी' नामक अट्ठकथा की रचना की थी। आपकी अन्य रचनाएँ 'विनयविनिच्छय' 'उत्तर विनिच्छय' 'अभिध-म्मावतार' तथा 'जिनालंकार' बतलाई जाती हैं। इनमें से 'विनयविनिच्छय' तथा 'उत्तर विनिच्छय' तो विनयपिटक सम्बन्धी रचनाएँ हैं, किन्तु 'अभिधम्मा-वतार' का सम्बन्ध अभिधम्मपिटक से है। प्रथम कृति को छोडकर अन्य के सम्बन्ध में यह निश्चयात्मक-रूप से नहीं कहा जा सकता कि इनके रचयिता बुद्धदत्त ही थे। यह भी सम्भव है कि बाद के किसी बुद्धदत्त की कृतियों को भी बुद्धघोष के समकालीन बुद्धदत्त की रचनाओं के साथ सम्मिलित कर दिया गया हो।

बुद्धदत्त के बाद आनन्द का नाम आता है। आप भारत के निवासी थे तथा आपने 'मूलटीका' अथवा 'अभिधम्म मूलटीका' की रचना की थी। यह अभिधम्म की अट्ठकथा पर सबसे प्राचीन टीका है। कहा जाता है कि बुद्ध-मित्त की प्रेरणा से बुद्धदत्त ने इस टीका की रचना की थी। यह भी प्रसिद्ध है कि बुद्धमित्त के आग्रह से ही बुद्धघोष ने 'पपचसूदनी' की रचना की थी। यदि

यह सत्य मान लिया जाय तो इससे यह निष्कर्ष निकला कि आनन्द भी बुद्धघोष के समकालीन थे।

खुद्दकनिकाय के कतिपय ग्रन्थो—उदान, इतिवुत्तक, विमान और पेत-वत्थु, थेर तथा थेरीगाथा एव चरियापिटक—पर बुद्धघोष ने कोई अट्ठकथा अथवा टीका नही लिखी थी, अतएव इन पर धम्मपाल ने "परमत्थदीपनी" टीका लिखी। इसके अतिरिक्त धम्मपाल के नाम से निम्नलिखित रचनाएँ भी प्रसिद्ध हैं—

१ महाटीका अथवा परमत्थमजूषा—यह विसुद्धिमग्ग की टीका है।

२ नेत्तिप्पकरणस्स अत्थवण्णना—यह नेत्ति की टीका है।

३ लीनात्थ वण्णना—अपनी ही रचना पर टीका है।

४ लीनात्थपकासिनी—यह चारो निकायो—दीघ, मज्झिम, सयुक्त अगुत्तर की अट्ठकथा पर टीका है।

५. जातकट्ठकथा टीका।

६ बुद्धदत्त के मधुरत्थविलासिनी की टीका।

७ अभिधम्मत्थट्ठकथा की अनुटीका।

अन्त की चार टीकाएँ आज उपलब्ध नही है।

बुद्धघोष के बाद, धम्मपाल पालि-साहित्य के सर्वाधिक प्रसिद्ध टीकाकार है। बहुत सम्भव है कि धम्मपाल नाम के अन्य टीकाकार भी हुए हो और उनकी कृतियाँ विख्यात टीकाकार धम्मपाल के नाम से प्रचलित हो गई हो। इस धम्मपाल का समय भी विवादग्रस्त है। यदि यह नालन्द विहार के धम्मपाल है जो ह्वेनसाग के आचार्य के आचार्य थे तो इनका समय बुद्धघोष से एक शताब्दी बाद होगा, किन्तु निश्चित सामग्री न उपलब्ध होने से इस सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा जा सकता।

पालि-साहित्य के प्राचीन टीकाकारो की सूची नीचे दी जाती है—

१ **चुल्लधम्मपाल**—आप आनन्द के शिष्य थे तथा आपने "सच्च सखेप" की रचना की थी।

२ **उपसेन**—आपने 'निद्देस' पर 'सधम्मप्पजोतिका' अथवा 'सधम्मट्ठितिका' टीका लिखी थी।

३ **महानाम**—आप 'पटिसम्भिदामग्ग' की टीका 'सधम्मप्पकासिनी' के रचयिता थे।

४ **कस्सप**—आपने 'मोहविच्छेदनी' तथा 'विमतिच्छेदनी' की रचना की थी।

५ **वजिर बुद्धि**—आपने 'समन्तपासादिका' पर 'वजिरबुद्धि' टीका की

रचना की थी। 'गन्ध वस' मे महावजिर वुद्धि, तथा चुल्लवजिरवुद्धि का उल्लेख मिलता है। ये दोनो जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) के निवासी थे। कहा जाता है कि महावजिरवुद्धि ने 'विनयगन्वि' की रचना की थी।

६ **खेम**—आप 'खेमपप्करण' के प्रणेता थे। आपके नाम का उल्लेख 'चुल्ल धम्मपाल' तथा अनुरुद्ध के नामो के साथ हुआ है।

७ **अनुरुद्ध**—ने 'अभिधम्मत्थ सग्रह' का प्रणयन किया था। अभिधम्म पर यह ग्रथ अत्यधिक प्रसिद्ध एव प्रचलित है और १२वी शताब्दी के कई प्रसिद्ध स्थविरो ने इस पर टीकाएँ लिखी हैं। अनुरुद्ध ने अभिधम्म-सम्बन्धी दो अन्य ग्रन्थो—'परमत्थविनिच्छय' तथा 'नामरूप परिच्छेद'—की भी रचना की थी। इन दोनो ग्रंथो पर भी दो टीकाएँ लिखी गई।

विनयपिटक सम्बन्धी दो अन्य ग्रथो का उल्लेख भी आवश्यक है। ये हैं—धम्मसिरि कृत 'खुद्दसिक्खा' तथा महासामिन द्वारा रचित 'मूल सिक्खा'। ये भिक्षुओ के लिए संघ-सम्बन्धी नियमो के सग्रह हैं और कठाग्र करने के लिए पद्य-बद्ध किए गए हैं। इनकी कई टीकाएँ उपलब्ध हैं तथा सिहली मे भी इनका अनुवाद हुआ है। इनकी भाषा तथा शैली से यह स्पष्ट हो जाता है कि ११वी शताब्दी के पहले की ये रचनाएँ नही हैं। राजा परक्कम बाहु प्रथम के पोलोन्नरुअ के गल विहार के १२वी शताब्दी के मध्यभाग के एक शिला-लेख मे इन ग्रथो का उल्लेख मिलता है जिससे इतना तो प्रमाणित ही हो जाता है कि इस समय के पहले ही इनकी रचना हुई होगी।

पालि-साहित्य मे 'दीपवस' तथा 'महावंस' इतिहास-सम्बन्धी ग्रथ हैं। ये दोनो वस्तुत सिहल के इतिहास हैं। इन दोनों के विषय भी एक ही है। दोनो मे केवल विषय की ही समानता नही है, बल्कि दोनो का वर्णनक्रम भी एक ही है। 'महावंस', 'दीपवंस' के पीछे की रचना है। इससे या तो वह दीपवंस की नकल है या इन दोनो के रचयिताओ ने किसी तीसरी जगह से सामग्री और उसका क्रम ग्रहण किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिहल भाषा मे लिखित पुरानी अट्ठकथा ही इनका आधार है। महावश की टीका मे इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है :—"आचार्य ने पुरानी सिहल अट्ठकथाओ मे से अति विस्तार तथा पुनरुक्ति दोषो को छोड़कर सरलता से समझ मे आने योग्य करके 'महावंश' को लिखा।"[1]

---

१. अयं हि आचरियो एत्थ पोराणकम्हि सीहल अट्ठकथा महाबसे अतिवित्थार पुनुरुत्त दोस भाव पहाय तं सुखग्गहणादि पयोजन सहितं कत्वा कथेसि (महावंस टीका, पृ० २५)।

दीपवस तथा महावंस मे एक अन्तर यह है कि काव्य की दृष्टि से दीपवंस का कुछ भी महत्त्व नही है। वह नितान्त शुष्क तथा भर्ती की चीज प्रतीत होता है। उस मे कही-कही पद्य के बीच मे गद्य भी आ गया है, किन्तु इसके विपरीत महावस तो एक सरस तथा श्रेष्ठ महाकाव्य है। महावस का शब्दार्थ है, महान् लोगो का वंश।[1] महान लोगो के वस का परिचय करानेवाला होने से तथा स्वय भी महान् होने से इसका नाम पडा महावश।[2]

'दीपवश' के रचयिता के नाम का पता नही है, किन्तु महावस के टीकाकार के अनुसार इसके प्रणेता का नाम महानाम स्थविर था। वे स्थविर दीघसन्द द्वारा निर्मित विहार मे रहते थे। दीघसन्द सेनापति राजा देवानाप्रिय तिस्स (ई० पू० २४७-२०७ ई० पू० तक) के सेनापति थे। वस्तुत तिस्स तथा दुट्ठगामणी (ई० पू० १०१-७७ ई० पू०) इन सिंहल के दो राजाओ का ही वर्णन महावस मे विशेप रूप से हुआ है। मूल महावस सैंतीसवे परिच्छेद की पचासवी गाथा तक मे ही समाप्त हो जाता है। गाइगर के अनुसार इसकी रचना छठी शताब्दी के आरम्भ मे राजा धातुसेन के राजत्व-काल मे हुई होगी। इसके बाद भी महावस को लिखने की परम्परा जारी रही और यह सन् १९३६ मे समाप्त हुई।[3]

वैयाकरण कच्चायन बुद्धघोप के बाद हुए। उनके द्वारा रचित 'कच्चायन व्याकरण' अथवा 'कच्चायनगन्ध' पालि-भाषा का प्राचीनतम व्याकरण माना जाता है। आर० ओ० फ्राके के अनुसार बुद्धघोष तथा धम्मपाल के पूर्व भी व्याकरण की कोई प्रणाली प्रचलित होगी। यह प्रणाली कच्चायान से भिन्न होगी और कदाचित् बोधिसत्त के व्याकरण पर आधारित होगी। कच्चायन व्याकरण की सबसे बडी त्रुटि यह है कि यह सस्कृत तथा पालि के ऐतिहासिक सम्बन्ध के विपय में मौन है। इस कच्चायन का न तो बुद्ध के शिष्य महाकच्चायन से ही कोई सबध है और न पाणिनीय व्याकरण के वार्तिककार कात्यायन से ही। 'नेत्ति' तथा 'पेटक' के प्रणेता कच्चायन मे भी ये भिन्न है। निस्सन्देह कच्चायन बुद्धघोप के बाद के है, अन्यथा आचार्य ने उनके व्याकरण के पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया होता। कच्चायन ने अपने व्याकरण के प्रणयन मे कातन्त्र तथा पाणिनि के व्याकरणो के अतिरिक्त काशिका का भी उपयोग किया था। काशिका का रचनाकाल सातवी शताब्दी है। इससे कच्चायन

---

१. महतान वसो तन्ति पवेणि महावसो (महावंस टीका, पृ० १९)

२. महतान वस परिदीपकत्ता, सयमेव महत्तत्तापि, महावसो नाम (महा० व० टीका, पृ० ७)

३ आनन्द कौसल्यायन—महावश, पृ० २-३

के समय पर भी प्रकाश पडता है। इस महाव्याकरण के अतिरिक्त कच्चायन 'महानिरुत्तिगन्ध' तथा 'चूल निरुत्तिगन्ध' के रचयिता भी बतलाए जाते हैं। कच्चायन के व्याकरण पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इन मे विमलबुद्धि-कृत 'न्यास' प्रसिद्ध है। इसका दूसरा नाम 'मुखमत्तदीपनी' भी है। बारहवी शताब्दी के अन्त मे इस पर छपद ने 'न्यास-प्रदीप' नामक टीका लिखी थी।

तृतीय युग : (१२वीं शताब्दी से आधुनिक युग तक)

सीलोन के राजा परक्कमबाहु प्रथम (११५३-११८६) का शासन-काल वस्तुत. पालि-साहित्य रचना का स्वर्ण-युग था। उसके तत्त्वावधान मे महा-कस्सप थेर ने बुद्धघोषकृत मागधी भाषा मे लिखित अट्ठकथाओ की टीका प्रस्तुत करने के लिए एक सगीति (सभा) की आयोजना की। इन टीकाओ की सूची निम्नलिखित है—

१ सारत्थ दीपनी—विनयपिटक की अट्ठकथा, समन्त पासादिका की टीका।

२ पठम-सारत्थ मजूसा—दीघनिकाय की अट्ठकथा, सुमगल विलासिनी की टीका।

३ द्वितीय सारत्थ मजूसा—मज्झिम निकाय की अट्ठकथा, पपञ्चसूदनी की टीका।

४. तृतीय सारत्थ मजूसा—सयुक्त निकाय की अट्ठकथा, सारत्थप्प-कासिनी की टीका।

५ चतुत्थ सारत्थ मजूसा—अगुत्तर निकाय की अट्ठकथा, मनोरथ-पूरणी की टीका।

६ पठम परमत्थप्पकासिनी—धम्मसगनी की अट्ठकथा, अट्ठमालिनी की टीका।

७ दुतिय परमत्थप्पकासिनी—विभंग की अट्ठकथा, सम्मोहन विनोदनी की टीका।

८. ततिय परमत्थप्पकासिनी—धातुकथा आदि की अट्ठकथा, पञ्चप्प करणट्ठकथा की टीका।

इन टीकाओ मे सारिपुत्तकृत 'सारत्थदीपनी' आज भी सुरक्षित है। पपञ्च-सूदनी की टीका 'लीनात्थ पकासना' भी वस्तुत. सारिपुत्त की ही कृति है।

महाकस्सप द्वारा आयोजित सगीति का विवरण भी प्राचीन सगीतियो के विवरण जैसा ही है। बहुत सम्भव है कि इस संगीति के द्वारा टीकाओ की रचना को विशेष रूप से प्रोत्साहन मिला हो। इस टीका-साहित्य की रचना मे

सारिपुत्त तथा उनके शिष्यो का विशेष हाथ था। ऊपर लिखित दो ग्रथो के अतिरिक्त 'विनय सग्रह' भी सारिपुत्त की रचना बतलाई जाती है। 'गन्व वस' के अनुसार तो 'मनोरथ पूरणी' की टीका 'सारत्थ मजूसा' के रचयिता भी आप ही थे।

सारिपुत्त के कई शिष्य हुए। इनका विवरण नीचे दिया जाता है—

१. **संघ रक्खित**—आप 'खुद्दकसिक्खा टीका' के प्रणेता थे। 'नूतन टीका' का भी नाम दिया गया है और इसका रचना-काल महायम द्वारा प्रणीत पोराण (प्राचीन) टीका के वाद का है। इन दोनो टीकाओ की हस्तलिखित प्रतियाँ आज भी सुरक्षित है।

२ **बुद्धनाग**—आपने 'कखावितरणी की टीका' 'विनयत्थ मजूसा' की रचना की थी जो हस्तलिखित रूप मे आज भी सुरक्षित है।

३. **वाचिस्सर**—'गन्ववस' मे आप द्वारा रचित अट्ठारह ग्रन्थो का उल्लेख मिलता है। इनमे से निम्नलिखित ग्रन्थो की हस्तलिखित प्रतियाँ आज भी उपलव्व है —

(क) मूलसिक्खा अभिनव टीका—यह विमलसारकृत पोराण टीका के वाद की रचना है।

(ख) सीमालकार सग्रह—इसका सम्वन्ध 'विनय' से है। इसमे सीमा विशेष मे रहनेवाले भिक्षुओ के उन धार्मिक कृत्यो का सग्रह है जिन्हे उन्हे सघरूप मे करना चाहिए।

(ग) खेमप्पकरण टीका—यह खेम द्वारा रचित 'खेमप्पकरण' की टीका है।

(घ) नामरूप परिच्छेद टीका—यह अनुरुद्ध द्वारा रचित 'नामरूप परिच्छेद' की टीका है।

(ङ) सच्चसखेप टीका—यह 'सच्चसखेप' पर सुमगल की टीका से पुरानी है।

(च) अभिवम्मावतार टीका—यह बुद्धदत्त की प्रसिद्ध कृति 'अभिवम्माव-तार' की टीका है।

(छ) रूपारूपविभाग—इसका सम्वन्ध 'अभिधम्म' से है।

इनके अतिरिक्त 'विनयविनिच्चय', 'उत्तरविनिच्चय' टीकाओ एव 'खुद्दक सिक्खा' पर 'सुमगलप्पसादनी' तथा 'योगविनिच्चय' और 'पच्चयसग्रह' आदि ग्रन्थो का भी उल्लेख मिलता है। बहुत सम्भव है कि वाचिस्सर नाम के अन्य स्थविरो के ग्रन्थ भी इस सूची मे सम्मिलित कर लिए गए हो।

४. **सुमगल**—आपने अनुरुद्ध के 'अभिधम्मत्थ सग्रह' पर 'अभिधम्मत्थ

विभावनी एव 'अभिधम्मावतार' पर 'अभिधम्मत्थ विकासनी' नामक टीकाओ की रचना की थी। इसी प्रकार आप 'सच्चसखेप टीका' के भी प्रणेता थे। इसका दूसरा नाम 'अभिनव टीका' भी है। ये तीनो ग्रन्थ हस्तलिखित रूप मे आज भी उपलब्ध है।

सधम्म जोतिपाल अथवा छपद भी सारिपुत्त की शिष्य मण्डली मे से थे। आप बरमा-निवासी थे, किन्तु आपकी शिक्षा-दीक्षा सीलोन मे हुई थी, जहाँ परम्परानुसार आप सन् ११७० से ११८० तक रहे थे। आप द्वारा रचित (क) 'विनयसमुट्ठान दीपनी' (ख) 'पातिमोक्ख विसोधनी' (ग) 'विनय-गूढत्थ दीपनी' का सम्बन्ध विनयपिटक से है। इनमे विनयपिटक के कठिन अगो की मीमासा की गई है। इनके अतिरिक्त आप (घ) 'सीमालकार सगह टीका' के भी रचयिता है। आपने अभिधम्म से सम्बन्ध रखनेवाले (ङ) 'माति-कत्थ दीपनी' (च) 'पट्ठान गणनानय' (छ) 'नामचार दीप' ग्रन्थो की रचना की थी। आपकी (ज) 'अभिधम्मत्थ सगह सखेप टीका' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। यह अनुरुद्ध द्वारा प्रणीत 'अभिधम्मत्थ सगह' पर लिखी गई है। एक और ग्रन्थ (झ) 'गन्धसार' के रचयिता भी छपद ही बतलाए जाते हैं। वस्तुत यह त्रिपिटक के कुछ अशो का सकलन है।

छपद के साथ ही साथ बरमा के एक अन्य भिक्षु सारिपुत्त अथवा धम्म-विलास का उल्लेख आवश्यक है। आपकी मृत्यु सन् १२४६ मे हुई थी। आप की उपसम्पदा आनन्द के तत्त्वावधान मे हुई थी। आनद वस्तुत उन चार स्थविरो मे से थे जो छपद के साथ सीलोन से बरमा गए थे। धम्मविलास ही बरमा के प्राचीनतम धर्मशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ 'धम्मविलास-धम्मसत्थ' के रचयिता हैं। बरमा के विधान (कानून)-सम्बन्धी ग्रन्थो का यह आधार है।

सारिपुत्त के शिष्यो ने बौद्धधर्म एव कथा-साहित्य के क्षेत्र मे भी पर्याप्त कार्य किया। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित ग्रन्थ एव उनके प्रणेता उल्लेखनीय है—

१. धम्मकित्ति—आपने 'दाठावस" की रचना की थी जिसके अन्त मे आप ने अपने को सारितनुज का शिष्य बतलाया है। इस ग्रन्थ की प्रारम्भिक गाथाओ से यह स्पष्ट हो जाता है कि १३वी शताब्दी के आरम्भ मे इसकी रचना हुई थी। इसमे बुद्ध के 'दन्त-धातु' की कथा है। महावस मे इस सम्बन्ध मे जो सामग्री है, उसका आधार सम्भवत. सीलोन मे परम्परा से प्रचलित दन्त-कथाएँ हैं। 'दाठावस' मे इन समस्त सामग्री का उपयोग किया गया है।

२. वाचिस्सर—आप भी कदाचित् सारिपुत्त के शिष्य थे। आपने 'थूप-वस' की रचना की है। यह गद्यग्रथ है। इसमे 'निदानकथा' 'समन्तपासादिका'

तथा टीका सहित 'महावस' के कुछ अश संगृहीत है। १३वी शताब्दी के प्रथमार्ध मे इसकी रचना हुई थी। इसके बाद १२५०-१२६० मे सिंहली मे भी इसका अनुवाद हुआ।

३. बुद्ध रक्खित—आपने 'जिनालकार' की रचना की थी। पद्य मे लिखित इस ग्रन्थ की शैली नितान्त कृत्रिम एव अलकारपूर्ण है। यह प्रारभ से लेकर सम्मासम्बुद्ध होने तक का भगवान बुद्ध का जीवन है, ग्रन्थ के अन्त मे लेखक ने अपना नाम तथा सवत् १७०० (बुद्धाब्द=११५६) दिया है। बुद्धदत्त द्वारा लिखित 'जिनालकार' से उसका कोई सम्बन्ध नही है।

४ मेधंकर—आपने 'जिन चरित' का प्रणयन किया था। इसका भी विषय वही है जो 'जिनालकार' का। इसकी शैली भी अत्यधिक कृत्रिम है। गधवस के अनुसार आप भी सारिपुत्त के शिष्य थे तथा वाचिस्सर, सुमगल एव धम्मकित्ति के बाद हुए थे। मेधकर ने अपने ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है कि राजा विजयबाहु द्वारा निर्मित परिवेण मे आपने अपने ग्रन्थ की रचना की थी। यह उल्लेख प्रशस्ति रूप मे हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि इस राजा के राजत्वकाल मे लेखक ने अपना ग्रन्थ लिखा होगा। यदि इस बात को सत्य मान लिया जाय तो यह विजयबाहु तृतीय होगा, जिसका शासनकाल १२२५ से १२२९ तक था। और मेधकर वाचिस्सर के समसामयिक होगे।

सीलोन की परम्परागत उपलब्ध सामग्री की दृष्टि से 'महावस' की टीका 'वसत्थप्पकासिनी' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। सभवत इसका रचना काल बारहवी शताब्दी है। इसमे अट्ठकथाओ की सामग्री का भी समावेश किया गया है। यही कारण है कि यह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन गई है।

वेदेह थेर का समय तेरहवी शताब्दी है। उसका जन्म विप्पगाम के ब्राह्मण वश मे हुआ था। वह आनदथेर का अन्तेवासी था। इसके दो अन्य ग्रन्थ (१) समन्तकूट वण्णना एव (२) रसवाहिनी प्रसिद्ध हैं। इनमे से प्रथम ग्रन्थ पद्यबद्ध है, जिसमे बुद्ध के जीवन तथा उनके तीन बार लका मे पदार्पण करने का वर्णन है। अपनी तीसरी यात्रा मे भगवान् बुद्ध ने समन्तकूट पर अपने वाम पद का चिह्न छोडा था, जो श्रीपद के नाम से अभिहित किया जाता है। द्वितीय ग्रन्थ रसवाहिनी गद्य मे लिखित कहानियो का सकलन है। इन्हें मूल सिंहली से पालि मे अनूदित किया गया है। मूलत इसे महाविहार के रट्ठपाल ने पालि मे अनूदित किया था। किन्तु इसे बाद मे वेदेहथेर ने परिष्कृत रूप दिया था। रसवाहिनी मे कुल १०३ कहानियो का सग्रह है, जिनमे से ४० का जम्बूदीप से तथा शेष ६३ का लकाद्वीप से सम्बन्ध है। ऐसा

प्रतीत होता है कि मूल रूप मे इसकी सामग्री अट्ठकथाओ से ली गई है।
'सहस्स वत्थुप्पकरण' मे एक सहस्र कहानियाँ हैं। विषय की दृष्टि से इसका सम्बन्ध रसवाहिनी से है। कहा जाता है कि ये कहानियाँ बर्मा से सीलोन मे आई है।

वैदेहथेर के ही समसामयिक वुद्धप्पिय हे। आप 'पज्जमधु' काव्य के प्रणेता हैं। इस काव्य मे १०४ पद हैं। इसमे भगवान् वुद्ध के सौन्दर्य एव ज्ञान का वर्णन है। ग्रन्थ के अंतिम गाथा मे पूर्व की एक गाथा मे कवि ने अपना नाम दिया है तथा अपने को आनन्द का शिष्य वतलाया है। निस्सन्देह ये वही आनन्द हैं जो वैदेह रथ के गुरु थे। "अत्तनगलुविहारवस" की रचना भी समवत तेरहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुई थी। इसमे गद्य और पद्य दोनो का सम्मिश्रण है। इसमे श्री सघवोधि एव उनकी पत्नी की मृत्यु की कथा उपलब्ध है। इनकी जहाँ पर मृत्यु हुई थी, वही पर अत्तनगलुविहार का निर्माण हुआ था। इस ग्रन्थ के प्रणेता का नाम अज्ञात है।

महानाम कृत 'महावस' विशेष रूप से 'चूलवस' के नाम से विख्यात है। यह सीलोन का इतिहास है। परम्परानुसार इसका मूल लेखक धम्मकित्ति थेर था। महावस के अनुसार यह परक्कमवाहु द्वितीय (तेरहवी शताब्दि के पूर्वार्द्ध) के शासन-काल मे वरमा से सीलोन आया था। परक्कमवाहु चतुर्थ के शासन-काल [आरम्भ सन् १२८४] मे महावस मे नई सामग्री का समावेश किया गया। महावश के द्वितीय खण्ड के ३७ से ९० अध्यायो मे, प्रथम परक्कमवाहु [११५३ से ११८६] के सुशासन का वर्णन है। अठारहवी शताब्दि के उत्तरार्द्ध मे राजा कित्तिसिरि ने अपने युग का इतिहास महावस मे समाविष्ट कराया। इसके १०१ वे अध्याय मे, सीलोन मे अंग्रेजों के आगमन तक का वर्णन है।

तेरहवी-चौदहवी शताब्दि के सन्धिकाल मे पालि मे जो ग्रथ लिखे गए, उनका विवरण इस प्रकार है—

(१) सारसगह—इसके प्रणेता सिद्धत्थ हैं। यह धर्म सम्बन्धी ग्रथ है तथा इसमे गद्य एव पद्य दोनो है। लेखक ने ग्रथ के अन्तिम पदो मे अपना नाम दिया है तथा अपने को वुद्धप्पिय का शिष्य वतलाया है। यदि यह वही वुद्धप्पिय है जिन्होने "पज्जमधु" की रचना की थी तो 'सारसगह' का रचनाकाल स्पष्ट है। "मोग्गलान पञ्चिका पदीप" मे 'सारसगह' का उल्लेख मिलता है। पदीप की रचना सन् १४५७ मे हुई थी अतएव सारसगह की रचना इससे पूर्व अवश्य हो गई होगी। इसके विषय का ज्ञान इसके अध्यायों के शीर्षको से स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ १ से ३ अध्याय के शीर्षक हैं, 'वुद्धान अभिनिहारं', 'तथागतस्स अच्छरियानि' तथा 'पञ्चअन्तरधानानि'। इसी प्रकार १३ से १५ अध्याय

के शीर्षक, 'सीलानि', 'कम्मट्ठानानि' तथा 'निब्बान' और ३० से ३४ अध्याय के शीर्षक 'नागा', 'सुपण्णा', 'पेता', 'असुरा' तथा 'देवा' हैं। इसके अन्तिम अध्याय का विषय 'लोकसठिति' है।

२ इस युग का दूसरा ग्रंथ 'सद्धम्म सगह' है जिसके प्रणेता धम्मकित्ति महासामिन है। पालि वाङ्मय के ये अन्तिम धम्मकित्ति हैं। इसके नवें अध्याय मे अनेक ग्रथो एव उनके रचयिताओ के नाम मिलते है। इनमे से अन्तिम रचना तेरहवी शताब्दी की है। सद्धम्मसगह मे चालीस अध्याय हैं। वास्तव मे यह प्रथम सगीति से लेकर तेरहवी शताब्दी तक का बौद्धधर्म का इतिहास है। इसमे बौद्ध धर्म-सम्बन्धी कुछ नवीन तथ्य नही मिलते।

चौहवी शताब्दी मे निम्नलिखित ग्रथो का प्रणयन हुआ--

१. लोकप्पदीपसार--सासनवस के अनुसार इसके प्रणेता, बर्मा के भिक्षु मेधकर थे। आपने सीलोन मे बौद्धधर्म तथा पालिभाषा एव साहित्य का अध्ययन किया था। इस कृति के 'सखारलोक' मे नरक, प्रेत, पशु एव मानव योनियो तथा 'सत्तलोक' एव 'ओकास लोक' मे विविध योनियो का वर्णन है। इसके विभिन्न प्रकरणो को अनेक कथाओ द्वारा स्पष्ट किया गया है। उदाहरणार्थ इसके पाँचवें अध्याय मे मनुष्य-योनि का वर्णन किया गया है, किन्तु स्पष्टी-करण के लिए यहाँ महावस से अनेक कथाएँ दी गई है।

२. पञ्चगतिदीपन--ऊपर के विषय से ही सम्बन्धित यह दूसरा ग्रथ है। इसमे ११४ गाथाएँ है। इन गाथाओ मे पुनर्जन्म के रूप मे पशु, प्रेत, मानव अथवा देव-योनियो का वर्णन है। इस ग्रथ के प्रणेता एव उसके समय के सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञात नही है।

३ बुद्धघोसुप्पत्ति--इसके प्रणेता 'महामगल' हैं। यदि ये वही व्यक्ति है जो वैयाकरण मगल के नाम से विख्यात हैं तो इनका समय चौदहवी शताब्दी मानना पडेगा। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह ग्रथ बुद्धघोष का जीवन-चरित हैं। पूर्वाचार्यो ने बुद्धघोष के जीवन-चरित के सम्बन्ध मे जो सामग्री उपलब्ध की थी, उसी के आधार पर इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है।

यहाँ दो अन्य ग्रथो का भी विवरण दिया जाता है, जिनके प्रणेता के नाम एव समय का पता नही है।

१. सद्धम्मोपायन--यह ६२१ गाथाओ का सग्रह है, जो नौ अध्यायो मे विभक्त है। इसमे बुद्धधर्म की प्रशसा की गई है। इसके आरम्भ मे आठ 'अक्खणा' एव 'अकुसलानि' (दस अकुसल धर्मो) तथा प्रेतयोनि के दुःखो का वर्णन है। तदुपरान्त पुण्य-फल एव दान-शील का वर्णन है और अन्त मे अप्पमाद का उल्लेख किया गया है।

२. तेलकटाह गाथा—इनमे ९८ गाथाएँ हैं। इसके रचयिता एक स्थविर माने जाते हैं जिन्हे कटाह (कड़ाह) मे खौलते हुए तेल मे डालने का राजदण्ड मिला था। उन पर यह मिथ्या आरोप लगाया गया था कि उन्होने कल्याणी के राजा तिस्स की पत्नी की, एक षडयंत्र मे सहायता की थी। इस कथा का सम्बन्ध रोहण के कथाचक्र से है तथा महावस मे भी इसका उल्लेख मिलता है। खौलते हुए तेल से स्थविर की किसी प्रकार हानि नही हुई क्योकि वे बराबर गाथाओं (तेल कटाह मे सग्रहीत गाथाओ) का पाठ करते रहे। इन गाथाओ मे बौद्धधर्म के सिद्धान्तो को प्रकाशित करनेवाले मृत्यु, जीवन की क्षणभगुरता, दुःख एव अनात्मवाद सम्बन्धी विचार मिलते हैं।

पन्द्रहवी शताब्दी से, पालि वाङ्मय के क्षेत्र मे, सर्वाधिक कार्य बर्मा के भिक्षुओ ने किया। इन्होने 'अभिधम्म' का विशेषरूप से अध्ययन किया। इनके अध्ययन का विवरण यहाँ दिया जाता है।

१ अरियवस—आप नरपति (१४४२-६८) के राजत्व-काल मे आवा मे रहते थे। आपने निम्नलिखित ग्रथो का प्रणयन किया था—

(क) मणिसारमञ्जूसा—यह सुमगल कृत अभिधम्मथविभावनी की टीका है। (ख) इनकी दूसरी कृति बुद्धघोस कृत अट्ठसालिनी की 'मणिदीप-टीका' है। (ग) इनकी तीसरी कृति का नाम 'जातक विसोधन' है। यह जातक-सम्बन्धी है।

२ सधम्मपाल सिरि—आप भी अरियवस के समकालीन थे। आपने 'नेत्तिभावनी' का प्रणयन किया था। यह नेत्ति की टीका है।

३. सीलवस—आप ऊपर के दोनो लेखको के कुछ समय बाद हुए। आप ने 'बुद्धालंकार' काव्य-ग्रथ की रचना की थी। यह निदानकथा के सुमेध के सम्बन्ध मे है।

४. रट्ठसार—आपने जातको को पद्यबद्ध किया।

इसी (पन्द्रहवी) शताब्दी मे 'कामविरतिगाथा' की रचना हुई थी। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। इसमे शारीरिकता से विरत होने की प्रक्रियाओ का उल्लेख है।

५. सोलहवी शताब्दी मे सद्धम्मालकार ने 'पट्ठानदीपनी' का प्रणयन किया। यह अभिधम्म सम्बन्धी ग्रंथ है।

इसी शताब्दी मे बुद्धघोस ने वगरु-धम्मसत्थ द्वारा तलैंग भाषा मे लिखित ग्रंथ का 'मनुसार' के नाम से पालि मे अनुवाद किया। वास्तव मे मूल ग्रथ तेरहवी शताब्दी मे लिखा गया था। मनुसार बर्मा के सम्पूर्ण विधि-साहित्य का आधार है। इसकी सामग्री के आधार पर बर्मी एव पालि, दोनो मे विधि-

सम्बन्धी ग्रथो का प्रणयन हुआ है। पालिग्रथो मे अठारहवी शताब्दी के 'मनु-वण्णना' एव उन्नीसवी शताब्दी के 'मोहविच्छेदनी' के नाम उल्लेखनीय है।

सत्रहवी शताब्दी के पालि-ग्रथो का विवरण इस प्रकार है—

१. तिपिटकालकार—आप द्वारा प्रणीत निम्नलिखित ग्रथ उल्लेखनीय है—

(क) 'विसतिवण्णना' —यह अट्ठसालिनी के आरम्भिक बीस पदो की टीका है। (ख) यसवड्ढनवत्थु तथा (ग) विनयालकार, ये दोनो सारिपुत्र-कृत 'विनयसंग्रह' की टीकाएँ हैं।

२ तिलोकगुरु—आपने निम्नलिखित ग्रथो का प्रणयन किया था—

(क) 'धातु कथा—टीका वण्णना' तथा

(ख) 'धातुकथा अनुटीका वण्णना', ये दोनो धातुकथा की टीकाएँ हैं। इसीप्रकार (क) 'यमकवण्णना' तथा (घ) 'पट्ठान वण्णना', अभिधम्म के पट्ठान की टीकाएँ हैं।

३ सारदस्सिन—आपने 'धातुकथा योजना' का प्रणयन किया था।

४ महाकस्सप—ने 'अभिधम्मत्थगण्ठिपद' की रचना की थी। इसमे अभिधम्म के गूढ शब्दो की व्याख्या की गई है।

५ ञाणाभिवस—आप बर्मा के सघराज थे तथा आप ने निम्नलिखित ग्रथो का प्रणयन किया था—

(क) पेटकालकार—यह नेत्ति की टीका है। (ख) 'साधुविलासिनी—यह 'दीघनिकाय' के एक भाग की टीका है। (ग) आपने धर्म सम्बन्धी कई कथाओ का भी प्रणयन किया था जिनमे 'चतुसामणेर वत्थु' एव 'राजवादवत्थु' के नाम उल्लेखनीय हैं। (घ) आप द्वारा रचित 'राजाधिराज विलासिनी' एक विशिष्ट कृति है। यह राजा बोडोपया की प्रशसा मे लिखी गई है। यह श्रेष्ठ साहित्यिक कृति है और इसके बीच-बीच मे बौद्धकथाओ, विशेषतया जातको के उद्धरण मिलते हैं।

ऊपर के ग्रथो से पुरानी एक अन्य कृति 'मालालकार' है। इसके प्रणेता का नाम अज्ञात है।

अब यहाँ कतिपय उन ग्रथो का विवरण दिया जाता है जो उन्नीसवी शताब्दी मे लिखे गये थे। इनमे से कई ऐसे हैं जिनकी ठीक-ठीक रचना-तिथि देना कठिन है—

१. 'नलाट धातुवस'—इसके लेखक का नाम एव उसका समय अज्ञात है। इसमे भगवान् बुद्ध के ललाट की पवित्र धातु का वर्णन है। यह सिंहली मे प्राप्त धातुवस का पालिरूप है। इसमे उतने ही अध्याय है जितने सिंहली धातु-वस मे। सम्भवत सिंहली धातुवस का यह मूल रूप है।

२. 'छकेस धातुवस'—यह भी भगवान् बुद्ध की पवित्र धातु के सम्बन्ध मे है ,इसके लेखक भी कोई आधुनिककाल के बर्मी भिक्षु है। यह गद्यग्रथ है और इसमे भगवान् बुद्ध के उन छह केशो का वर्णन है, जिनको उन्होने स्मृति-शेष के रूप मे अपने छह शिष्यों मे वितरित किया था तथा जिनके लिए कई स्थानो मे स्तूपो का निर्माण किया गया था।

३. 'सदेस कथा' तथा ४ 'सीमा विवाद विनिच्छय कथा'—ये दोनो ग्रथ भी आधुनिक काल की ही रचना है। इनसे बर्मा एव सीलोन के पारस्परिक सबध पर यत्किचित् प्रकाश पडता है। इनकी रचना १८०० तथा १८०१ ईस्वी मे हुई थी।

४. 'गधवस'—यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। इसका प्रणयन बर्मा मे हुआ था। इसमे पुस्तकालय-सूची की भाँति विभिन्न ग्रथकारो के नामो एव उनके ग्रथो की सूची दी गई है। मगलाचरण के पश्चात् सर्वप्रथम इसमे त्रिपिटक का विश्लेषण किया गया है। तदुपरान्त इसमे 'पोराणाचरिया' एव उन तीन संगीतियों के स्थविरो का वर्णन है जिन्होने 'बुद्ध-वचन' का सग्रह किया था। यही स्थविर 'अट्ठकथाचरिया' (अट्ठकथाओ के आचार्य अथवा प्रणेता) भी थे। गधवस मे महाकच्चायन को प्रसिद्ध 'कच्चान व्याकरण', 'महा एवं चुल्लनिरुत्ति' एव 'नेत्ति', 'पेटकोपदेस' तथा 'वण्णनीति' का प्रणेता बताया गया है। उन्हे अत्यन्त आदर से 'तिविध नामका चरिया' कहा गया है। इसके उपरान्त 'गधकाचरिया' (गधकाचार्यो) की सूची दी गई है। इसमे 'कुरुन्दी' 'तथा 'महापच्चरी' के रचयिताओ के नाम आरम्भ मे तथा इनके बाद बुद्धघो ., बुद्धदत्त, आनन्द -एव धम्मपाल आदि के नामो का उल्लेख मिलता है। अन्त मे 'अरियवस' एव 'उदुम्बर' के नाम दिये गये है। इसके बाद अज्ञात ग्रथकारो के ग्रथो की सूची है। तदुपरान्त लका एव जम्बूदीप के लेखको का उल्लेख है। सबसे अन्त में उन लेखको की चर्चा है जिन्होने आत्मप्रेरणा अथवा अन्य लोगो की प्रेरणा से ग्रथो का प्रणयन किया है।

५. सासनवस—इसके प्रणेता पञ्ञसामिन है। इसकी रचना सन् १८६१ ईस्वी मे हुई थी। यद्यपि यह ग्रथ बहुत बाद मे लिखा गया था किन्तु कई दृष्टियो से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योकि यह प्राचीन साहित्य के आधार पर तैयार किया गया है। इसके दस अध्यायो मे अशोक के समय तक की तीन बौद्धसगीतियो तथा सिहल (सीलोन) एव अन्य देशो मे बौद्धधर्म के प्रचारार्थ भेजे गए प्रचारको का पूर्ण विवरण है। इसके छठे अध्याय मे 'अपरन्त रट्ठ' अर्थात् बर्मा मे बौद्धधर्म के इतिहास के विषय मे विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। दीपवस तथा महावस के अनुसार बौद्धधर्म के प्रचार के लिए नौ

देशो मे प्रचारक भेजे गए थे। वर्मा की परम्परा के अनुसार इनमे से पाँच देश वृहत्तर भारत के थे। ये देश सुवण्ण भूमि, वनवासी, अपरन्त, योनक एव महारट्ठ थे। सासन वस के मुख्य स्रोत, समन्तपसादिका, दीपवम, महावस तथा वर्मा के इतिहास हैं। इनके साथ अट्ठकथाओ का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप मे ही इनका उपयोग हुआ है।

सिहल तथा वर्मा, दोनो देशो मे भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे भी पर्याप्त मात्रा मे कार्य हुआ, जिसके परिणामस्वरूप व्याकरण एव कोश-सम्बन्धी अन्य ग्रथो की रचना हुई।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से व्याकरण-विषयक ग्रथो को तीन वर्गों मे बाँटा जा सकता है। इनमे से प्रथम वर्ग मे कच्चायन शाखा के व्याकरण आते है। 'वालावतार' एव 'रूपसिद्धि' दोनो, कच्चायन शाखा के ही व्याकरण हैं। दूसरे वर्ग मे मोग्गल्लान शाखा के व्याकरण-ग्रथो को लिया जा सकता है। इसके अन्तर्गत 'पयोगसिद्धि' एव 'पदसाधना' की गणना की जाती है। तीसरा वर्ग 'सद्दनीति' का है जिसके अन्तर्गत 'चुल्लसद्दनीति' आती है।

इन तीनो वर्गों के तीन धातु पाठ भी है जो 'धातुमजूसा', 'धातुपाठ' एव 'धात्वत्थदीपनी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कोष ग्रथो मे 'अभिधानप्पदीपिका' का नाम उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त छन्दशास्त्र-सम्बन्धी भी कतिपय ग्रथ उपलब्ध हैं।

पालि-अध्ययन के सहायक-रूप मे इन ग्रथो का सही मूल्याकन फ्राके ने अपने 'पालि ग्रामर' मे किया है। सच वात तो यह है कि ये ग्रथ जीवन्त एव वोलचाल की पालि के आधार पर निर्मित नही हुए हैं। जैसे आज लोग अपने ग्रथो के निर्माण के लिए साहित्य से सामग्री का सकलन करते है, उसी प्रकार इन ग्रथो के प्रणेताओ ने भी किया है। परम्परा से भी ये ग्रथ उस युग के नही हैं, जव पालि वोलचाल की भाषा थी। इसके अतिरिक्त ये ग्रथ सस्कृत व्याकरण एव कोश-ग्रंथो की शैली एव उनके अनुकरण पर तैयार किए गए है। इस वात को दृष्टि मे रखते हुए हमे पालि के व्याकरणीय-रूपो एव शब्दो के सम्बन्ध मे सावधानी से विचार करने की आवश्यकता है तथा साहित्य मे इनके प्रयोग उपलब्ध होने पर ही इन्हे स्वीकार करना है। यह इसलिए आवश्यक है कि सस्कृत एव पालि मे अतिसानिध्य होने के कारण सस्कृत-व्याकरण के रूपो एव शब्दो को सहज भाव से कृत्रिम पालि के रूपो मे परिणत किया जा सकता है।

कच्चायन शाखा के व्याकरण पर जो टीका लिखी गई, वह 'न्यास' के

नाम से प्रसिद्ध है। इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस शाखा का दूसरा प्राचीन ग्रंथ—१. छपद कृत सुत्तनिद्देस है। इसका समय ११८१ ई० है। यह भी काच्चायन की टीका है। इसी युग की कृति २ सघरक्खितकृत 'सम्वन्ध चिन्ता' है। इसमे पालि वाक्य-रचना के विषय मे विचार किया गया है। इस पर भी एक टीका है, जिसके लेखक का नाम अज्ञात है। इसी शाखा का एक अन्य ग्रथ ३ सद्धम्मसिरिकृत 'सद्दत्थभेद चिन्ता' है। सद्धम्मसिरि वर्मा के अरिमद्दन के निवासी थे। इस पर भी एक टीका उपलब्ध है जिसके लेखक का नाम अज्ञात है। ४ 'रूपसिद्धि' अथवा 'पदरूपसिद्धि' कच्चायन व्याकरण का ही परिवर्तित रूप है। ग्रंथ के अन्त मे लेखक ने अपना नाम बुद्धप्पिय तथा उपनाम दीपकर दिया है और अपने को आनन्द थेर का शिष्य बतलाया है। यह सम्भवत वही व्यक्ति हैं जिन्होने 'पज्जमधु' का प्रणयन किया था। इस प्रकार 'रूपसिद्धि' का रचनाकाल तेरहवी शताब्दी का द्वितीयार्द्ध है। यह ग्रथ सात अध्यायो मे विभक्त है तथा इसकी सामग्री का विन्यास भी कच्चायन की भाँति है। इसमे तथा कच्चायन मे केवल इतना ही अन्तर है कि इसमे 'कितक' एव 'उणादि' दोनो सातवे अध्याय मे है। रूपसिद्धि की टीका एव इसका सिहली रूप भी है। सिहली रूप का नाम 'सन्नय' है। इस ग्रथ का उल्लेख राहुलकृत 'मोग्गल्लायन पञ्चिकापदीप' मे मिलता है, जो सन् १४५६ ई० मे लिखा गया था। ५. 'बालावतार' व्याकरण सस्कृत लघुकौमुदी की भाति है। इसका सर्वाधिक प्रचलन वर्मा तथा स्याम मे है। यह कच्चायन व्याकरण का लघुरूप है किन्तु इसका विन्यास उससे किंचित् भिन्न है। परम्परानुसार 'सद्धम्मसंगह' के कर्ता धम्मकित्ति इसके प्रणेता हैं। यदि यह सही है तो बालावतार का प्रणयन चौदहवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे हुआ होगा। गधवस के अनुसार इसके प्रणेता वाचिस्सर थे जिनका समय तेरहवी शताब्दी है। बालावतार की एक टीका भी है जिसके लेखक का नाम अज्ञात है। ६ 'सद्दसारत्थजालिनी'—इसके लेखक वर्मा के भिक्षु कण्टक खिप नागित हैं, जो नागित के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है। इसका रचनाकाल सन् १३५६ ई० है। इसी काल मे अभिधानप्पदीपिका की भी रचना हुई थी। इसका विन्यास भी बहुत कुछ कच्चायन व्याकरण की भाँति ही है। इसके ३ से ९ अध्याय ठीक कच्चायन के १ से ७ अध्याय के समान है।

कच्चायन शाखा के अन्य व्याकरण इस प्रकार हैं—

७. कच्चायन भेद—यह महायस थेर कृत टीका है, जिसका रचनाकाल चौदहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध बतलाया जाता है। फॉसबोल के अनुसार इसके रचयिता रस्मथेर हैं। इस ग्रथ की दो टीकाएँ हैं जिनमे सात अध्याय है।

इनमे से एक टीका 'सारत्थ विकासिनी' है जिसके प्रणेता वर्मा के भिक्षु अरिया-लकार है। इसका रचनाकाल बुद्ध सवत् २१५२ (ईस्वी सन् १६०८) है। दूसरी टीका का नाम 'कच्चायनभेदमहाटीका' है और इसके रचयिता उत्तम-सिक्ख हैं। महायस ने एक अन्य ग्रथ 'कच्चायनसार' का भी प्रणयन किया है। आपने इसकी टीका भी लिखी है। सम्भवत यह टीका 'कच्चायनसार पुराण टीका' ही है जिसके लेखक का नाम अज्ञात बतलाया जाता है। इसी प्रकार 'कच्चायनसार अभिनव टीका' के लेखक वर्मा के भिक्षु सद्धम्म विलास हैं। इस टीका का अन्य नाम 'समोहविनासिनी' भी है।

८. सद्दबिन्दु— सम्भवत इसका रचनाकाल पन्द्रहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। सासनवस के अनुसार अरिमद्दन (वर्मा) के राजा, क्यच्वा इसके प्रणेता हैं।

सद्दबिन्दु की टीका 'लिनत्थसूदनी' का रचनाकाल सोलहवी शताब्दी का अन्तिम चरण है। इसके लेखक ञाणविलास हैं।

९. बालप्पबोधन— इसके लेखक का नाम एव इसका रचनाकाल अज्ञात है। इसके सम्पादक, सुवम्मालकार के अनुसार, इस ग्रन्थ की रचना सन् १५५६ ईस्वी मे हुई थी। यह निश्चित है कि 'कच्चायन भेद' एव 'सद्दत्थभेदचिन्ता' के बाद इसकी रचना हुई है। बालप्पबोधन की एक टीका भी उपलब्ध है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है।

१० अभिनव-चुल्लनिरुत्ति— इसके लेखक सिरिसधम्मालकार है। इसमे कच्चायन व्याकरण के अपवादों पर विचार किया गया है। इसके रचना-काल के सम्बन्ध मे निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है।

११. कच्चायन वण्णना— इसके प्रणेता वर्मा के थेर महाविजितावित हैं जो सन् १६०० ई० मे जीवित थे। यह कच्चायन के 'सन्धिकप्प' की टीका है। इसके मगलाचरण मे न्यास, रूपसिद्धि तथा सद्दनीति जैसे प्रसिद्ध एव पूर्ण व्याकरण-ग्रथो के रचयिताओ के नामो का उल्लेख मिलता है। यह कच्चायन वण्णना, उस कच्चायनवण्णना, से भिन्न ग्रथ है, जिसका उल्लेख 'रूपसिद्धि' के मगलाचरण मे मिलता है तथा जो बहुत पहले लिखा गया था। महाविजिता-विन ने एक अन्य ग्रथ 'वाचकोपदेस' की भी रचना की थी, जिसमे तार्किक दृष्टि से व्याकरण की कोटियो के सम्बन्ध मे विचार किया गया है।

कच्चायन के अतिरिक्त मोग्गल्लान अथवा मोग्गल्लायन अभिनव व्याकरण शाखा के प्रतिष्ठापक थे। इनकी कृतियो का विवरण यहाँ दिया जाता है—

१. मोग्गलायन व्याकरण— इसका दूसरा नाम 'सद्दलक्खण' भी है और यह वृत्ति-सहित है।

२. मोग्गलायन पञ्चिका—यह लेखक की अपनी कृति पर टीका थी। अब यह टीका नही मिलती है। विद्वानो के अनुसार कच्चायन की अपेक्षा मोग्गलान की कृति श्रेष्ठ है। यह सच है कि मोग्गलायन व्याकरण भी अन्य पालि-व्याकरणो की त्रुटियो से सर्वथा मुक्त नही है, किन्तु इसमे तनिक भी सन्देह नही कि सापेक्षिक दृष्टि से यह अधिक पूर्ण है और पालि भाषा के मूल तत्त्व को हृदयगम करने मे इससे सर्वाधिक सहायता मिलती है। इसके सूत्रो का विन्यास एव वर्गीकरण कच्चायन की अपेक्षा भिन्न है। इसमे कच्चायन से भिन्न पारिभाषिक शब्दो का भी प्रयोग किया गया है। प्राचीन पालि व्याकरणो, कातत्र एव पाणिनि के अतिरिक्त मोग्गल्लान ने अपनी इस कृति के प्रणयन मे चन्द्रगोमिन व्याकरण से अधिक सहायता ली है। मोग्गलान ने अपनी वृत्ति के अन्त मे ग्रथ-रचना का समय परक्कमभुज का राजत्वकाल दिया है। यह परक्कमभुज, परक्कमबाहु प्रथम के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति न था। इसका शासन काल ११५३ से ११८६ ई० था। मोग्गल्लान अनुराधपुर का निवासी था तथा वह 'थुपाराम' विहार का सदस्य था। गधवस के अनुसार मोग्गल्लान व्याकरण के एक टीकाकार का नाम वाचिस्सर था, किन्तु वह सारिपुत्त का शिष्य नही, अपितु कोई अन्य व्यक्ति था। मोग्गल्लायनपञ्चिकापदीप के प्रणेता राहुल का उपनाम भी वाचिस्सर था। सम्भवत. इसी कारण से वाचिस्सर के सम्बन्ध मे भ्रम हो गया।

कच्चायन-व्याकरण की भाँति ही मोग्गल्लायन शाखा मे भी अनेक व्याकरण-ग्रथो की रचना हुई। इसका विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

१ पदसाधन— इसके लेखक पियदस्सिन है। ये मोग्गल्लान के शिष्य थे तथा सम्भवत. इनका समय बारहवी शताब्दी का अन्तिम चरण था। पदसाधन वास्तव मे मोग्गल्लान का सक्षिप्त रूप है। डॉ० जोयसा के अनुसार पियदस्सिन तथा मोग्गलान मे वही सम्बन्ध है, जो बालावतार एव कच्चायन मे है। पदसाधन की एक टीका का नाम 'पदसाधन-टीका' अथवा बुद्धिप्पसादनी है। इसकी रचना सन् १४७२ ई० मे हुई थी। इसके रचयिता तित्थगाम-निवासी राहुल थे जिनका उपनाम वाचिस्सर था। राहुल सिंहली-साहित्य के प्रख्यात व्यक्ति हैं।

२. पयोगसिद्धि— इसके प्रणेता वनरतन मेधकर हैं। यह मोग्गल्लान शाखा का सर्वोत्कृष्ट व्याकरण है। डॉ० जोयसा के अनुसार मोग्गल्लान शाखा मे इसका वही स्थान है, जो कच्चायन शाखा मे रूपसिद्धि का स्थान है। लेखक ने इसकी रचना परक्कमबाहु के पुत्र भुवनेकबाहु के राजत्व-काल मे की थी। सम्भवत. यहाँ भुवनेकबाहु का तृतीय भुवनेकबाहु से तात्पर्य है। तब मेधकर

का समय १३०० ई० के आसपास होगा। यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि यह मेधकर उन दो मेघकरो से भिन्न व्यक्ति हैं जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है।

३. मोग्गल्लायनपञ्चिकापदीप— यह मोग्गल्लायनकृत अप्राप्य पञ्चिका की टीका है। इसके भी रचयिता पदसाधन के टीकाकार राहुल है। इस टीका के कुछ अश पालि तथा कुछ अश सिहली मे है। डी जोयसा के अनुसार पालि-व्याकरण के सम्बन्ध मे यह उत्कृष्ट एव विद्वत्तापूर्ण कृति है। इसकी रचना के लिए पालिभाषा विषयक बहुमूल्य सामग्री का सकलन किया गया है। इसके प्रणयन मे पचास अन्य व्याकरणो से सहायता ली गई है, जिनमे चन्द्र-कृत सस्कृत व्याकरण भी सम्मिलित हैं। इसका रचनाकाल १४५७ ई० है।

४. सद्दनीति—इसके प्रणेता अग्गवस है। प्राचीन परम्परा के मूल्याकन के लिए यह ग्रंथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अग्गवस वर्मा के अरिमद्दन स्थान के रहने वाले थे। सीलोन से पृथक् रहकर, वर्मा मे, स्वतत्ररूप से व्याकरण-सम्बन्धी जो अध्ययन हुआ था, वह इस ग्रथ द्वारा स्पष्टतया परिलक्षित होता है। यह प्रसिद्ध है कि व्याकरण के क्षेत्र मे वर्मा के भिक्षुओ ने जो गम्भीर अध्ययन किया था, उसकी सूचना उत्तराजीव मिशन द्वारा सीलोन पहुँची। इस सूचना की सत्यता की परीक्षा के लिए सीलोन के कतिपय भिक्षु वर्मा पहुँचे। उनके सम्मुख 'सद्दनीति' प्रस्तुत की गई और उन्हे यह स्वीकार करना पडा कि इसके टक्कर का व्याकरण का कोई ग्रथ सीलोन मे नही है। इसकी रचना का समय सन् ११५४ ई० है। अग्गवस के लेखक अग्गपण्डित तृतीय थे। आप अग्गपण्डित द्वितीय के भतीजे थे, जो स्वयं अग्गपण्डित प्रथम के शिष्य थे। बाद मे अग्गवस, राजा नरपति सिथु (११६७-१२०२) के शिक्षक बन गए। आर० ओ० फ्राके के अनुसार सद्दनीति का आधार कच्चायन व्याकरण ही है। विषय-वस्तु की दृष्टि से सद्दनीति को कच्चायन शाखा से पृथक् करना उचित नही है। किन्तु अपने व्याकरण की रचना मे अग्गवस ने पाणिनि तथा अन्य सस्कृत व्याकरणो से भी सहायता ली थी। मोग्गल्लान व्याकरण का उन्हे पता नही था, क्योंकि सम्भवत. उसकी रचना बाद मे हुई थी। सद्दनीति मे कुल २७ अध्याय है। आरम्भ के अठारह अध्यायो को 'महासद्दनीति' तथा शेष नौ अध्यायो को 'चुल्ल सद्दनीति' के नाम से अभिहित किया जाता है। ग्रथ के अन्त मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि इसका आधार पूर्वाचार्यों की कृतियाँ एव बुद्धवचन हैं।

जहाँ तक कोश-साहित्य से सम्बन्ध है, पालि मे प्राचीनकाल से केवल एक ही कोश उपलब्ध है और यह मोग्गल्लान कृत 'अभिधानप्पदीपिका' है। सामान्यतया यह बात मान्य एव स्वीकृत है कि कोशकार तथा

वैयाकरण मोग्गल्लान दो भिन्न व्यक्ति हैं। जैसा कि इस कोश के अन्त में दिया हुआ है, इसके प्रणेता पुलत्थिपुर (पोलोन्नरुवा) स्थित जेतवन विहार के सदस्य थे, किन्तु वैयाकरण मोग्गल्लान अनुराधपुर के थूपाराम विहार के सदस्य थे। गन्धवस मे भी, दोनो मे पार्थक्य प्रदर्शन के लिए, कोशकार मोग्गलान को 'नव-मोग्गल्लान' के नाम से अभिहित किया गया है। इन दोनो के समय मे बहुत अन्तर नही है। अभिधानप्पदीपिका के अन्त मे परक्कमभुज (परक्कमबाहु, प्रथम) के सम्बन्ध मे जो प्रशस्ति है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी रचना उनके शासनकाल (११५३-११८६) के तत्काल ही बाद हुई होगी। इस प्रकार इसका रचनाकाल बारहवी शताब्दी का अन्तिम चरण निर्धारित किया जा सकता है। अभिधानप्पदीपिका के तीन भाग—पर्यायवाची, समानवाची एव निपात हैं। इसमे १२०३ पद हैं तथा यह अमरकोश के आदर्श पर निर्मित हुआ है। जहाँ तक पर्यायवाची शब्दो का सम्बन्ध है, इनमे से अधिकाश अमरकोश से सीधे ले लिए गए हैं। इसके अनेक शब्दो को तो कोशकार ने स्वय सस्कृत से पालि मे परिवर्तित किया है। आर० ओ० फ्राके के अनुसार इसकी रचना मे सस्कृत के अन्य कोश से भी सहायता ली गई होगी। अभिधानप्पदीपिका के पूर्व किसी अन्य पर्यायवाची पालिकोश का पता नही चलता। अभिधानप्पदीपिका पर चौदहवी शताब्दी के मध्य मे एक टीका लिखी गई थी। यहाँ पर बर्मा के भिक्षु सद्धम्मकित्ति द्वारा रचित 'एकक्खर कोश' का उल्लेख भी आवश्यक है। यह इसी के समान सस्कृत कोश के आधार पर लिखा गया है। इसका रचनाकाल सन् १४६५ई० है।

जहाँ तक धातुपाठ-विषयक ग्रथो का प्रश्न है, १. 'धातुमजूसा' का सम्बन्ध कच्चायन शाखा से है। इसीलिए इसका दूसरा नाम 'कच्चायन-धातु मजूसा' भी है। इसके अन्त मे रचयिता का नाम सीलवस दिया हुआ है। ये अक्खद्दिलेन विहार के सदस्य थे। इस विहार को सम्प्रति यक्द्देसागल के नाम से अभिहित किया जाता है तथा यह कुरुनगल के समीप है। यह पद्यबद्ध है तथा इसमे १५० पद हैं। सुभूति के अनुसार इसकी रचना वोपदेवकृत कविकल्पद्रुम के आदर्श पर हुई है। इसकी धातुएँ कच्चायन के गण-पाठ के क्रम मे सजाई गई हैं जिससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि यह कच्चायन शाखा का ग्रंथ है। २. 'धातुपाठ'—इसका आधार मोग्गल्लान-कृत गणपाठ है। इसके लेखक का नाम एव समय अज्ञात है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह धातुमजूसा से पूर्व का ग्रथ है। ३. धात्वत्थदीपनी—फ्राके के अनुसार यह सद्दनीति के एक अध्याय के धातु-पदो की पद्य-बद्ध सूची है। यह सूची सद्दनीति के गणपाठ के अनुसार है। इसके लेखक ने पाणिनि के धातुपाठ का भी उपयोग किया है।

पालि मे अलकारो के सम्बन्ध मे सघरक्खित कृत 'सुबोधालकार' प्रसिद्ध ग्रथ है। इसकी एक टीका भी उपलब्ध है। इसी स्थविर द्वारा छन्दशास्त्र पर 'वुत्तोदय' का प्रणयन हुआ है। इसकी टीका का नाम 'वचनत्थ ज्योतिका' है। नीचे व्याकरण-विषयक कतिपय ऐसे ग्रथो का उल्लेख किया जाता है जिनके सम्बन्ध मे सुभूति ने विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु जो ऊपर के वर्गीकरण मे नही आ सके है—

(क) वच्चवाचक—इसके लेखक वर्मा के अरिमद्दन स्थान के निवासी सामणेर धम्मदस्सिन है। इसमे १०० पद है। इसका रचनाकाल चौदहवी शताब्दी का अन्तिम चरण। वर्मा स्थित खेमावतार विहार के भिक्षु सधम्म-नन्दिन की इस पर एक टीका भी उपलब्ध है। (ख) गन्धट्ठि—इसके लेखक मगल है तथा यह निपात-विषयक ग्रथ है। यह भी चौदहवी शताब्दी का ग्रथ है। (ग) गन्धाभरण—इसके लेखक अरियवस हैं। यह भी निपात-विषयक व्याकरण-ग्रथ है तथा इसका रचनाकाल सन् १४३६ ई० है। इस पर वर्मा के सुवण्णरासि की एक टीका भी है, जो १५८४ ई० में लिखी गई थी (घ) 'विभत्त्यत्थप्पकरण'—यह ग्रथ कारको के विषय मे है। इसमे ३७ श्लोक है। इसकी रचयिता वर्मा के राजा क्यच्वा की कन्या बतलाई जाती हैं। सुभूति के अनुसार इसकी रचना-तिथि सन् १४८१ई० है। इस पर 'विभत्त्यत्थ-टीका' भी है। एक अन्य टीका 'विभत्त्यत्थदीपनी' का उल्लेख डी ज़ोयसा एव फॉसबेल ने की है। सम्भवत ऊपर की दोनो टीकाएँ एक ही है। इसके मगलाचरण मे ऊपर का ही नाम मिलता है। इस कारण भी दोनो ग्रन्थो के एक होने का प्रमाण मिलता है। इनके अतिरिक्त डी ज़ोयसा ने एक अन्य कृति विभत्ति-कथावण्णना का भी उल्लेख किया है। (ङ) 'सवण्णनानयदीपनी'—इसकी रचना जम्बुधज ने सन् १६५१ ई० मे की थी। इसी लेखक की दो अन्य कृतियाँ 'निरुत्तिसघ' एव 'सर्वज्ञन्यायदीपनी' भी मिलती हैं। (च) 'सद्दउत्ति'—इसके प्रणेता सद्धम्मगुरु हैं तथा इसका रचनाकाल सन् १६५६ है। इस पर वर्मा के भिक्षु सारिपुत्र की एक टीका भी मिलती है। (छ) 'कारक पुप्फ मजरी'—इसके लेखक कैंडी के अत्तरगम वण्डार राजगुरु है। यह वाक्य-विचार-सम्बन्धी ग्रथ है तथा इसकी रचना कीर्ति श्री राजसिंह के राजत्वकाल (सन् १७४७-१७८०) मे हुई थी। इसी लेखक की एक अन्य कृति 'सुधीर मुखमण्डन' है जिसमे पालि-समास के विषय मे विचार किया गया है। (ज) 'नयलक्खण विभावनी'—इसके प्रणेता वर्मा के भिक्षु विचित्ताचार हैं। इनका समय अठारहवी शताब्दी का द्वितीयार्द्ध है।

●

व्युत्पत्ति-विज्ञान

•

व्युत्पत्ति विज्ञान यथार्थत ऐतिहासिक विज्ञान है। अँग्रेजी मे व्युत्पत्ति-विज्ञान के लिए 'एटिमालोजी' शब्द उपलब्ध है, जो फ्रेंच के 'एटिमालोगिए' शब्द से अध्याहृत है। फ्रेंच का यह शब्द भी लैटिन के 'एटिमोलोगिया' शब्द से निष्पन्न है। लैटिन का यह भी शब्द ग्रीक के एटुमोलोगिया से व्युत्पन्न है, जिसमे दो शब्द एटुमोस = सत्य, लोगोस = शब्द है। निष्कर्षतः जो शास्त्र शब्द के यथार्थ रूप का निरीक्षण करे, वह व्युत्पत्तिशास्त्र या विज्ञान है।

यदि कोई प्राश्निक यह परिपृच्छा करे कि व्युत्पत्ति-विज्ञान का उद्देश्य क्या है, तो यह कहना यौक्तिक होगा कि शब्दो के यथार्थ स्वरूप का अवधारण ही व्युत्पत्ति-विज्ञान का परम उद्देश्य है।

प्रसिद्ध व्यंग्य लेखक वाल्टेयर ने एक बार विनोद मे कहा था कि व्युत्पत्ति मे स्वरो का कोई महत्व नही है, व्यञ्जनो का तो यत्किञ्चित् हो भी सकता है।

उपर्युक्त कथन अठारहवी शताब्दी के आनुमानिक तथा अर्द्धसत्य व्युत्पत्ति के लिए सत्य हो सकता है, किन्तु अद्यतन व्युत्पत्ति-विज्ञान, जो स्वरो तथा व्यञ्जनो की ध्वन्यात्मक परिवर्तन की गहनता एवं तन्नियमो से अवगत है, कथमपि सत्य नही हो सकता है।

भारतीय मेधा शब्दो की व्युत्पत्ति एव निर्वचन की ओर प्राक्काल से ही केन्द्रित रही है। श्री युधिष्ठिर मीमासक ने तो अपने सस्कृत-व्याकरण-शास्त्र के इतिहास मे कतिपय ऐसे वैदिक मत्रो को उद्धृत किया है, जिनमे व्युत्पत्ति एव निरुक्ति का निर्देश उपलब्ध होता है। इनमे से कतिपय मंत्र इस प्रकार हैं -

१ यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवा

(ऋ० १।१६४।५०)

यज्ञ की निरुक्ति 'यज्' धातु से।

२ ये सहांसि सहसासहन्ते

(ऋ० ६।६६।९)

सहस् की निरुक्ति 'सह' धातु से।

३. पूर्वीरग्नन्तावग्विना

ऋ० २।५।३१

अग्विन् की निरुक्ति 'अग्' धातु से।

वैदिक मत्रो के शुद्ध उच्चारण के लिए एक ओर जहाँ शिक्षा-ग्रन्थो की आवश्यकता थी, वहाँ दूसरी ओर उनके अर्थ-बोध के लिए शब्दो की निरुक्ति भी अपरिहार्य थी। निरुक्त का अर्थ है निर्वचन, अर्थात् शब्द के अर्थ पर विचार करना। इस आवश्यकता की परिपूर्ति के लिए ही सर्वप्रथम वैदिक कोष 'निघण्टु' का प्रणयन हुआ। इस ग्रथ मे सगृहीत शब्दो का निर्वचन ही निरुक्त नाम से अभिहित किया जाता है। वस्तुत यह निरुक्त व्युत्पत्ति-विज्ञान के क्षेत्र मे विश्व का प्रथम प्रयास है। महर्षि यास्क ने इस महान् ग्रन्थ मे शब्दो की जो निरुक्ति दी है, उनमे सर्वांगत तो सभी यथार्थ एव यौक्तिक नही ही है। इसका कारण यह है कि महर्षि यास्क ने परम्परा-प्राप्त तथा आनुमानिक अर्थ बोध का आश्रय ग्रहण कर निरुक्ति देने का प्रयास किया है। उस समय समस्त विश्व की भाषाओ मे प्रचलित शब्दो के अभिज्ञान का कोई साधन नही था, जिसके बल पर वे वैदिक सस्कृत के शब्दो तथा अन्य भारतीय भाषाओं के शब्दों के सादृश्य तथा तदर्थ का विनिश्चय कर वैज्ञानिक व्युत्पत्ति देने का प्रयास करते।

अद्यतन व्युत्पत्ति-विज्ञानी, शब्दो की व्युत्पत्ति के लिए, ध्वन्यात्मक परिवर्तनों एवं प्रक्रियाओ की ओर से सापेक्षिक दृष्टि रखते हैं। किन्तु यह कहने मे कोई विचिकित्सा नही कि इन ध्वनि-परिवर्तनो के नियमो का निर्देश ई० सन् के पूर्व ही यास्क ने निम्न श्लोक मे किया है—

> वर्णागमो वर्ण विपर्ययश्च
> द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
> धातोस्तदर्थातिशयेन योगः
> तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

अर्थात् वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश तथा अर्थातिशययोग—ये ही पाँच निरुक्त के क्षेत्र हैं।

सम्प्रति व्युत्पत्ति-विज्ञान आधुनिक भाषाविज्ञान का एक गहन किन्तु महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। प्रथमत भाषाविदो ने अर्थ-विज्ञान तथा व्युत्पत्ति-विज्ञान दोनो को एक ही मे अनुबद्ध कर दिया था। किन्तु यह अवधेय है कि इन दोनों मे तात्त्विक भिन्नता है। व्युत्पत्ति-विज्ञान वस्तुत शब्द-समूहो के विवेचन का विषय है। शब्दकोश में प्राप्त सम्पूर्ण शब्दो के परीक्षणोपरान्त वे शब्द कैसे

आए, कब निर्मित हुए तथा किन परिस्थितियों में विवर्तित हुए—इत्यादि का यथार्थ निर्देश करना तथा तत्सदृश शब्दों का विश्व की अन्य प्राक् भाषाओं के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर यथार्थ रूप का निर्धारण करना ही व्युत्पत्ति-विज्ञान के परिवेश का विषय है।

व्युत्पत्ति-विज्ञान के परीक्षण के समय ध्वनिविज्ञान की भी परमापेक्षा है। शब्दों के रूप-विवर्तन का निरूपण ध्वनि-वैज्ञानिक प्रक्रिया के आधार पर ही सम्भव है। ध्वनिविज्ञान के साथ ही व्युत्पत्ति-विज्ञान के लिए रूप-सरचना (Morphological Construction) भी आवश्यक है।

जीव-विज्ञान जिस प्रकार जीवन्त प्राणी की वर्त्तमान अवस्था तथा उसकी पूर्ववर्त्ती वैकासिक प्रक्रिया के निरूपण मे अत्यवहित होता है, उसी प्रकार व्युत्पत्तिविज्ञानी भी शब्दों की वर्त्तमान अवस्था के अभिज्ञान के पश्चात् उनके पूर्ववर्ती रूपों के निर्वचन या निरूपण मे तत्पर होता है। साथ ही वह किसी भी काल में प्राप्त शब्दों के ऐतिहासिक निर्वचन तक ही सीमित नही रहता अपितु तत्काल मे उसके ये रूप कैसे आये—इसके लिए वह पूर्ववर्ती ऐतिहासिक विवेचना की ओर अग्रसर होता है, तथा यथासभव अन्य मानवीय भाषाओं के शब्दों के साथ उसके सम्बन्ध का निर्धारण करता है।

इस सदर्भ मे यह ध्यातव्य है कि व्युत्पत्ति-वैज्ञानिक जब ध्वनि तथा उसके व्याकरणिक रूप के सम्बन्ध-ज्ञापक सूत्रों से अवगत हो जाता है, तब उसे शब्दों की व्युत्पत्ति मे क्षमता प्राप्त होती है।

अधुना व्युत्पत्ति-विज्ञानी शब्दों की वैज्ञानिक व्युत्पत्ति की ओर ही अवहित है। शब्दों की व्युत्पत्ति दो रूपों में दी जाती रही है, जिसमे प्रथम लोक-व्युत्पत्ति (Popular etymology) तथा दूसरा वैज्ञानिक व्युत्पत्ति (Scientific etymology) है। लोकव्युत्पत्ति से शब्दों के यथार्थरूप का अवधारण नही हो पाता है क्योंकि उसका आधार अनुमान-सिद्ध रहता है।

लोक-व्युत्पत्ति के कुछ उदाहरण ध्यातव्य हैं। यथा—मौसी की व्युत्पत्ति कुछ विद्वानों ने 'मा-सी' '(अर्थात् माता के समान) शब्द से दिया है, किन्तु यह यौक्तिक नही है। वस्तुत यह शब्द मातृष्वसा शब्द से निष्पन्न है तथा प्राय अधिकाश भारतीय आर्यभाषाओं तथा पालि, प्राकृत एव अपभ्रश मे इसके रूप उपलब्ध है। इसी प्रकार वकील शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत के पण्डितों ने वाच कीलयति य स वाक्कील, जो अपने वाक्य से न्यायाधीश की बुद्धि को कीलित कर देता है, उसको वाक्कील या वकील कहते हैं।

वैज्ञानिक-व्युत्पत्ति (scientific etymology) मे द्विविध अध्ययन की अपेक्षा है। प्रथमत हम किसी शब्द की व्युत्पत्ति के लिए नव्य भाषा से प्राक्

कालिक भाषा के शब्दों के साथ ध्वन्यात्मक सम्बन्ध स्थापित कर तथा द्वितीयत प्राक्-भाषा से नव्य भाषा के शब्दो से सादृश्यात्मक निरूपण के पश्चात् अग्रसर हो सकते है। यथा हिन्दी, भोजपुरी, मगही, अवधी तथा बगला भाषीय नागा शब्द सस्कृत के नग्न या नग्नक शब्द से व्युत्पन्न है । इसका पालि तथा प्राकृत रूप नग्ग-णग्ग उपलब्ध होता है । इस प्रकार समीकरण के पश्चात् नग्न, नग्नक > नग्ग > णग्ग > नाग > नागा शब्द व्युत्पन्न हुआ है।

डॉ० टर्नर ने सिंहली भाषा के दो शब्दो, यथा, इहिल तथा लिहिल की वैज्ञानिक व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है। इसका अर्थ शिथिल है। यह शब्द सस्कृत के शिथिल एव श्रीथिर से सम्बद्ध है। अर्द्धमागधी प्राकृत मे इसका रूप सढिल, पश्चिमी प्राकृत मे सिथिल तथा पूर्वी प्राकृत में सठिल रूप उपलब्ध होता है। अर्द्धमागधी से सम्बद्ध सिंहली मे र > ल तथा स > ह में परिणत हो जाता है । इस प्रकार श्रीथिर > सठिल > सढिल > हलिल > हिलिल होना चाहिए। पुन वर्णव्यत्यय के कारण हिलिल > लिहिल, इहिल हो गया।

उपर्युक्त निर्वचन से यह स्पष्ट है कि व्युत्पत्तिविज्ञान के लिए एक भाषा के साथ अन्य भाषा के शब्दो का तुलनात्मक निरूपण आवश्यक है । इसके अभाव मे व्युत्पत्ति के अवैज्ञानिक हो जाने की सभावना है।

व्युत्पत्ति-विज्ञान के इस सैद्धान्तिक एव वैज्ञानिक विवेचन के क्षेत्र मे भाषा-विज्ञान के निष्णात मनीषी डॉ० टर्नर का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने तुलनात्मक एव व्युत्पत्यात्मक नेपाली शब्दकोश तथा 'आर्यभाषाओं के तुलनात्मककोश' में वैज्ञानिक व्युत्पत्ति का प्रातिमानिक रूप प्रस्तुत किया है, जो अधुनातन अनुसधित्सुओ के लिए प्रकाश-स्तम्भ के रूप मे अवस्थित हैं। उन्ही के प्रथित वैज्ञानिक सिद्धान्तो से अनुस्मृत होकर यहाँ हिन्दी के कतिपय वितर्कित शब्दो की व्युत्पत्ति दी गई है, जो जिज्ञासु एव भाषाविज्ञान मे अवहित छात्रो के लिए परम उपादेय सिद्ध हो सकेगी, ऐसी मेरी आशा है :

अँगूठी—(भो० पु०, अव० अँगुठी) प० अगूठी, ने० अउँठि, कु० अगुठी, ब० आगुटि, आङ्टि, अ० आगठि, गु० आङ्गुठी, म० अँगठी < *स० अङ्गुष्ठीय < स० अङ्गुष्ठ—

अँधेरा—(भो० पु०, अन्हार् अव० अँधेरा, अँधेर), प० अन्हारा, अन्हेरा, सि० अन्धारु, ने० अँध्यारो, अँधेरो, कु० अँधेरो, ब० अँधार्, आँधार्, ओ० अन्धार, प्रा० अन्धारा < पा० अन्धकारो < स० अन्धकारः।

अखाड़ा—(भो० पु०, अव० अखाडा) पं० अखाडा, ल० खाडा, ने० अखाडा, ब० आखडा, ओ० आखडा, अ० आखरा, गु० अखाडो, म० अखाडा < पा० अक्खवाटो < स० अक्षवाट।

अगुआ—नेता, आगे चलनेवाला, (भो० पु०, अव० अगुआ, नेता, विवाह तै करानेवाला), ने० अगुवा, कु० अगुवा, व० आगु (सामने), गु० अगुवो, अगवो < सम्भवत स० अग्रेगू ।

आँख—(भो० पु० आँखि, अव० आँखी) ने० आँखो, कु० आँखो, व० आँखि, ओ० आखि, अ० आखि < प्रा० अक्खि < स० अक्षि । हि०, भो० पु०, ने० एवं व० में स्वत अनुनासिकता है, किन्तु अ० एवं ओ० मे इसका अभाव है।

आँगन्—(भो० पु०, अव० आँगन्), ने० आङन्, कु० आँगण, ओ० अगणा < प्रा० पा० अङ्गण, < स० अङ्गनम् ।

आँवला—(भो० पु०, अव० अँवरा), प० आँउला, सि० आँउरो, गु० आँमळु, म० आवळा < प्रा० आमलय – < पा० आमलको < स० आमलकः ।

आटा—(भो० पु० आटा) ने० आटो, व०, अ० आटा, ओ० अटा, गु० आटो, म० आटा < स० को० अट्टम् < *अर्त–?

आधा—(भो० पु०, अव० आधा), पं०, ल० ने० अद्धा, आधा, कु० आवो, व० आधा, ओ० अधे, अ० आधा, म० आवा < प्रा० पा० अद्ध < स० अर्द्ध ।

ईंट—(भो० पु० ईंटि, ईंटा अव० ईंट्, ईंटा) प० इट्ट, ने० ईंट्, व० इट, ओ० इटा अ० इटा, गु० ईंट, म० ईंट < प्रा० इट्टका < स० इष्ठका ।

ईख—(भो० पु०, अव० ऊख) प० इक्ख, ने० उखु, व० उख, आख, ओ० आखु, गु०, म० ऊष < प्रा० इक्खु, उच्छु < पा० उच्छु < स० इक्षुः* उक्षु. ।

ऊँट—(भो० पु०, अव० ऊँट) प, लँ० उट्ठ, ने० ऊँट्, कु० ऊँट, व०, ओ०, अ० उट < प्रा० उट्ट < स० उष्ट्रः ।

उपज् —(भो० पु०, अव० उपज्) ने० उपज्, गु० उपज्, म० उपज सं० उत्पाद्यः ।

उल्लू—(भो० पु० उरुआ, अव० उल्लू,) प० उल्लू, ने० उल्लु, कु० उल्लू, गु०, म०, उल्लू < प्रा० उलूअ < पा० उलूको < स० उलूक ।

ऊखल, ओखली—(भो० पु०, ओखरि) पं० उक्खल, , ल० उखली, सि० उखिरी, कु० ओखल्, गु० उखळ, म० उखळ < प्रा० उक्खल < पा० ओक्खल, संभवत < स० उदुक्खल—*औदुक्खल–।

ऊधम्—(भो० पु० ऊधम्, अव० ऊधुम) ने० उधुम, सम्भवत < सं० उद्रम ।

ऊसर—(भो० पु०, अव० ऊसर) ने० उसठ्, गु० ऊस्,< पा० प्राकृ० ऊस < स० उषः, रेत अथवा नमकवाली भूमि ।

ओझा—(भो० पु०, अव० ओझा) ल० ओझा, सि० ओझो, ने० ओझा, कु० ओजो, व०, ओ०, ओझा, गु० ओझो < प्रा० उवज्झाय – < पा० उपज्झायो < स० उपाध्याय ।

ओस—(भो० पु०, अव० ओस्), प० ओस्, नें० ओस्, कु० ओस्, व० ओष्, गु० ओस् < प्रा० ओस्सा < सं० अवश्याय. ।

कांवर्—(भो० पु०, कांवरि), बाँस का डंडा जिसके दोनो छोरों पर पानी अथवा सामान ढोने के लिए दो रस्सियाँ बँधी होती है।
सि० काओ, कायो, गु० कावड़, म० कावड्, < प्रा० कावड—।

कचहरी—(भो० पु० कचहरी), प० कचहिरी, सिं० कच्हरी, नें० कचहरि, व० काचारि, ओ० कचेरि, गु० म० कचेरी < * कृत्य या कृत्याघर (सं० कृत्या=कार्य, कृत्यम्=व्यापार)

कपड़ा—(भो० प्रा०, अव० कप्‌डा), प० कप्पड, ल० कपडा, सिं० कपडु नें० कपडा, व० कापड, ओ० कापुडिया (कपडा वेचनेवाला), गु० म० कापड < प्रा० कप्पड < पा० कप्पट < सं० कर्पट—।

कपास—(भो० पु० कपासि), अव० कपास्, पं०, ल० कपाट्ट, सि० कपाट्ट, कपट्ट नें० कपास, ,कु० कपास, व० कापास्, अ० कपाट्ट, गु० कपास, म० कापुस् < प्रा० कप्पास < पा० कप्पसी < सं० कर्पासि. ।

कटहल—(भो० पु०, अव० कँटहर्), नें० कटहर, व० काँठाल्, ओ० कठल, अ० कँठाल < सं० कटफल्म् ।

करेला—(भो० पु०, अव० करइला), प० करेला, सिं० करेलो, नें० करेलो, वं० करला, ओ० करवरा < प्रा० कारवल्ला, कारवेल्ली, गु० करेलो < सं० कारवल्ली, करवेल्ल. ।

कहार्—(भो० पु०, अव० कहार्, कहाँर), प० कहार्, सि० कहारु, नें० कहार् वं० काहार, ओ० काहाळ, म० कहार् < प्रा० काहार—< पा० काजहारक < *सं० काचहार—< नव्य सं० काहारक ।

खजूर—(भो० पु०, अव० खजूर), ल० खजूर, सिं० खजूरी, नें० खजुर, व० खाजुर, ओ० खजुरि, अ० खाजुर, < प्रा० खज्जूर < पा० खज्जूरी < सं० खर्जूरः

खुर—(भो० पु०, अव० खुर), पं० खुर, ल० खुरा, सि० खुरु, कु० खुर, वं०, ओ० खुर, गु०, म० खुर, प्रा०, पा० खुर < सं० खुर ।

खीर्—(भो० पु०, अव० खीर), प० खीर, लं० खीर, सिं० खिरु, नें० खिर्, कु० खीर, व० खिर्, गु०, म० खीर् < प्रा०, पा० खीर—< सं० क्षीर ।

गगरा—(भो० पु०, अव० गगरा), प० गागर, ल० गागिरा, नें० गाग्रो, व० गाग्रि, ओ० गगरा, अ० गागरि, गु० गागर, < प्रा० गग्गरी पा० गग्गरो, सं० गर्गर ।

गड़ुवा—(भो० पु० गड़ुआ), कु० गड़ुवा, व० गाड़ु, ओ० गड़ु गु० गड़्वो, म० गड़ुवा < सं० को० गड्डुकः ।

गाय्—(भो० पु० गाइ), अव० गाय्, प० गाई, ने० गाइ, व०, ओ०, अ० गाइ, गु०, म०, गाय्, <प्रा०, पा०, गावी, <सं० गावी ।

गेहूँ—(भो० पु० गोहूँ, गहुँ), अव० गोहूँ, ने० गहुँ, कु० ग्यूँ, वं० गोम्, ओ० गहम, गु० गहुँ, म० गहूं, <प्रा० गोहूम, <पा० गोधूमो <स० गोधूमः।

गोईंठा—(भो० पु० गोइँठा), ने० गुँइठो <स० गोविष्ठा ।

गोबर्—(भो० पु०, अव० गोबर्), प० गोबर्, व० गोबर्, ओ० गोबर म० गोबर <प्रा० गोवर,-गोव्वर <स० गोर्वरः ।

गोरू—(भो० पु० गोरू), प० गोरू, व० गरु, ओ० गोरु <पा० गोरूप— <सं० गोरूप ।

घड़ी—(भो० पु०, अव० घडी), सिं० घड़ी, ने० घडि, कु० घडी, व, ओ०, घडि, गु०, म० घड़ी, <प्रा० घडिआ <पा० घटिका <स० घटिका।

घास्—(भो० पु० घासि, घाँसि), अव० घास् प०, ल०, गाह्, सिं० गाहु, ने० घाँस्, कु० घास्, व० घास्, ओ० घास, अ० गाँह, गु०, म० घास्, <प्रा०, पा० घास <सं० घास ।

घोड़ा—(भो० पु०, अव० घोडा), पं० ल०, घोडा, सिं० घोडो, ने० घोडा, कु० घोडो, व० घोडा, ओ० घोडा, अ० घोरा, गु० घोडो, म० घोडा <प्रा० घोडअ <पा० घोटको <स० घोटकः।

चोरी—(भो० पु०, अव० चोरी), प०, ल०, सिं० चोरी, ने० चोरि, व० चुरि, अ० चोरी, गु० म०, चोरी <प्रा० चोरिआ <पा० चोरिका, स० <चौरिका।

चौका—(भो० पु०, अव० चउका), पं० चौक्का, ल० चौका, सिं० चोको, ने० चौको, व०, ओ० चौका, अ० चौका, गु० चोको, म० चौका, <स० चतुष्क —।

छटाँक्—(भो० पु०, अव० छटाँक्), प० छटाँक, ने० छटाँक्, वं० छटाक् ओ० छटाकि अ० सटाक् <*सं० षट्-टक —।

छाता—(भो० पु०, अव० छाता), पं० छात्ता, ल० छत्तर, सिं० छट्टु, व० छाता, ओ० छता, अ० साति <पा० छत्तक <स छत्रकम् ।

छूरी—(भो० पु०, अव० छूरी), पं० छुरी, ल०, सिं० छुरी, ने० छुरि कु० छुरि, व, ओ० छुरि, गु० छुरी, म० सुरी <प्रा० छुरिआ <छुरिका सं० छुरिका ।

छैला—(भो० पु०, अव० छइला), पं० छैला, छैल,, ने० छयल्ल, गु० छैल् <प्रा० छइल्ल <सं० छविल्ल, (सं० छवि, छवी, प्रा० पा० छवि से व्युत्पन्न) ।

जंगल—(भो० पु०, अव० जगल), प० जगल<प्रा०, पा० जगल—<सं० जागल ।

जड़्—(भो० पु०, जरि), अव० जर्, प० जड, ने० जरो, कु० जडो, व० जड्, ओ० जड, गु० जड्, म० जड्<प्रा० जडा, जड–<जटा<स० जटा ।

जाड़ा—(भो० पु०, अव० जाड्), सि० जाड, ने० जाडो, कु० जाडो, व० जाडा, ओ० जाड, अ० जार्, गु० जाड्, म० जाडा<जाळो<स० जाड्यम् ।

जूता—(भो० पु०, अव० जूता), प० जुत्तणा (जुतना), ल० जुत्ता, सि० जुतो, ने० जुत', कु० जुतो, व०, ओ० जुता, गु० जुत्<प्रा० जुत्त–<पा० युत्तो (जुडा हुआ)<स० युत्त– ।

जोखिम्—(भो० पु०, अव० जोखिम्), प० जोखो, ल० जोखिओ, सि० जोखो, जोखिमु, ने० जोखिम्, कु० जोखण्, गु० जोखम्,<पा० योगक्खेम्—<स० योगक्षेम ।

झा—प्रा० अज्झाव— < पा० अज्झायको < स० अध्यापक, स० अध्यायी=वेदपाठी ।

ठाट्—(भो० पु० अव० ठाट्), प० ठठ्, ल० ठठ्ठ, सि० ठाठु, ने० ठाँट्, व० ठाट्, ओ० ठाट्, गु० ठाठ्डी, म० ठाट् < स० तष्ट ।

डाह्—(भो० पु०, अव० डाह्), प०, व०, अ०, दाह् गु० डाह्, म० दाहा <प्रा० दाह—, डाह—<पा० डाहो<स० दाह ।

डोम्—(भो० पु०, अव० डोम्), प० डूम्, डोम्डा, ल० डूम्, ने० डुम्, व० डोम्, अ० डोम, म० डोव्,<प्रा० डोम्ब—, डुम्ब—<स० डोम्ब ।

डोरा—(भो० पु०, अव० डोरा), प०, ल० डोर्, ने० डोरो, व० डोर्, डोरा, ओ० डोरा, अ० डोल्, गु० दोर, दोरो, म० डोर्, डोरा,<प्रा० दवर–<स० दोरक', दवर ।

डोला—पु०, डोली (स्त्री० लि०), (भो० पु० अव० डोला, डोली), प० डोला, डोली, ने० डोलि, व० डोल्, डोला, डोली, ओ० डोलि, अ० डोला < प्रा० डोला, पा० दोला<स० दोला, दोलिका ।

ढाढस्—(भो० पु०, अव० ढाढस्), पं० ढडम्, ने० ढाडस्, कु० ढाडम् <स० दार्ढ्यम् ।

ढाल्—(भो० पु०, अव० ढाल्), पं०, ल०, ने० ढाल्, कु०, व०, अ० ढाल्, ओ० ढाल गु० म० ढाल्<स० ढालम् ।

तकुआ—(भो० पु०, अव० टेकुआ), सि० ट्रकु, ने० तकुवा, कु० ताकू उ० ताकुडि, <प्रा० तक्कु <स० तर्कु ।

तमोली—ने० तमोलि, व० ताम्वुलि, ओ० तामड़ि, अ० तामुलि, गु० तँबोडी, म० ताँवोडी < प्रा० तम्बोलिअ—<स० ताम्बूलिक.।

तलाव्—(भो० पु०, अव० तलाव्), प०, ने० तलाउ, कु० तलउ, व० तलाउ, गु०, म० तळाव्, < प्रा० तडाग, तळाअ, तलाअ < पा० तळाकं < स० तडाग ।

ताड़—(भो० पु०, अव० ताड्), पं०, ने० ताड्, व० ताड्, ओ० ताळ, गु०, म० ताड् < प्रा०, पा० ताल-स० ताल ।

ताला—(भो० पु०, अव० ताला), व० ताला, ताडा, ओ० ताला, गु० ताळुँ, < प्रा० ताल—< पा० ताळो < स० तालक ।

तावा—(भो० पु०, अव० तावा), स० तापक ।

तीखा—(भो० पु० तीख्), प० तीखा, तिक्खा, ल० त्रिक्खा, सिं० तिखो, कु० तिखो, अ० तिखा, गु० तीखुँ, म० तीख, तिक्खें < प्रा०, पा० तिक्ख —< स० तीक्ष्ण ।

तीवन्—(भो० पु० तीअन), प० टमणा, सिं० तीवणु, ने० तिउन्, कु० त्यून्, त्यूनार, व० तेमन्, ओ० तिउण, तिअण, म० तेवणे < प्रा० तीमण—< पा० तेमन < स० को० तेमनम् ।

तेल्—(भो० पु०, अव० तेल्), प०, ल० तेल, सिं० तेलु, कु० व०, अ० तेल्, ओ० तेल < प्रा० तेल्ल— तिल्ल— < पा० तेल < स० तैलम् ।

तोद्—(भो० पु० तोन्), अव० तोंद् प० तोद, म० तुंद, देशी तुन्द < प्रा० तुन्दिल्ल—< म० तुन्दम् ।

तोला—(भो० पु० तोला), अव० तोला, प०, ल० तोला, सिं० तोरो, व०, अ० तोला, गु० तोलो, म० तोला < प्रा० तोल—< स० तोलकः।

त्यौहार—(भो० पु० तेव्हार), अव० तेउहार प० तिहार, सिं० तिहाड़ु, गु० तेहेवार— < *तिथिवार।

थाली—(भो० पु०, अव० थारी), प० थालीं, सिं० थारी, ने० थालि, कु० थाली, व०, अ० थालि, गु०, म० थालीं < प्रा० थल्लिआ, < प्रा० पा० थाली < स० स्थाली ।

थूक—(भो० पु०, थुक्, थूक्), अव० थूंक् प०, ल० थुक्क, सिं० थुक, कु० थुक् व० थुक्, ओ० थुक, गु० थुंक्, म० थुक्, प्रा० थुक्क < मिलाओ स० थूत्कार ।

थैला—(भो० पु०, अव० थइला), प० थैला, सिं० थैलो, ने० थैलो, कु० थैलो, व० थैला, ओ० थैली, अ० थैला, गु० थेलो, म० थैला < प्रा०थइआ < पा० थविका < स० वो० स्थवि ।

थोड़ा—(भो० पु०, अव० थोर्), प० थोडा, कु०थ्वाडा, व०, ओ० थोडा, गु० थोडुँ, म० थोडा <प्रा० थोअ<पा० थोक<स० स्तोकम्।

दाढी—(भो० पु०, अव० डाढी), प० दाढी, ल०डाढी, मि० डाढी, ने० दारि, कु० दाडी, व०, ओ० दाडी, गु०, म० दाढी < प्रा० दाढिआ < पा० दाठिका <स० दाढिका।

दातुन—(भो० पु० दतुअन् अव० दतुइन्), प०, दातण, ने० दतिउण्, कु० दातून, व० दाँतन, गु० दातण, म० दाँत्-वण् < प्रा० दन्तवावण— < स० दन्तधावनम्।

दाल्—(भो० पु० दालि), अव० दाल्, प० दाल्, डाल, ल० डाल्, कु० दाल्, व० डाल्, ओ० डालि, गु०, म० दाल्<प्रा० दालि < स० को० दाल.।

दूल्हा—(भो० पु०, अव० दुल्हा), मि० दूलहु, गु० दुल्हुँ<प्रा० दुल्लह— < स० दुर्लभ।

धाय्—व०, ओ०, अ० धाइ, गु० धाव्<धाई, धावी<पा० धाती< स० को० धातृका।

धूआँ—(भो० पु०, अव० धुआँ), प० धूआँ, ल० धूँ, कु० धुवाँ, व० धुँया, ओ० धुआँ, अ० धुँवा, गु० धूम, धुमडो, म० धुई (कुहरा) < प्रा०, पा० धूम<स० धूम।

धोवी—(भो० पु०, अव० धोवी), प० धोवा, धोवी, सिं० धोवी, कु० धोवी, ओ०, अ० धोवा, गु०, म० धोवी <प्रा० धुव्वइ (धोता है)<पा० धोव< स०<धोव्व—।

ननद्—(भो० पु० ननदि, ननदिया), प० नणानू, ने० नन्द, कु० नन्द, वँ० नन्दा, ओ० नणन्द, गु० म० नणँद् < प्रा० णणन्दा < पा० ननन्दा < स० ननान्दा।

नाती—(भो० पु०, अव० नाती), प० नात्ता, कु० नाती, व०, ओ०, अ० नाति, म० नात् < प्रा० णत्तिअ— < पा० नत्ता<स० नप्तृ।

नींवू—(भो० पु०, अव० नीमू), प० निम्बू, व० नेवु, ओ० नेम्वु, अ० नेमु, गु० लींवु, म० निंवुँ<स० को० निम्बूक।

पसारी—(भो० पु० पसारी, अव० पसारी), प० पसारी, पन्सारी, नि० पसारु, व०, ओ० पसारी, अ० पोहारी, म० पसारी<प्रा० पसारेइ, (पसारना, फैलाना) < पा० पसारेति (बेचने के लिए पसारना)<स० प्रसार (पसारना, बाद का अर्थ दूकान)। 'पंसारी' मे अनुनासिकता का प्रवेश सम्भवत 'पान'— की 'न'—ध्वनि के कारण है। इसकी उत्पत्ति 'पण्यशालिक' से भी सम्भव है।

पगहा—(भो० पु० , अव० पग्हा), मि० पगहु, ने० पगाहा, ओ०, अ० पघा, गु०, म० पाग्, < प्रा० पग्गह्—< पा० पग्गहो, पग्गाहो < स० प्रग्रहः, प्रगाह ।

पत्थर—(भो० पु० पत्थल्), अव० पाथर् प० पत्थर्, सि० पथरु, व० , अ० पाथर्, ओ० पथर, गु० पाथ्रो, म० पाथर्, < प्रा० पत्थर, < पा० पत्थरो < स० प्रस्तर ।

पड़ोसी—(भो० पु०, अव० परोसी), व० पड्सी, ओ० पडिसा, पडोसि, गु०, म० पडोसी < प्रा० पडिवेसिअ—स० प्रतिवेशी ।

पाहुन्—(भो० पु० पाहुन, अव० पहुना), प० पराहुण, पाहुणा, ल० पराह्णा, कु० पौणो, गु० परोणो, पराणो, म० पाहुणा < प्रा० पाहुण < पा० पाहुन—< स० प्राहुण, नव्य संस्कृत प्राघुण ।

पाडा—(भो० पु० पाडा, अव० पँडवा), सि० पाडो, ने० पाटो, कु० पाडो, गु० पाडो, म० पाडा, < प्रा० पड्डअ < *पाडु मिलाओ, देशी पड्डी (स्त्री० लि०)=प्रथमप्रसूता ।

पुतली—(भो० पु०, अव० पुतरी), ने० पुतलि, कु० पुतली, व० पुतलि, ओ० पुत्तलि, अ० पुतलि, गु०, म० पुतळी < प्रा० पुत्तलिआ < स० पुत्तलिका ।

पुंजी—(भो० पु०, अव० पूँजी), ने० पुँजि, कु० पूँजी, व० पुँजि, ओ० पुँजि, गु० पुँजो, म० पुँजा, पुँजी < प्रा० पुज—< पा० पुजो < स० पुज ।

पूआ—(भो० पु०, अव० पुआ), ने० पुवा, कु० पुवा, म० पुवा < प्रा० पूअ, < पा० पूपा, पूवो < स० अपूप ।

पूत—(भो० पु० पूत, पुता), प० पुत्त्, पुत्तर्, ल० पुत्तुर्, सि० पुट्रु, ने० पुत्, कु० पूत्, व० पुत्, ओ० पुत अ० पुत्, गु० पुत्र, पूत्, म० पूत् < प्रा०, पा० पुत्त, < स० पुत्र ।

पोथी—(भो० पु०, अव० पोथी), प०, सि० पोथो, ने० पोथि, कु० पोथी, व० पुथि, ओ० पोथा, अ० पुथि, गु०, म० पोथी < प्रा० पोत्थिआ, पा० पोत्थक < पुस्तक, वास्तव मे स० "पुस्तक" पहलवी "पोस्तक" "चमडा" से निर्मित रूप है।

प्याऊ—प० पउ, कु० पउ, प्रा० पवा < पा० पपा < स० प्रपा ।

प्यार—(भो० पु०, अव० पियार), प० पिआर्, सि० पिआर, ने० पियार् या प्यार्, गु०, म० प्यार् < अप० पिआर—< प्रा० पिअआरिण < प्रियकार ।

फक्कड—(भो० पु० अव० फक्कड), प० फक्कड्, सि० फकिडी, ने०

फक्कड्, कु० फकड्, व० फक्कड्, अ० फकरा, गु० फक्कड्, म० फक्कड्, स० को० फक्किका, छल ।

फूल—(मो० पु०, अव० फुल्, फूल्), प०, ल, फुल्ल, सिं० फुलु, ने० फुल्, कु० फूल्, व०, अ० फुल्, ओ० फुल, गु०, म० फूल् < प्रा०, पा० फुल्ल—पूर्ण खिला हुआ < स० फुल्ल—।

फोड़ा—(मो० पु०, अव० फोरा), प०, व०, फोडा, ने० फोरो, ओ० फोड़ि, 'छोटी सुराख', गु० फोड्लो, म० फोड् < प्रा० फोडअ— < पा० फोटको, फोटो < स० स्फोटक, स्फोट ।

बखेड़ा—(मो० पु०, अव० वखेडा), प० वखेडा, ने० वखेडा, गु० वखोडवुं < प्रा० वक्खेव— < स० व्याक्षेप ।

वछेडा—(मो० पु०, अव० वछेडा), प० वछेरा, सिं० गु० वछेरो, ने० वछेडो < स० वत्सतर ।

वटलोही—(मो० पु० वटुआ, वट्लोइ, वट्लोहीं), अव० वटुई, प० वट्लोहा, वट्लोहीं, ने० वट्लोइ, व० वाट्लहि < पा० वट्टलोहं < स० को० वर्तलोहम् ।

बढ़ई—(मो० प्र०, अव० वढई), प० वढ्ढणा, काटना, ल० वढ्ढण्, सिं० वढणु, ने० वडइ, व० वाडइ, ओ० वढाइ, गु० वाढ्वुं, म० वाढाया < प्र० वढ्ढइअ— < पा०, वढकि < स० वर्द्धकि ।

बरात्—(मो० पु० वरात्, वरियाँत्), प० बरात्, ने० वरियाँत्, कु० वरात्, गु०, म० वरात् < स० वरयात्रा ।

बहुत्—(मो० पु०, अव० वहुत्), प० वहुत्, ल० वहुँ, ने०, कुँ०, वहुत्, व० वहुत्, ओ० वहुत, गु० म०, वहुत्, < प्रा० वहुत्त < पा० वहुत्त < स० वहुत्वम् ।

बहेडा—(मो० पु०, अव० वहेरा), प०, व०, वहेडा, ने० वर्रो, ओ० वाहाडा < पा० विभितको, विभिटको < स० विभीतक ।

बिछी—(मो० पु०, अव० वीछी), प० विच्छु, ल०, विछू, ने० विच्छि, कु० विछी, व०, ओ० विछा, गु० विछी, म० विंछी, विछु < प्रा० विच्छिअ— विच्छुअ — < स० वृश्चिक ।

बिहान्—(मो० पु०, अव० विहान्), सिं० विहाणि, ने० वियान, कु० व्यान्, व० विहान्, गु० वहाणुं < पा० विभायन स० < विभान. ।

बूढ़ा—(मो० पु० वूढ), प०, ल० वुढ्ढा, ने० वुटो, कु० वुडो, वं० वुडा, ओ० वुढा, गु० वूढ < पा०, प्रा० वुढ्ढ— < स० *वृढ—(मि० स० परिवृढ) वस्तुत म० वृद्ध— > वृढ्ढ । आगे पा० प्रा० मे यह वृद्ढ > वुढ्ढ ।

बेठन—(भो० पु० बेठन्), सि० वेठणु, म० वेठण् (बाँधना) < प्रा० वेट्ठण < सं० वेष्टनम्।

बैंगन—बैंगन् (भो० पु० बैंगन, बइगन), प० वइँगण, ने० बैगुन्, कुँ० वाँगुन्, गु० वेगण् < प्रा० वाइंगण < पा० वातिंगनो < सं० को० वंगन.।

भँडार्—(भो० पु० भँडार्), प० भँडार्, सि० भँडारु, ने० भँडार्, कु० भनार, वँ० भाँड़ार्, ओ० भडार, गु० भँडार्, म० भाँडार < प्रा० भण्डाआर—भण्डार— < स० भाण्डागारम्।

भतीजा—(भो० पु० भतीज्), प० भतीजा, ने० भतिजो, गु० भत्रिजो < प्रा० भत्तिज्ज— < स० भ्रात्रीय.।

भावज्—(भो० पु० भउजी), प०, ल०, भर्जाई, मि० भाजाई, ने० भाउजु, कु० भौज्, वँ, भाउज्, भाइज्, गु० भोजाई, म० भाव्जइ < देशी भाउज्जा < स० को० भ्रातुर्जाया।

भालू—(भो० पु० भालु), ने० भालु, कु० भालु, व० भालुक्, ओ० भालु, म० भालु, भालूक, < देशी भल्लु < प्रा० भल्ल— < स० को० भल्लुक, भल्लूकः।

भिखारी—(भो० पु० भिखारि), प० भिखारी, ने० भिखारि, कु० व० भिकारि, ओ० भिखारि < प्रा० भिच्छअरअ—, भिक्खायर— < पा० भिक्खा-चरिया < स० भिक्षाचर।

भैंस—(भो० पु० भइँसि), ने० भैंसि, कु० भैंसो, गु० भेम् म० म्हैस, < प्रा० महिस्— < पा० महिसो महिसो < स० महिष (पु०) महिषी (स्त्री०लि०)।

मदारी—(भो० पु० मदाडी, मदारी), प० मदारी, गु० म० मडारी < स० मन्त्रकार.।

मसान्—(भो० पु० मसान्), प० मसाण्, मि० मसाणु, ने० मसान्, व० मसान्, ओ० मसाणि < प्रा० मसाण—, सुसाण— < पा० सुसान < स० श्मशानम्।

महुआ—(भो० पु० महुआ), प० महुआ, ने० मौवा, गु० महुडो, मौडो, म० मोह्, मोहा < प्रा० महुअ < पा० मधुक < स० मधूक.।

मैना—(भो० पु० मैना), प०, ओ० मैना, गु० मेना, म० मैना < सं० को० मदन।

मौसी—(भो० पु० मउसी), प० मास्सी, ल०, नि० गु० मासी, म० मावसी < प्रा० माउस्सी, माउस्सिआ < पा० मातुच्छा < स० मातृष्वसा।

रसोई—(भो० पु० रसोई), प० गु० रसोई, व० रसुइ < प्रा० रसवई < स० रसवती।

रूख्—(भो० पु० रुख्), प० ल० रुक्ख्, गु० म० रुख्<प्रा० पा० रुक्ख—<सं० रुक्षः, <सं० वृक्षः।

लसुन्—(भो० लह्सुन्), प०, गु०, म० लसण्, व० रसुन्, ओ० रसुण<प्रा० लसुण,<पा० लसुणं, लसुन<स० लशुनम्, सं० को० रसुनम्, रसोनम्।

लाठी—(भो० पु० लाठी), सि० लाठि, ने० लाठो, गु० लाठी<*लष्टि<लकुट+यष्टि।

लौका—(भो० पु० लउका), प० लौका, व० ओ० लाउ<प्रा० अलाउ, लाउ<पा० अलावु, लावु, अलापु, लापु<सं० अलावु, को० आलावु।

सिंघाडा, सिंगाडा—(भो० पु० सिंगारा), प० सँघाडा, व० सिंगाडा, सिंगारा, ओ० सिंगाडा गु० सिंगोडो, म० सिंगाडा<प्रा० सिंघाडग—<पा० सिंघाटको<सं० शृंगाट, शृंघाटकः।

सूई—(भो० पु० सूई, सुइ), प० सूई<प्रा० सूई<पा० सूचि<स०<सूची।

हांड़ी—(भो० पु० हाडी), पं० हांडी, ल० हाण्डी, सि० हण्डी, ने० हाँडि, गु० म० हाँडी<नव्य स० हण्डिका।

---

*भो० पु०=भोजपुरी, अव०=अवधी, प०=पजाबी, लँ=लँहदा, ने०=नेपाली, व०=वगला, ओ०=ओडिया, अ०=असमिया, गु०=गुजराती, म०=मराठी, कु०=कुमायूनी, प्रा०=प्राकृत, पा०=पालि, स० को०=सस्कृत कोश।

भारतीय लिपियों की उत्पत्ति तथा विकास

•

भारत तथा उसके पडोसी देशो मे प्रचलित लिपियों की उत्पत्ति तथा विकास के सम्बन्ध मे विचार करने के पूर्व, लिपि के उद्भव एवं उसके विभिन्न रूपों का सामान्य परिचय आवश्यक है। मनुष्य ने लिखना कैसे सीखा, इसकी कहानी अत्यन्त मनोरजक है। वस्तुत लिखने की कला का आविष्कार मनुष्य की अन्यतम खोजों मे से है। सहस्राब्दियो तक मनुष्य भाषा के माध्यम से अपने विचारो की अभिव्यक्ति करता रहा, किन्तु उसके सरक्षण का उसके पास कोई साधन न था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि अनेक जातियाँ अपनी भाषाओं के साथ विश्व के रगमच पर आई और लुप्त हो गई। जब भाषा को लिखने की कला का माध्यम प्राप्त हुआ, तब एक अभिनव सृष्टि का आरम्भ हुआ। तब से मनुष्य अपने ज्ञान-विज्ञान के सचय और सरक्षण मे प्रवृत्त हुआ, जिससे सभ्यता एव सस्कृति का उत्तरोत्तर विकास हुआ। वास्तव मे भाषा एव उसके लिखने की कला, ये दो, ऐसी वस्तुएँ हैं, जो मनुष्य को पशु से पृथक् करती है तथा जिनके सहारे वह निरन्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है।

लिपि के सम्बन्ध मे अनुसन्धान करनेवाले विद्वानों का अनुमान है कि भाषा की भाँति ही लेखन कला की उत्पत्ति भी विचारो की अभिव्यक्ति के लिए ही हुई होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि घटनाओ अथवा तथ्यो के सरक्षण की अपेक्षा अपने निकट की वस्तुओ से सहानुभूति प्रकट करने के लिए ही गुहा-मानव ने सर्वप्रथम चित्रो का अकन किया था। उत्तर पाषाण-काल मे ऐसे अनेक चित्र विभिन्न देशो की कन्दराओ की भित्तियो पर मिले है।

प्रतीकों द्वारा सन्देश

प्रतीको द्वारा सन्देश भेजने की प्रथा भी अति प्राचीनकाल से विभिन्न देशो मे प्रचलित है। तिब्बती-चीनी सीमा पर जब किसी के पास मुर्गी का कलेजा, उसकी चर्बी के तीन टुकडो एव एक मिर्च के साथ लाल कागज मे लपेट कर भेजा जाता है तो उसका अर्थ होता है कि युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। यह प्रसिद्ध है कि महाराज शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास ने उनके पास घोडे की थोडी लीद तथा कतिपय पत्थर के टुकडे भेजे थे, जिसका आशय

यह था कि तुम्हारे घोड़े एवं दुर्ग सुरक्षित रहें ताकि तुम युद्ध मे निरन्तर विजय प्राप्त करते रहो ।

चित्र-लिपि

लिपि-विशारदों के अनुसार लिखने की कला का आद्य रूप चित्रलिपि है । इसके द्वारा किसी वस्तु का बोध कराने के लिए उसका चित्र बनाया जाता है। उदाहरणार्थ चित्रलिपि मे सूर्य को वृत्त-रूप मे तथा मनुष्य को उसके रेखाचित्र के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है । यहाँ किसी आख्यान या कहानी को भी अनेक चित्रो के रूप मे अकित किया जाता है । इन चित्रो को देखकर ही लोग उस आख्यान अथवा कहानी को समझ जाते है । इस प्रक्रिया से विचारो की अभिव्यक्ति तो चित्रलिपि द्वारा हो जाती है, किन्तु यहाँ जो प्रतीक अथवा चित्र-प्रयुक्त होते है वे ध्वनि का प्रतिनिधित्व नही करते । सक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि चित्रलिपि के द्वारा अर्थबोध तो हो जाता है किन्तु ध्वनि-बोध नही होता ।

यहाँ चित्र तथा चित्रलिपि के अन्तर को भी स्पष्टतया हृदयगम कर लेना चाहिए। जहाँ चित्र मे मनुष्य का वास्तविक उद्देश्य किसी का अकन मात्र होता है, वहाँ चित्रलिपि मे उसका मुख्य उद्देश्य विचारो की अभिव्यक्ति तथा उसका सरक्षण होता है । वास्तव मे गुहा-मानव के चित्रो के बाद, उन्नति के पथ पर अग्रसर होकर ही मनुष्य ने चित्रलिपि का आविष्कार किया होगा।

चित्रलिपि का प्रयोग प्राय: विश्व के अनेक देशो मे पाया जाता है। प्राचीन युग के मानव ने ही इसका सर्वप्रथम प्रयोग किया था और यह लिपि मिस्र, मैसोपोटेमिया, फोनेशिया, क्रीट, स्पेन, दक्षिणी फ्रास तथा अन्य देशो मे उपलब्ध हुई है । मध्य-अफ्रीका, उत्तरी अमेरिका तथा ऑस्ट्रेलिया के प्राचीन मानव ने भी इस लिपि का उपयोग किया था । कई देशो मे भोजपत्र, काष्ठ-पट्टिका, मृग तथा अन्य पशुओ के चर्म, अस्थि, हाथीदाँत एव समतल चट्टानों पर चित्रलिपि के नमूने उपलब्ध हुए हैं ।

भाव-लिपि

यह एक प्रकार की अत्यधिक समुन्नत चित्रलिपि है। यह वास्तव मे मनुष्य के हृदय के भावो का चित्रात्मक अकन है । इस लिपि मे चित्र, वस्तुओ के प्रतिनिधि नही होते अपितु इन वस्तुओ से सम्बन्धित भावो के द्योतक होते है । उदाहरणस्वरूप भावलिपि मे एक वृत्त केवल सूर्य का ही प्रतिनिधित्व नही करता, बल्कि वह 'उष्णता', 'प्रकाश' अथवा सूर्य से सम्बन्धित 'देवत्व' या 'दिन'

अ
इ
उ
ए
आ
क
ख
ग
घ
ङ
च
छ
ज
झ
ञ
ट
ठ
ड
ढ
ण
त
थ
द
ध
न
प
फ
ब
भ
म
य
र
ल
व
श
ष
स
ह

अ
इ
उ
ए
आ
क
ख
ग
घ
ङ
च
छ
ज
झ
ञ
ट
ठ
ड
ढ
ण
त
थ
द
ध
न
प
फ
ब
भ
म
य
र
ल
व
श
ष
स
ह

को द्योतित करता है। इसी प्रकार भावलिपि के द्वारा किसी पशु का बोध कराने के लिए उसके सम्पूर्ण शरीर का चित्र आवश्यक नही होता, केवल उसके सिर के चित्र मात्र से ही उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है। 'जाने की क्रिया' को भी भावलिपि मे, दो पैरो के प्रतिनिधि रूप, दो रेखाओ से ही द्योतित किया जाता है।

सामान्य रूप से विभिन्न देशो की भावलिपियो मे बहुत कम अन्तर मिलता है। उदाहरणार्थ दु.ख के भावबोध के लिए आँख का चित्र बनाकर अश्रुपात कराना प्राय. केलिफोर्निया एव अमेरिका के आदिवासी, माया तथा एज़टेक जातियों एव चीनी लोगो की लिपियो मे मिलता है। इसी प्रकार अस्वीकृति के लिए 'पीठ फेर लेना' युद्ध के लिए 'शस्त्र लेकर एक दूसरे के सम्मुख डट जाना' तथा प्रेम के लिए 'एक दूसरे का आलिगन करना' भी विभिन्न देशो की भावलिपियो द्वारा सहज मे ही प्रदर्शित किया जाता है। विशुद्ध भावलिपि के नमूने उत्तरी अमेरिका के आदिवासियो तथा मध्य-अफ्रीका के हब्शी लोगो से प्राप्त हुए हैं।

ध्वन्यात्मक लिपि

चित्रलिपि तथा विशुद्ध भावलिपि मे चित्रो अथवा प्रतीको का उनके लिए उच्चरित ध्वनियों से कोई सम्बन्ध नही होता। चित्र अथवा प्रतीक किसी विशेष भाषा के होते भी नही। विभिन्न भाषाओ मे उनका समान रूप से प्रयोग होता है। लिपि के इतिहास मे ध्वन्यात्मक लिपि का स्थान सब मे ऊँचा है। वास्तव मे आज ध्वन्यात्मक लिपि ही भाषा की प्रतिरूपा है और लेखन की इस प्रणाली मे प्रत्येक तत्त्व भाषा की विशेषध्वनि का प्रतिनिधित्व करता है। इस लिपि मे प्रतीक, वस्तुत, वस्तु अथवा भाव को नही द्योतित करते, अपितु ये ध्वनि अथवा ध्वनि-समूहो को प्रकट करते है। सक्षेप मे, इस प्रणाली मे, लिखित रूप बोलनेवाली भाषा का ही दूसरा रूप होता है। इस प्रणाली की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे लिपि तथा भाषा एक दूसरे का अग बन जाती है और लिपि ही भाषा का प्रतिनिधित्व करने लगती है। यहाँ प्रतीक अथवा चिह्न एक अर्थ द्योतन नही करते, अपितु वे विभिन्न भाषाओ के प्रतिरूप बन जाते हैं। अब पृथक प्रतीको के रूप का भी कुछ महत्त्व नही रह जाता तथा जिन वस्तुओ का वे प्रतिनिधित्व करते है, उनसे भी इनका कुछ सम्बन्ध नही रहता। ध्वन्यात्मक लिपि के भी दो भेद हैं :—

(१) अक्षरात्मक (Syllabic)

(२) वर्णात्मक (Alphabetic)

अक्षरात्मक लिपि

इस लिपि मे स्वर-चिह्नो को व्यजनो के साथ जोडने की रीति के कारण लिखावट के मूल उपादान अक्षर (Syllable) हो गए हैं। उदाहरणार्थ सस्कृत के 'विराट' शब्द मे 'व, र तथा ट' इन तीनो वर्णों के साथ 'इ' 'आ', तथा 'अ' स्वर जुडे हुए हैं। अक्षरात्मक लिपि का दोष यह है कि इसके द्वारा ध्वनि का विश्लेषण तनिक कठिनाई से होता है। नागरी लिपि वस्तुत अर्द्ध-अक्षरात्मक लिपि है। इसके द्वारा ध्वनि का विश्लेषण तो हो जाता है, किन्तु स्वरो के यथास्थान न होने से यह विश्लेषण उतनी सुन्दरता से नही हो पाता जितना रोमन की वर्णात्मक लिपि के द्वारा। उदाहरणस्वरूप 'विराट' की ध्वनियो का विश्लेषण नागरी लिपि के द्वारा व् + इ + र् + आ + ट् + अ होगा। यही विश्लेषण रोमन लिपि के द्वारा v + i + r + a + t + a होगा।

वर्णात्मक लिपि

लिपि-विज्ञानियो के अनुसार लिपि के विकास मे सबसे ऊँचा स्थान वर्णों का है। वास्तव मे प्रत्येक वर्ण ध्वनि का प्रतीक होता है। वैदिक भाषा मे कुल ५२ प्रतीक अथवा वर्ण हैं। इसी प्रकार रोमन मे कुल २६ वर्ण हैं। इन वर्णों को बच्चे अल्प प्रयास से ही सीख लेते हैं। इसकी तुलना मे चीनी भाषा को सीखने के लिए कई सहस्र प्रतीको को सीखना पडता है, जिसमे अत्य-धिक समय लगता है। वर्णात्मक लिपि की सब से बडी विशेषता यह है कि किसी प्रकार की कठिनाई के बिना ही इसकी सहायता से अनेक भाषाएँ लिखी जा सकती है। उदाहरणार्थ आज नागरी लिपि मे ही हिन्दी, मराठी, नेपाली, मैथिली तथा भोजपुरी आदि भाषाएँ एव बोलियाँ लिखी जा रही है। इधर स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद निरन्तर इस बात का उद्योग किया जा रहा है कि भारत की अन्य भाषाएँ—बगला, उडिया, असमिया, गुजराती, तमिल, तेलगु, मलयालम, कन्नड आदि—भी नागरी लिपि मे लिखी जायँ। इससे एक लाभ यह होगा कि लोग विविध लिपियो को सीखने की कठिनाई से मुक्त हो जायँगे।

यूरोप मे तो, आज रोमन लिपि प्राय. सर्वमान्य हो रही है तथा अँग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, इतालीय, स्पेनिश, तुर्की आदि भाषाएँ इसी मे लिखी जाती हैं।

वर्णात्मक लिपि के आविष्कार से शिक्षा के प्रचार एव प्रसार मे अत्यधिक सहायता मिली है। इसकी सरलता का एक परिणाम यह हुआ है कि आज मुद्रण के अनेक यत्र बन गए हैं, जिनसे तीव्रगति से साहित्य का उत्पादन एव प्रका-शन हो रहा है।

प्राचीन भारत में प्रचलित लिपियाँ

प्राचीनकाल मे, भारत मे, ब्राह्मी, खरोष्ठी तथा सिन्धु घाटी की लिपियाँ प्रचलित थी। इनमे से सिन्धु घाटी लिपि का पता तो मोहन-जो-दड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई के वाद (सन् १९२२-२७) मे लगा किन्तु ब्रह्मी तथा खरोष्ठी का पता विद्वानो को पहले से ही था। भारतीय एव चीनी परम्पराओ के अनुसार तो इन दोनों लिपियो की उत्पत्ति भारत मे ही हुई थी। चूँकि ब्राह्मी के प्राचीनतम लेख ५०० ई० पू० के पहले के नही मिलते अतएव इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अनेक अनुमान किए गए। कई विद्वानो के अनुसार ब्राह्मी की उत्पत्ति भारत मे ही हुई थी किन्तु अनेक पश्चिमी विद्वान् इस मत से सहमत नही है। इन विद्वानो के मतानुसार ब्राह्मी की उत्पत्ति मे किसी-न-किसी विदेशी लिपि का अवश्य हाथ था। खरोष्ठी के सम्बन्ध मे तो प्राय. अधिक विद्वानो का यह निश्चित मत है कि यह विदेशी लिपि थी तथा व्यापारिक सम्बन्ध के कारण पश्चिमी एशिया से भारत मे इसका आगमन हुआ था। सिन्धु घाटी की लिपि अभी तक पढी नही जा सकी है तथा इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। नीचे इन तीनो लिपियों—सिन्धु घाटी की लिपि, खरोष्ठी तथा ब्राह्मी लिपि—के सम्बन्ध मे क्रमश. विचार किया जायेगा।

सिन्धु-घाटी की सभ्यता तथा लिपि

आज से कुछ वर्ष पूर्व इतिहास के पडितो का विचार था कि भारतीय सभ्यता का आरम्भ, यहाँ आर्यो के आगमन के वाद, ऋग्वेद के रचना-काल से हुआ किन्तु जब सिन्धु-घाटी की सभ्यता का पता चला तो विद्वानो को अपने विचार वदलने पडे। अव इतिहास के विद्वानो का यह मत है कि आर्यो के भारत-प्रवेश के पहले लगभग ई० पू० ३५०० मे, सिन्धु घाटी के निवासी सभ्यता के उच्च शिखर पर पहुँच चुके थे। इसका प्रमाण मोहन-जो-दडो तथा हडप्पा की खुदाई मे उपलब्ध सामग्री से सहज ही मे मिल जाता है। हडप्पा पजाव के माटगोमरी जिले मे है तथा मोहन-जो-दड़ो, सिन्धु के निचले भाग के किनारे, सिन्ध प्रदेश के लरकाना जिले मे है। विभाजन के पश्चात् अव ये स्थान पाकिस्तान मे चले गए है। हडप्पा की सर्वप्रथम खोज, मैसन ने सन् १८२० मे की थी। सन् १८५३ मे कनिंघम ने इस स्थान का अध्ययन किया और सन् १८७५ मे यहाँ से उपलब्ध कतिपय सीलो का प्रकाशन हुआ। वाद मे, यहाँ सर जॉन मार्शल के तत्त्वावधान मे, सन् १९२१ की जनवरी मे, रायवहादुर दयाराम साहनी ने खुदाई प्रारम्भ की तथा सन् १९२६ से सन् १९३४ तक श्री मधुस्वरूप वत्स के तत्त्वावधान मे महत्त्वपूर्ण खुदाई हुई।

मार्शल ने श्री एस० लैंग्डन, एस० स्मिथ तथा सी० जे० गैड की सहायता से सन् १९३१ मे, मोहन-जो-दडो तथा सिन्धुघाटी सभ्यता के सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया। उधर सन् १९३७-३८ मे श्री ई० जे० एच० मैकी ने सन् १९२७ से १९३१ के बीच की खुदाई का परिणाम प्रकाशित किया। इसी प्रकार यहाँ की विचित्र लिपि के सम्बन्ध मे श्री जी० आर० हटर ने अपना विचार व्यक्त किया।

सिन्धु-घाटी की लिपि

सिन्धु-घाटी की महत्त्वपूर्ण सामग्री मे चित्रलिपि से सयुक्त अनेक मुद्राएँ मिली है, जो प्रागैतिहासिक एलामीय एव सुमेरीय मुद्राओ के अनुरूप हैं। इन पर अकित वृषभ, महिष तथा बारहसिंघा जैसे जानवरो के सुन्दर चित्रो से इन लोगो की चित्राकन की कला मे दक्षता का परिचय मिलता है। इन मुद्राओ पर अकित लिपि अभी तक विद्वानो के लिए एक पहेली है। सुमेरीय सभ्यता तथा लिपि के विशेषज्ञ लैग्डन, स्मिथ तथा गैड आदि विद्वानो ने इसके पढने मे पर्याप्त समय लगाया है, किन्तु अभी तक उन्हे सफलता नही मिल सकी है। गैड तथा स्मिथ के अनुसार यहाँ की लिपि के प्रतीको की सख्या ३९६ है, किन्तु लैंग्डन तथा हंटर के अनुसार यह सख्या २८८ तथा २५३ है। स्मिथ ने इन प्रतीकों को तीन वर्गो मे विभाजित किया है। ये है आदि के प्रतीक, अत के प्रतीक तथा सख्या-सम्बन्धी प्रतीक।

लगभग ३०० प्रतीको-सहित सिन्धु-घाटी की लिपि न तो वर्णात्मक प्रतीत होती है और न अक्षरात्मक ही, यह विशुद्ध भावात्मक लिपि भी नही है क्योकि इसमे प्रतीको की सख्या अत्यल्प है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ अशो मे यह भावात्मक तथा कुछ अशो मे यह ध्वन्यात्मक (सम्भवत अक्षरात्मक) है और इसमे निर्णयिक चिह्न भी है। चूंकि इस लिपि मे लिखित सभी प्रत्न लेख सीलो पर ही उपलब्ध हुए हैं, अतएव बहुत सम्भव है कि ये व्यक्तियो के नाम हो।

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के डॉ० प्राणनाथ विद्यालकार ने आज से कतिपय वर्ष पूर्व, एलामीय, क्रीटीय तथा सिन्धु-घाटी लिपियो का तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया था। आप ने इस लिपि के सम्बन्ध मे अत्यन्त निपुणता से अपनी निर्देशिका (Syllabury) भी तैयार की थी। डॉ० प्राणनाथ के अनुसार सिन्धु-घाटी की लिपि का सम्बन्ध प्राचीन वैदिक सस्कृत से है। किन्तु यह मत अन्य विद्वानो को मान्य नही है।

सिन्धु-घाटी-लिपि की उत्पत्ति

श्री हेरॉस के अनुसार सिन्धु-घाटी सभ्यता के जनक द्रविड़ थे। हेरॉस ने मोहन-जो-दडो के लेखो को बाएँ से दाहिनी ओर पढा है तथा तमिल भाषा मे उनका लिप्यन्तर किया है। इस सम्बन्ध मे सब से बडी कठिनाई यह है कि चार सहस्र वर्ष ईसा पूर्व तमिल का स्वरूप क्या था, इसकी आज कल्पना भी कठिन है। यही कारण है कि इस सम्बन्ध मे हेरॉस का सिद्धान्त मान्य नही हो सकता। कुछ विद्वानो के अनुसार सिन्धुघाटी-लिपि की उत्पत्ति उस प्राचीन लिपि से हुई है जिससे बाणमुख तथा एलामीय लिपियाँ उत्पन्न हुई थी। जो हो, इस सम्बन्ध मे निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता।

खरोष्ठी-लिपि

यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि ब्राह्मी के साथ ही साथ भारत मे एक अन्य लिपि भी प्रचलित थी, जो खरोष्ठी कहलाती थी। प्रसार की दृष्टि से ब्राह्मी तथा खरोष्ठी मे मुख्य अन्तर यह था कि ब्राह्मी जहाँ निखिल भारतीय लिपि थी, वहाँ खरोष्ठी का प्रचार केवल पश्चिमोत्तर भारत मे ही था। यद्यपि १७५ ई० पू० से १०० ई० के बीच के सिक्को पर खरोष्ठी के बहुत नमूने मिले हैं तथापि जब से शाहबाज गढी के पड़ोस मे प्रस्तर पर लिखित अशोक के शिला-लेख का अनुवाद खरोष्ठी मे उपलब्ध हुआ, तब से इस लिपि का महत्व बढ गया। इसके बाद सर आरेल स्टाइन के प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप 'निय' तथा चीनी तुर्किस्तान मे खरोष्ठी मे लिखित महत्वपूर्ण प्रभूत सामग्री प्राप्त हुई।

सामी लिपि की भाँति ही खरोष्ठी लिपि भी दोषपूर्ण है। इसमे स्वरो की अव्यवस्था तथा दीर्घस्वरो का अभाव है। इसमे स्वर व्यजनो ही पर आश्रित रहते है तथा ये स्वर भी ह्रस्व ही हैं।

खरोष्ठी के बैक्ट्रीय, इण्डो-बैक्ट्रीय, आर्य, बैक्ट्रो-पालि, उत्तरी पश्चिमी भारतीय, काबुलीय आदि कई अन्य नाम भी मिलते हैं, किन्तु इनमे सर्वाधिक प्रसिद्ध खरोष्ठी ही है।

खरोष्ठी नामकरण के कारण

इसके नामकरण के कारणो के सम्बन्ध मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। नीचे इस सम्बन्ध मे सक्षेप मे विचार किया जाता है—

१. इस लिपि का आविष्कर्ता खरोष्ठ नामक कोई व्यक्ति था। खरोष्ठ शब्द का अर्थ गधे का होठ है।

२ 'यवन' तथा 'तुखार' शब्दो की भाँति खरोष्ठ भी जातिवाचक शब्द है। खरोष्ठ जाति के लोग असभ्य तथा बर्बर थे और उत्तरी-पश्चिमी भारत के निवासी थे।

३ खरोष्ठी शब्द मध्य-एशिया स्थित काशगर का ही सस्कृत प्रतिरूप है।

४. खरोष्ठी शब्द इरानीय खर-पोस्त शब्द का भारतीय रूप है। सम्भवत. गर्दभ चर्म पर लिखने मे इस लिपि का अधिक प्रयोग होता था।

५ हिब्रू मे 'खरोशेथ' शब्द का अर्थ लिखावट है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी से प्राकृत मे पहले 'खरोट्ट' एव 'खरोट्ठी' शब्द बने और बाद मे इसे सस्कृत रूप देकर 'खरोष्ठी'' बनाया गया।

चीनी-परम्परा के अनुसार इस लिपि का नामकरण, इसके प्रणेता खरोष्ठ नामक व्यक्ति के नाम पर ही हुआ। इस परम्परा के अतिरिक्त इस सम्बन्ध मे अन्य तथ्यो का अभाव है। डॉ० राजबली पाण्डेय के अनुसार गधे के चलते मुँह के समान अनियमित एव अव्यवस्थित होने के कारण इस लिपि का नाम खरोष्ठी पडा होगा। किन्तु 'खरोशेथ' से इसकी व्युत्पत्ति अधिक सम्भव जान पडती है।

उत्पत्ति

खरोष्ठी की उत्पत्ति विवादास्पद है। बूलर के अनुसार इसकी उत्पत्ति आर्माइक लिपि से हुई है। डेविड डिरिंगर इस मत का समर्थन करते हुए अपनी पुस्तक 'अल्फाबेट' (पृ० ३०२) मे लिखते हैं—"यह बात प्राय मान ली गई है कि खरोष्ठी की उत्पत्ति आर्माइक लिपि से हुई है। इस बात के दो महत्त्वपूर्ण आधार हैं —(१) इन दोनों के कई चिह्नो एव ध्वनियो मे समानता है। (२) दोनो लिपियाँ दाहिने से बाएँ लिखी जाती हैं। तक्षशिला मे तीसरी शती ईस्वी पूर्व का जो शिलालेख आर्माइक मे उपलब्ध हुआ है, उससे भारत के साथ आर्माइक लोगो का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। उत्तरी-पश्चिमी भारत मे खरोष्ठी लिपि का उद्भव ५०० ई० पू० मे हुआ होगा। इस समय यहाँ फारस के लोगो का राज्य था और आर्माइक भाषा तथा लिपि के प्रचार के लिए अनुकूल समय था। ऐसा प्रतीत होता है कि खरोष्ठी के उद्भव मे ब्राह्मी का भी कुछ प्रभाव था। यह प्रभाव निम्नलिखित बातो मे विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है—

१ इसमे व्यञ्जन के साथ-साथ स्वरवर्ण भी वृत्त अथवा पडी रेखा के रूप मे आते हैं जिससे यह लिपि अक्षरात्मक बन गई है।

२. आर्माइक लिपि मे घ्, ध् तथा भ् वर्णो का अभाव है, किन्तु खरोष्ठी मे ये उपलब्ध है।
३ खरोष्ठी के दाएँ से बाएँ लिखने की प्रणाली पर भी ब्राह्मी लिखावट का प्रभाव है।

आलोचना

इसमे सन्देह नही कि लिखावट तथा ऊपरी रूपरेखा आदि के सम्बन्ध मे खरोष्ठी तथा ब्राह्मी मे कुछ सादृश्य अवश्य है, किन्तु यह सादृश्य एक प्रकार से सीमित ही है। बूलर ने खरोष्ठी के लिपि-चिह्नों की आर्माइक से उत्पत्ति दिखलाते हुए अत्यधिक कष्टकल्पना से काम लिया है। सच बात तो यह है कि संसार की लिपियों के सभी वर्ण रेखाओं, अर्द्धवृत्तो एव वृत्तों आदि से ही सम्पन्न होते हैं और इनमे आवश्यक परिवर्तन करके किसी भी लिपि के वर्णों का उद्भव अन्य लिपि से सिद्ध किया जा सकता है। बूलर के सिद्धान्त की निस्सारता उस समय और भी स्पष्ट हो जाती है, जब वे ब्राह्मी की उत्पत्ति आठवी–दसवी शती ईसा पूर्व की आर्माइक लिपि से और खरोष्ठी का उद्भव पाँचवी शती ईसा पूर्व की आर्माइक लिपि से सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। लिखावट की समानता के आधार पर भी खरोष्ठी की उत्पत्ति आर्माइक से बतलाना ठीक न होगा। भारत-जैसे विशाल देश मे दो विभिन्न प्रकार की—एक बाएँ से दाएँ तथा दूसरी दाएँ से बाएँ लिखी जानेवाली—लिपियो का होना असम्भव नही है। खरोष्ठी मे दीर्घ स्वरो के अभाव का यह भी कारण हो सकता है कि प्राकृत के लिखने के लिए ही इसका प्रयोग हुआ है।

जहाँ तक ५०० ई० पू० मे उत्तरी-पश्चिमी भारत मे फारसवालो के शासन का प्रश्न है, इस सम्बन्ध का न तो खरोष्ठी मे कोई शिलालेख उपलब्ध हुआ है और न आर्माइक मे ही। इससे तो यही प्रतीत होता है कि प्रत्यक्षरूप से इस प्रदेश पर फारसवालो का कभी शासन था ही नही।

ऊपर की आलोचना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आर्माइक से खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति सिद्ध करना असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। जैसा कि डिरिंगर का मत है, इस लिपि पर ब्राह्मी का प्रभाव प्रत्यक्ष है। तब प्रश्न उठता है कि खरोष्ठी का उद्भव कैसे हुआ ?

भारतीय उत्पत्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त

पश्चिमी पण्डितो के तर्क मे अधिक तत्त्व न देखकर इधर भारतीय विद्वान् खरोष्ठी का उद्भव भारत मे ही मानने लगे हैं। इस सम्बन्ध मे सब से पहली

विचारणीय बात खरोष्ठी के उद्भव और प्रसार का क्षेत्र है। खरोष्ठी मे लिखित अशोक का प्राचीनतम शिलालेख ३०० ई० पूर्व का है। बाद के अन्य शिलालेख बलूचिस्तान, अफगानिस्तान तथा मध्य-एशिया से प्राप्त हुए है। ये शिलालेख उन भारतीयो के द्वारा लिखे गए है, जो धर्म-प्रचारार्थ अथवा अन्य कार्यों के सम्बन्ध मे इधर गए थे। दूसरी बात इस सम्बन्ध मे यह भी विचारणीय है कि भारत के बाहर भी इस लिपि का प्रयोग केवल भारतीय भाषाओ के लिखने के लिए ही किया गया है। दाएँ से बाएँ लिखे जाने पर भी इसकी रूपरेखा भारतीय ही है। इसमे अनुस्वार का भी प्रयोग मिलता है तथा ब्राह्मी की भाँति ही बहुत अशो मे यह अक्षरात्मक लिपि है।

ऊपर की परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए ऐसा लगता है कि इस लिपि का उद्भव उत्तरी-पश्चिमी भारत मे ही हुआ था। चीनी परम्परा के अनुसार तो इसका प्रणेता खरोष्ठ नामक भारतीय था। जब उत्तरी-पश्चिमी भारत पर मौर्यो का आधिपत्य हुआ तो उस प्रदेश के शासन के लिए उन्होने खरोष्ठी लिपि अपनाई। इसके बाद बैक्ट्रीय, पार्थीय शको तथा कुषाणो ने भी भारतीय भाषाओ के लिए ग्रीक के साथ खरोष्ठी लिपि का व्यवहार किया। बौद्धधर्म के प्रसार के साथ-साथ यह लिपि भारत के बाहर के उपनिवेशो मे भी जा पहुँची। जब गुप्त-साम्राज्य के अभ्युदय के साथ भारत राष्ट्रीय एकता के सूत्र मे आबद्ध होने लगा तो धीरे-धीरे खरोष्ठी का स्थान ब्राह्मी लिपि ने ले लिया। इस प्रकार खरोष्ठी का उद्भव एव पराभव भारत मे ही हुआ।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे लिपि-विशेषज्ञो मे बडा मतभेद है। मोटे तौर पर विद्वानो की विचारधारा को दो भागो में विभक्त किया जा सकता है। इनमे से पहली श्रेणी के अन्तर्गत वे विद्वान् है, जो ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति भारत मे ही मानते हैं। दूसरी श्रेणी मे उन विद्वानो की गणना है, जो इस लिपि का सम्बन्ध किसी न किसी विदेशी लिपि से जोडते है। नीचे इन विद्वानो का मत सक्षेप में दिया जाता है।

ब्राह्मी स्वदेशी लिपि है

(१) द्राविडीय उत्पत्ति—एडवर्ड टॉमस तथा अन्य विद्वानो के अनुसार ब्राह्मी लिपि के मूल आविष्कर्ता द्रविड थे। आर्यों ने इन्ही से यह लिपि सीखी। इस मान्यता की पृष्ठभूमि यह है कि आर्यों के आगमन के पूर्व इस

देश मे सर्वत्र द्रविड निवास करते थे। द्रविड-सभ्यता आर्य-सभ्यता की अपेक्षा उच्चस्तर पर थी, अतएव सर्वप्रथम उन्होने ही लिपि का आविष्कार किया। इस मान्यता के विरुद्ध सब से बडी बात यह है कि लिपि के प्राचीनतम नमूने उत्तरी भारत से प्राप्त हुए है, जो आर्यो का निवासस्थान था। इस सम्बन्ध मे दूसरी बात यह भी उल्लेखनीय है कि द्रविड भाषाओं मे, सब से प्राचीन तमिल मे वर्णों के विभिन्न वर्गो के केवल प्रथम और पचम वर्ण ही उच्चरित होते हैं। इसके विपरीत ब्राह्मी मे प्रत्येक वर्ग के पाँचो वर्ण मिलते हैं। इस प्रकार तमिल जैसी अपूर्ण लिपि से ब्राह्मी जैसी पूर्ण लिपि का आविर्भाव सम्भव नही प्रतीत होता।

(२) आर्य अथवा वैदिक उत्पत्ति

कनिंघम, डाउसन, लैसेन, ओझा तथा कई भारतीय विद्वानो के मतानुसार आदि वैदिक पुरोहितो ने ब्राह्मी लिपि को विकसित किया था। योरोपीय विद्वानों के अनुसार तो प्राचीन भारतीय चित्रलिपि से ही यह विकास सम्पन्न हुआ था। वास्तव मे यह मत समीचीन है। आगे इस सम्बन्ध मे पूर्ण रूप से विचार किया जाएगा।

बूलर ने ऊपर के मत की आलोचना करते हुए लिखा है—"इन विद्वानों ने ब्राह्मी लिपि के पूर्व जो चित्रलिपि की कल्पना की है, वह निराधार है, क्योकि अब तक इस प्रकार की चित्रलिपि कही नही मिली।" इधर जब से सिन्धु-घाटी लिपि का पता चला है, तब से बूलर की आलोचना का महत्व बहुत कुछ कम हो गया है, क्योकि सिन्धु-घाटी की लिपि चित्रात्मक है। यह सच है कि सिन्धु-घाटी लिपि जब तक पढी नही जाती तब तक ब्राह्मी के साथ उसका सम्बन्ध जोडना उचित नही है, किन्तु ब्राह्मी के कतिपय वर्णो की समता सिन्धु-घाटी लिपि से स्पष्ट है।

जो लोग ब्राह्मी की उत्पत्ति भारत मे ही मानते हैं, उन्हे चेतावनी देते हुए डेविड डिरिंगर ने निम्नलिखित तथ्यों की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया है—

(१) किसी देश मे एक के बाद दूसरी लिपि का अस्तित्व इस बात को नहीं सिद्ध करता कि बादवाली लिपि की उत्पत्ति पहलेवाली लिपि से ही हुई है। उदाहरणस्वरूप क्रीट मे प्रचलित प्राचीन ग्रीक लिपि की उत्पत्ति प्राचीन क्रिटीय अथवा मिनोनीय लिपि से नही हुई थी।

(२) सिन्धु-घाटी-लिपि तथा ब्राह्मी मे समता होने पर भी जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि दोनो के ध्वनि-चिह्नो मे समानता है, तब तक यह कहना उचित न होगा कि ब्राह्मी की उत्पत्ति सिन्धु-घाटी-लिपि से हुई है।

(३) सिन्धु-घाटी लिपि सम्भवत अक्षरात्मक-भावात्मक अथवा दोनों के बीच की अनुवर्ती लिपि है, किन्तु ब्राह्मी अर्द्धवर्णात्मक लिपि है। अभी तक लिपियो के सम्बन्ध मे जो अनुसन्धान हुए है, उनमे कही भी ऐसा उदाहरण नही मिला है, जहाँ अन्य किसी लिपि के प्रभाव के बिना अक्षरात्मक-भावात्मक लिपि वर्णात्मक मे परिवर्तित हो गई हो। इसके अतिरिक्त कोई भी लिपि-विशेषज्ञ यह स्पष्ट न कर सका कि सिन्धु-घाटी-लिपि से किस प्रकार अर्द्ध-वर्णात्मक ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति हुई।

(४) विशाल वैदिक साहित्य के अध्ययन से इस बात का पता नही चलता कि उस युग के आर्य लिखना भी जानते थे।

(५) प्राचीन काल मे लिखने की कला के सम्बन्ध मे, स्पष्ट रूप से बौद्ध-साहित्य मे उल्लेख मिलता है।

(६) ब्राह्मी के जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं, उनके आधार पर यही कहा जा सकता है कि ६०० ई० पू० मे यह वर्तमान थी।

(७) इतिहास के पण्डितो के मतानुसार ई० पू० ८०० से ६०० तक का युग, भारत मे व्यावसायिक उन्नति के लिए प्रसिद्ध है। इस युग मे, दक्षिणी पश्चिमी सामुद्रिक मार्ग से, भारत तथा बेबिलोन के बीच व्यापार होता था। विद्वानो का विचार है कि इस व्यावसायिक अभिवृद्धि ने ही लिखने की कला को जन्म दिया होगा।

(८) आर्यों के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध मे बहुत कम सामग्री उपलब्ध है। प० बाल गगाधर तिलक की यह धारणा कि वेद के कतिपय मत्रो की रचना ७००० ई० पू० हुई थी तथा श्री शकर बालकृष्ण दीक्षित का यह विचार कि कतिपय ब्राह्मण ग्रथो की रचना ३८०० ई० पू० हुई थी, पुष्ट प्रमाणो पर आधारित न होने के कारण कल्पना मात्र है।

(९) ६०० ई० पू० उत्तरी भारत मे ऐसी अद्भुत धार्मिक क्रान्ति हुई कि इसने भारतीय इतिहास को अत्यधिक प्रभावित किया। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि अक्षर-ज्ञान ने जैन तथा बौद्ध धर्मों के प्रचार एव प्रसार मे विशेष सहायता दी होगी। जहाँ तक बौद्धधर्म का सम्बन्ध है, यह निर्विवाद है कि इस युग मे लिखने की कला का विशेषरूप से प्रचार हुआ।

(१०) मोटे ढग से सभी प्रमाणो पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि भारत मे लिखने की कला का उद्भव ८०० ई० पू० से ६०० ई० पू० के बीच कभी हुआ होगा।

आलोचना

डॉ० डेविड डिरिंगर के ऊपर के तर्कों का खण्डन कई विद्वानो ने किया है। डॉ० राजवली पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'इडियन पैलिओग्राफी' के पृ० ३८-३९ में इस सम्बन्ध मे जो आलोचना की है, उसका सार यहाँ दिया जाता है।

डॉ० डिरिंगर के प्रथम तथा द्वितीय तर्को की आलोचना मे यह कहा जा सकता है कि जब तक स्पष्ट रूप से विरुद्ध प्रमाण न मिलें, तब तक एक देश मे दो लिपियो के अस्तित्व से यह परिणाम निकालना अनुचित न होगा कि बाद की लिपि का उद्भव पहलेवाली लिपि से हुआ है। तीसरे तर्क के सम्बन्ध मे निवेदन यह है कि जब तक सिन्धु-घाटी-लिपि पढ ली नही जाती, तब तक उसके सम्बन्ध मे अन्तिम रूप मे कुछ भी कहना उपयुक्त न होगा। चौथा तर्क पुष्ट प्रमाणो पर आधारित नही है। ज्ञानदात्री सरस्वती तथा उनके पति ब्रह्मा के रूपो की जो कल्पना की गई है, उनमे दोनो के हाथो मे पुस्तक धारण करने की परम्परा है। पाँचवे तर्क के खण्डन मे प्राचीन वैदिक तथा बौद्ध साहित्य मे पर्याप्त सामग्री मिलती है। छठे तर्क के खडन मे कहा जा सकता है कि प्रस्तर आदि के जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उनके अतिरिक्त भी प्रभूत सामग्री अन्य रूपो मे होगी, जो अब विनष्ट हो चुकी है। जहाँ तक सातवे तर्क का सम्बन्ध है, केवल व्यावसायिक सम्बन्ध के आधार पर यह कथन युक्तियुक्त न होगा कि भारत ने किसी अन्य देश से ही लिखने की कला सीखी, इसके विपरीत भी हो सकता है। डॉ० डिरिंगर के आठवें तर्क का सार यह है कि भारतीय सभ्यता पश्चिमी एशिया की सभ्यता की अपेक्षा बाद की है। श्री तिलक तथा दीक्षित के सिद्धान्त, वैदिक सभ्यता की प्राचीनता के सम्बन्ध मे काल्पनिक हो सकते है, किन्तु बूलर तथा विण्टरनिट्ज़ जैसे पश्चिमी विद्वानो तक ने वैदिक सभ्यता का प्रारम्भ ४००० ईसा पूर्व माना है। जहाँ तक नवे तर्क का सम्बन्ध है, इसमे सन्देह नही कि जैन तथा बौद्धो ने प्राकृत भाषा का प्रचार किया और इसके साथ ही साथ लिखने की कला का भी प्रसार हुआ, किन्तु दोनो धर्मों ने इस बात को स्वीकार किया है कि इनके पूर्व वैदिक युग मे भी लिखने की प्रणाली प्रचलित थी। बुद्ध ने तो स्पष्टरूप से अपने दो शिष्यों को बुद्धवचन को 'छन्दस्' (वेद की भाषा) मे न लिखने का आदेश दिया। दसवे तर्क के लिए पुष्ट प्रमाणो का अभाव है। इसमे इस बात की कल्पना कर ली गई है कि लिपि के अन्वेषक आर्य न थे।

ऊपर की आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि डॉ० डिरिंगर के तर्कों मे कोई ऐसी बात नही है, जिसके आधार पर यह न कहा जा सके कि ब्राह्मी की उत्पत्ति भारत मे ही किसी प्राचीन लिपि से नही हुई थी।

ब्राह्मी की उत्पत्ति किसी न किसी विदेशी लिपि से हुई है

जो लोग ब्राह्मी की उत्पत्ति किसी न किसी विदेशी लिपि से मानते है, उनके विचारों को दो समूहो मे रखा जा सकता है। प्रथम समूह मे वे लोग हैं जो ब्राह्मी की उत्पत्ति ग्रीक लिपि से मानते है, किन्तु दूसरे वे लोग है जो इसकी उत्पत्ति सामी (सेमेटिक लिपि) से मानते हैं।

ग्रीक से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति का सिद्धान्त

प्राचीन योरोपीय विद्वानो की यह एक विशेषता रही है कि किसी भी भारतीय श्रेष्ठ वस्तु का उद्भव वे ग्रीक से मानते रहे है। ओ० मूलर, जेम्स प्रिंसेप, सेनार्ट, जोसेफ हाल्वे तथा विल्सन आदि विद्वानो के अनुसार ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति ग्रीक से हुई। बूलर ने इस सिद्धान्त को सर्वथा अमान्य ठहराया। बात यह है कि ब्राह्मी के सम्बन्ध मे जो प्रमाण उपलब्ध हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि मौर्ययुग के कई शताब्दी-पूर्व से ब्राह्मी लिपि प्रचलित थी, अतएव ग्रीक लिपि से इसका सम्बन्ध जोडना युक्तियुक्त नही है।

सामी से ब्राह्मी की उत्पत्ति का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के माननेवाले अनेक विद्वान् हैं, किन्तु सामी लिपि की किस शाखा से ब्राह्मी की उत्पत्ति हुई है, इस सम्बन्ध मे पर्याप्त मतभेद है।

सुविधा की दृष्टि से इन विद्वानो के विचार निम्नलिखित वर्गों के अन्तर्गत सक्षेप मे दिये जाते हैं —

(क) **फोनेशीय उत्पत्ति**—वेबर, बेन्फे, जेन्सेन तथा बूलर आदि विद्वानो ने ब्राह्मी की उत्पत्ति फोनेशीय लिपि से मानी है। इस सिद्धान्त के समर्थन मे मुख्य तत्त्व यह है कि लगभग एक तिहाई फोनेशीय वर्णों की समानता उसी ध्वनि के प्राचीनतम ब्राह्मी प्रतीको से मिलती है। इसके अतिरिक्त एक तिहाई ब्राह्मी और फोनेशीय वर्णों मे बहुत कुछ समानता है और अवशिष्ट वर्णों की समानता भी जैसे-तैसे सिद्ध हो जाती है। इस सिद्धान्त के स्वीकार करने मे सबसे बडी कठिनाई यह मानी जाती थी कि जिस युग मे ब्राह्मी लिपि उद्भूत हुई थी, उस युग मे फोनेशिया तथा भारत का यातायात सम्बन्ध न था। इस सम्बन्ध मे अपना विचार प्रकट करते हुए डॉ० राजवली पाण्डेय इडियन पैलिओ-ग्राफी के पृष्ठ ४०-४१ मे लिखते है—"मैं यह नही मानता कि १५०० ई० पू० मे ४०० ई० पू० मे भारत तथा भूमध्यसागर के पूर्वी किनारे के बीच यातायात का सम्बन्ध नही था। इसमे भी सन्देह नही कि फोनेशीय तथा ब्राह्मी लिपि मे समानता है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि किस लिपि से कौन

लिपि उद्भूत हुई है। इस प्रश्न का सम्बन्ध फोनेशीय जाति की उत्पत्ति से भी है। ग्रीस के प्राचीन इतिहास के पडितो के अनुसार फोनेशीय लोग पूरब की ओर से, समुद्र के मार्ग से, भूमध्य सागर के पूर्वी किनारे पर गए थे। ऋग्वेद के प्रमाण से प्रतीत होता है कि फोनेशीय लोग भारत के निवासी थे। फोनेशीय तथा पश्चिमी एशिया की सामी लिपियों मे साम्य का अभाव भी यह इगित करता है कि फोनेशीय लोग कही बाहर से आए थे। इससे इसी बात की सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि भारत से ही फोनेशीय लिपि भूमध्य सागर के तट पर गई थी।

(ख) दक्षिणी सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति का सिद्धान्त

टेलर, डिके तथा कैनन के अनुसार ब्राह्मी लिपि दक्षिणी सामी लिपि से उद्भूत हुई थी। इस मत को स्वीकार करना कठिन है। यद्यपि प्राचीन काल मे भारत और अरब के सम्पर्क की सम्भावना है, किन्तु इस्लाम के अभ्युदय के पूर्व भारतीय संस्कृति पर अरबी सस्कृति का तनिक भी प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता। इसके अतिरिक्त ब्राह्मी तथा दक्षिणी सामी लिपि मे किसी प्रकार का साम्य नही मिलता। इस प्रकार इन दोनो लिपियो मे पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा ही हास्यास्पद है।

(ग) उत्तरी सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के सबसे बडे पोषक डॉ० बूलर थे। दक्षिणी सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति-सम्बन्धी कठिनाइयों की ओर इगित करते हुए डॉ० बूलर लिखते हैं—"जब हम उत्तरी सामी लिपि से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विचार करते हैं तो ये कठिनाइयाँ सहज ही मे दूर हो जाती हैं। दोनों की समता के उद्योग मे वेबर को जो कठिनाइयाँ हुई थी, वे बाद मे प्राप्त-रूपो के मिलाने से दूर हो गई और अब इस सिद्धान्त को मानने मे कोई कठिनाई नही रह गई कि सामीय चिह्नो को किस प्रकार भारतीय प्रतीको मे परिवर्तित किया गया होगा।" उत्तरी सामी लिपि से ब्राह्मी की व्युत्पत्ति देते हुए बूलर ने ब्राह्मी लिपि की निम्नलिखित विशेषताओ की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है—

ब्राह्मी के वर्ण, जहाँ तक सम्भव है, सीधे हैं और ट, ठ तथा व को छोड कर प्राय सब की ऊँचाई भी समान है।

ब्राह्मी के अधिकाश वर्ण ऊपर से नीचे की ओर लम्बवत् हैं और उनके नीचे तथा ऊपर ही कतिपय जोड़ मिलते है, किन्तु किसी भी दशा मे केवल ऊपर जोड़ नही मिलते।

ऊपर की विशेषताओ की व्याख्या कर वूलर ने उत्तरी सामी लिपि मे ब्राह्मी की उत्पत्ति पर विचार करते हुए उनकी आधारभूता हिन्दुओ की निम्नलिखित प्रवृत्तियो का उल्लेख किया है—

१ पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति ।

२ क्रमवद्ध रेखाओ के अनुकूल प्रतीक-निर्माण की प्रवृत्ति ।

३. वर्णों के सिर पर किसी प्रकार के जोट अथवा भार देने की प्रवृति की ओर से उदासीनता । वूलर के अनुसार इसका कारण यह प्रतीत होता है कि भारतीय अपने वर्णो को ऊपर से नीचे लम्ववत् आती हुई रेखा की सहायता मे अवोभाग मे लटकते हुए रूप मे लिखते थे। इसमे व्यजनो के सिर की पट रेखा स्वरो का प्रतिनिवित्व करती थी । वर्णों के सिर पर किसी प्रकार के जोड अथवा भार की उपेक्षा करने के कारण कई सामी वर्णों को, ऊपर के जोड से मुक्त करके, एक प्रकार से उन्हे उलट दिया गया । अन्त मे वाएँ से दाएँ लिखने के कारण भी सामी लिपि को ब्राह्मी मे वदलते समय अनेक परिवर्तन आवश्यक हो गए ।

ऊपर के तथ्यो पर विचार करने के वाद वूलर इस परिणाम पर पहुँचे कि ब्राह्मी के २२ वर्ण उत्तरी सामी लिपि से, कतिपय वर्ण प्राचीन फोनेशीय लिपि से, कुछ मेसा के शिलालेख से तथा ५ असीरिया के वाँटो पर लिखित अक्षरों मे लिये गए । ब्राह्मी के शेष वर्ण भी, कतिपय परिवर्तन के साथ, वाहरी लिपि से ही लिये गए । वूलर ने अपनी पुस्तक मे इन समस्त लिपियो की तुलनात्मक तालिका उपस्थित करके ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला ।

उत्तरी सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति सम्वन्धी सिद्धान्त के दूसरे वडे समर्थक डॉ० डेविड डिरिंगर है । इस सम्वन्ध मे विचार करते हुए आप अपनी पुस्तक 'अलफावेट' के पृष्ठ ३३६-३३७, मे लिखते हैं—"सभी उपलव्ध ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक तथ्य इस ओर इगित कर रहे है कि मूलत ब्राह्मी लिपि आर्माइक (उत्तरी सामी लिपि) से उद्भूत हुई है ।" ब्राह्मी तथा सामी लिपि की समता भी यही सिद्ध करती है । मेरे विचार मे इसमे तनिक भी सन्देह नही कि भारतीय व्यापारियो का सर्वप्रथम आर्मीय सौदागरो से ही सम्पर्क स्थापित हुआ था । आगे चलकर डॉ० डिरिंगर पुन लिखते है—

"आज से साठ वर्ष पूर्व, रायल एशियाटिक सोसाइटी के मन्त्री, श्री आर० एन० कस्ट ने सोसाइटी के जर्नल (भाग १६, सन् १८८४, पृष्ठ ३२५-३५९) मे 'भारतीय लिपि का उद्भव' (ओरिजिन ऑव द इडियन अलफावेट) शीर्षक लेख प्रकाशित किया था । तव से अनेक नवीन खोजे हुई तथा ब्राह्मी लिपि के

उद्‌भव के सम्बन्ध मे सैकडों पुस्तको एव लेखो मे विचार किया गया, किन्तु आज भी मैं उनके प्रथम दो निर्णयों से बहुत कुछ सहमत हूँ, —

(१) किसी प्रकार भी भारतीय लिपि इस देश के लोगो का स्वतत्र अनुसन्धान नही है। हाँ, यह दूसरी बात है कि अन्यत्र से उधार ली हुई लिपि मे भारतीयो ने अद्‌भुत परिवर्तन एव परिवर्द्धन किया।

(२) इसमे तनिक भी सन्देह नही कि स्वर तथा व्यञ्जन ध्वनियो की प्रतीकस्वरूपा विशुद्ध वर्णात्मक (ब्राह्मी) लिपि पश्चिमी एशिया की लिपि से ही उद्‌भूत हुई।

(यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि भारतीय लिपि अर्द्ध-वर्णात्मक लिपि है, विशुद्ध वर्णात्मक लिपि नही।)

अपने सिद्धान्त के समर्थन मे डॉ० डिरिंगर ने निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए है—

(१) हमे यह कल्पना नही कर लेनी चाहिए कि ब्राह्मी सहज रूप मे आर्मीय लिपि से प्रसूत हुई है। यद्यपि ब्राह्मी के कई वर्णो के रूपो पर सामी लिपि का प्रभाव है और मूलत इसकी दाहिने से बाये लिखने की प्रणाली भी सामी ही है, तथापि मुख्य रूप मे ब्राह्मी के सम्बन्ध मे जो बात स्वीकृत की गई थी, वह सम्भवत इसके वर्णात्मक रूप मे लिखने की पद्धति थी।

(२) कुछ विद्वानो का यह मत है कि चूँकि भारतीय लिपि का रूप अक्षरात्मक है, अतएव यह वर्णात्मक लिपि से नही प्रसूत हुई होगी, क्योकि प्रगति के क्षेत्र मे वर्णात्मक लिपि का स्थान अक्षरात्मक की अपेक्षा ऊँचा है। इस सम्बन्ध मे यही कहा जा सकता है कि ये विद्वान् यह बात प्राय भूल जाते है कि सामी लिपि मे स्वरो का अभाव रहता है और जहाँ लिखावट मे सामी लिपि मे स्वर छोडा जा सकता है, वहाँ भारोपीय भाषाओ मे इनका उपयोग आवश्यक होता है। ग्रीक लोगो ने इस समस्या का समाधान सफलतापूर्वक किया था, किन्तु भारतीय इसमे सफल न हो सके। सम्भवत इसका कारण यह था कि ब्राह्मी के अन्वेषक वर्णात्मक लिपि के मूल तत्त्व को समझ न पाए। यह भी सम्भव है कि उन्हे सामी लिपि अर्द्ध अक्षरात्मक प्रतीत हुई हो, जैसा कि वह भारोपीय भाषा-भाषियो को प्रतीत होती है।

उत्तरी सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना के पूर्व, सर्वप्रथम इन दोनो लिपियो की तुलनात्मक विशेषता के सम्बन्ध मे विचार करना आवश्यक है।

सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे निम्नलिखित तर्क हैं—

(१) ये दोनो लिपियाँ एक दूसरे से मिलती है।

(२) प्राचीन भारतीय लिपि चित्रात्मक थी, किन्तु किसी भी वर्णात्मक लिपि की उत्पत्ति चित्रात्मक लिपि से नही होती । उत्तर ज्ञात लिपियो मे प्राचीनतम सामी ही है, अतएव अर्द्ध-अक्षरात्मक लिपि ब्राह्मी की उत्पत्ति सामी से ही सम्भव है ।

(३) मूलत, ब्राह्मी लिपि भी सामी की भाँति दाहिने से बाएँ लिखी जाती थी ।

(४) ५०० ई० पू० के लिखावट के नमूने का भारत मे अभाव है ।

आलोचना

ऊपर के तर्कों पर एक-एक करके विचार करना आवश्यक है। इसमे सन्देह नही कि उत्तरी पश्चिमी एशिया की फोनेशीय तथा आर्मीय लिपियो का ब्राह्मी से सादृश्य है, किन्तु केवल इसी के आधार पर यह सिद्ध नही होता कि ब्राह्मी की उत्पत्ति इन सामी लिपियो से हुई है। बूलर ने तो नितान्त विचित्र ढग से ब्राह्मी की उत्पत्ति सामी लिपि से सिद्ध करने का यत्न किया है।

डॉ० राजबली पाण्डेय के अनुसार फोनेशीय तथा ब्राह्मी लिपि मे जो साम्य है, उसका कारण यह है कि फोनेशीय लोगो का मूल निवासस्थान भारत ही था और ये लोग यही की लिपि अपने साथ ले गए थे। वहाँ सामी लोगो के बीच रहने के कारण इस लिपि मे पर्याप्त अन्तर पड गया, किन्तु उनकी लिपि ने भी उत्तरी सामी अथवा आर्माइक लिपि को प्रभावित किया। वास्तव मे इस आर्माइक लिपि ने दक्षिणी सामी तथा मिस्र की लिपियों को छोडकर पश्चिमी एशिया की अन्य लिपियों को प्रभावित किया । इस प्रकार ब्राह्मी की उत्पत्ति फोनेशीय तथा आर्माइक लिपियो से नही हुई, अपितु इन दोनों लिपियो की उत्पत्ति प्राचीन ब्राह्मी लिपि से हुई ।

जहाँ तक डिरिंगर के दूसरे तर्क का सम्बन्ध है, यह युक्ति-युक्त नही है कि चित्रलिपि से वर्णात्मक लिपि का विकास नही होता । प्राचीन काल मे अनेक देशो मे चित्रात्मक लिपि ही प्रचलित थी । यह दूसरी बात है कि चित्रलिपि के किन अन्वेषको ने अपनी लिपियो को विकसित करके उन्हे वर्णात्मक रूप प्रदान किया । इस सम्बन्ध मे एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि भारत की प्राचीनतम लिपि सिन्धु-घाटी-लिपि है, किन्तु यह चित्रलिपि नही है । यह ध्वन्यात्मक एवं अक्षरात्मक लिपि प्रतीत होती है । अतएव यह तर्क ठीक नही है कि ब्राह्मी की उत्पत्ति सिन्धु-घाटी-लिपि से नही हो सकती ।

डिरिंगर का तीसरा तर्क यह है कि मूलतः ब्राह्मी दाहिने से बाएँ लिखी जाती थी, अतएव इसकी उत्पत्ति सामी लिपि से हुई होगी । इस तर्क का आधार

भी सन्देहपूर्ण है तथा इस सम्बन्ध मे जो सामग्री उपलब्ध है, वह भी पर्याप्त नही हैं। जब बूलर ने अपनी 'इडियन पैलिओग्राफी' नामक पुस्तक लिखी थी तब दाहिने से बाएँ लिखित ब्राह्मी लिपि के निम्नलिखित नमूने प्राप्त थे—

(१) अशोक के अभिलेख के कुछ अक्षर।

(२) मध्यप्रदेश के सागर जिले के एरण नामक स्थान मे कनिंघम द्वारा प्राप्त सिक्के का अभिलेख।

(३) मद्रास राज्य के यरगुडी नामक स्थान मे प्राप्त अशोक के लघु शिलालेख की लिपि।

बूलर ने ऊपर के सख्या १ तथा २ नमूनो को अत्यधिक महत्त्व दिया, क्योकि ये दोनो शिलालेख उनके सामी लिपि से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त को सम्पुष्ट करनेवाले थे। किन्तु बूलर की यह खोज बहुत सबल नहीं है। सर्वप्रथम ऊपर के दोनो नमूने नितान्त लघु एव संक्षिप्त हैं। इनके विपरीत बाएँ से दाएँ ओर लिखी हुई ब्राह्मी लिपि के प्रभूत उदाहरण उपलब्ध है। इस सम्बन्ध मे एक अन्य बात यह भी विचारणीय है कि कभी-कभी साँचे बनानेवालो की भूल के कारण भी सिक्को पर के लेख उलट जाते हैं। अतएव ऐसे लेखो के आधार पर कोई निश्चित परिणाम नही निकाला जा सकता। यही कारण है कि हुल्श तथा फ्लीट बूलर के मत को स्वीकार नहीं करते। जहाँ तक यरगुडी के अशोक के लघु लेख का प्रश्न है, यह विचित्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके अक्षरो के काटनेवाले ब्राह्मी लिपि के लेखन-सम्बन्धी कुछ नवीन प्रयोग मे व्यस्त थे। इस लेख की पहली पंक्ति बाएँ से दाएँ तथा दूसरी पंक्ति दाएँ से बाएँ हलावर्त्त रूप मे लिखी गई है। इससे यही प्रतीत होता है कि इस शिलालेख के लेखक एक नये ढग से लिखने का प्रयोग कर रहे थे। अतएव केवल इस शिलालेख के आधार पर ही ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति सामी लिपि से मानना युक्तिसंगत न होगा। डिरिंगर का चौथा तर्क भी बहुत युक्तिसगत नही है। चूँकि ३५०० ईसा पूर्व सिन्धु-घाटी-लिपि के बाद भारत मे ५०० ई० पू० से लिपि के नमूने मिलने प्रारम्भ हुए हैं, अतएव इसके बीच के काल मे लिपि के नमूने न मिलने से यह कैसे मान लिया जाय कि इस प्रकार के नमूने कही थे ही नही? इस बात की बहुत सम्भावना है कि भारत की आर्द्र जलवायु तथा नदियो की बाढ़ के कारण लिपि-सम्बन्धी बहुत से नमूने नष्ट हो गए होंगे। जहाँ तक साहित्यिक प्रमाण का प्रश्न है, भारतीय साहित्य मे इस प्रकार के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनसे यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि यहाँ के लोग बौद्धयुग के बहुत पहले से ही लिखना जानते थे। इस बात को प्रकारान्तर से बूलर ने भी स्वीकार किया

है। सिन्धु घाटी के दो ऐसे शिला-लेख मिले है, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन युग में विनष्ट होनेवाली कोमल वस्तुओ पर भी लिखा जाता था। इस परिस्थिति मे ब्राह्मी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अन्वेषण करने के लिए किसी विदेशी लिपि की ओर जाना उचित नही प्रतीत होता।

अन्य किसी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति की खोज करने के पूर्व इसकी निम्नलिखित विशेषताओं पर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) प्रायः सभी उच्चरित ध्वनियो के लिए ब्राह्मी मे निश्चित चिह्न अथवा प्रतीक हैं।

(२) इसमे वर्णो का उच्चारण ठीक उसी रूप में होता है, जिस रूप मे वे लिखे जाते हैं।

(३) इनमे स्वरों एव व्यंजनो की संख्या पर्याप्त है।

(४) ह्रस्व एवं दीर्घ स्वरों के लिए इसमे भिन्न-भिन्न चिह्न हैं।

(५) इसमे अनुस्वार, अनुनासिक एवं विसर्ग के चिह्न भी हैं।

(६) उच्चारण-स्थान के अनुसार इनमे वर्णो का ध्वन्यात्मक वर्गीकरण है।

(७) इसमें स्वरों और व्यजनों का संयोग मात्राओं द्वारा होता है।

ऊपर की विशेषताओं से सम्पन्न ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति सामी से सम्भव नहीं जान पड़ती, क्योकि इन विशिष्टताओ का सामी लिपि में सर्वथा अभाव है। उत्तरी सामी लिपि मे तो अठारह ध्वनियो के लिए बाईस ध्वनि-चिह्न है। इसमे वर्णों के रूप तथा उनके उच्चारण मे भी एकता नही है। इसमे एक ध्वनि के लिए कई वर्ण हैं। इनमें न तो ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरो के लिए ही कोई चिह्न है और न अनुस्वार एवं विसर्ग के लिए ही कोई प्रतीक है। इसमे स्वरों की संख्या भी कम है और व्यञ्जनो के साथ स्वरो का संयोग भी इस रूप मे होता है कि उसे विभिन्न रूपों में पढ़ा जा सकता है। ऐसी अपूर्ण लिपि से ब्राह्मी जैसी पूर्ण लिपि का उद्भव नहीं हो सकता।

बूलर ने ब्राह्मी की ध्वन्यात्मक तथा व्याकरण सम्बन्धी श्रेष्ठता को मानते हुए यह स्वीकार किया है कि इसके निर्माता भारतीय ही थे। आप लिखते हैं— "फिर भी इसमे सन्देह नही कि ब्राह्मी के प्राचीनतम उपलब्ध रूप विद्वान् ब्राह्मणो के द्वारा निर्मित हुए।"

ब्राह्मी लिपि के स्वरो और व्यंजनो की पर्याप्त संख्या एवं उच्चारण-स्थान के अनुसार उनका विभिन्न वर्गों मे वर्गीकरण यह स्पष्टरूप से प्रमाणित करता है कि इसके निर्माण में भाषाशास्त्र तथा विज्ञान मे निष्णात ब्राह्मणों का हाथ था। इस लिपि की उद्भावना भी व्यावसायिक सुविधा के लिए नही हुई थी,

अपितु वैदिक साहित्य को लिपिवद्ध करने के लिए ही उसका निर्माण हुआ था। वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि इसके मंत्र-द्रष्टाओं को वर्ण एव अक्षर का सूक्ष्म ज्ञान था। वैदिक मत्रो मे प्रयुक्त सात छन्द तो अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। ये हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, वृहति, पक्ति, त्रिष्टुप् एव जगती। इन सातो छन्दो का सामान्य नाम अनुष्टुप ही है, किन्तु इनमे स्पष्टरूप से सूक्ष्म अन्तर है। छन्दो की रचना करते समय प्रत्येक पाद के वर्णो की गणना आवश्यक थी, अतएव वैदिक मत्रो के प्रणेताओ को वर्णो एव अक्षरों तथा स्वर-व्यजनो और उसके सूक्ष्म भेदो का पूर्ण ज्ञान था।

प्रातिशाख्यो के अनुशीलन से भी यह वात ज्ञात होती है कि वैदिक युग के ब्राह्मणो को ध्वनि-उच्चारण सम्वन्धी सूक्ष्म क्रिया का ज्ञान था। इनके अनुसार इच्छा शक्ति से प्रेरित होकर जव नाभि प्रदेश से प्राणवायु उर्ध्वगामी होती है तव वह उरस्, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, तालु, दन्त, नासिका एव ओष्ठ का स्पर्श करती है और ध्वनि उत्पन्न होती है। यह श्रोत्रग्राह्य ध्वनि ही वर्ण है। इसप्रकार वर्णो की पूर्ण एव स्वत. स्थिति है तथा स्थान एव प्रयत्न के अनुसार ये वैज्ञानिक रीति से विभक्त हैं। उच्चारण के समय इसकी चार अवस्थाएँ होती हैं और ये हैं परा, पश्यन्ति, मध्यमा एव वैखरी। इन चारो अवस्थाओ मे ध्वनि, क्रमश: सूक्ष्म से स्थूल होती जाती है। अन्तिम वैखरी अवस्था मे ही ध्वनि श्रोत्र-ग्राह्य होती है। आधुनिक ध्वनि-विज्ञानी यही से ध्वनियो के अध्ययन का कार्य आरम्भ करते हैं।

सच तो यह है कि जव वैदिक युग मे ब्राह्मणो को वैज्ञानिक वर्णमाला का ज्ञान हो गया था, तभी उन्होने लिपि का भी प्रणयन किया था। वास्तव मे वर्णो का प्रतीक ही लिपि है। पश्चिमी देशों मे ये प्रतीक जीवन्त चक्षुग्राह्य वस्तुओं से लिये गए थे और वाद मे ये अन्य लिपियों के सम्पर्क से ध्वन्यात्मक लिपि मे परिवर्तित हुए थे, किन्तु यह स्थिति भारत मे नही आई। यहाँ वर्णो की ध्वनि-ऊर्जा (Sound energy) ही वर्णो मे परिवर्तित हो गई। इस तथ्य को श्री एच० के० भट्टाचार्य ने अपनी सन् १९५९ मे, अँग्रेजी मे प्रकाशित पुस्तक 'द लैंग्वेज ऐंड स्क्रिप्ट ऑव एन्शियण्ट इडिया' के पृष्ठ ९७-११२ मे स्पष्ट करने का यत्न किया है। श्री भट्टाचार्य के अनुसार ब्राह्मी लिपि के वर्णो की उच्चरित ध्वनियो एव उनके रूपो मे समवाय सम्वन्ध है। जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, इच्छा-शक्ति से ही इन वर्णों के उच्चारण का आरम्भ होता है। इसके उपरान्त उच्चारण मे गति आती है जिसके परिणामस्वरूप मुख की आकृति एक विशेष रूप ग्रहण कर लेती है। श्री भट्टाचार्य के अनुसार इस आकृति के अनुरूप ही ब्राह्मी के वर्णो का आकार

निर्मित हुआ है। आपने इस बात की व्याख्या प्रस्तुत की है कि ब्राह्मी के प्रत्येक वर्ण के प्रतीक उसके उच्चारण-काल की मुखाकृति के अनुरूप ही निर्मित हुए हैं।

सभी बातों पर विचार करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार संस्कृत-व्याकरण प्राचीन युग के ब्राह्मण-ऋषियो की अद्भुत कृति है, उसी प्रकार वैज्ञानिक ब्राह्मी लिपि भी उन्ही की उद्भावना है और उसकी उत्पत्ति सम्बन्धी पाश्चात्य विद्वानो की धारणा नितान्त काल्पनिक है।

ब्राह्मी लिपि का विकास एवं प्रसार

मौर्ययुग की ब्राह्मी लिपि के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग मे ही यह लिखावट की कला मे पूर्णता प्राप्त कर चुकी थी, क्योकि इसके द्वारा ध्वनियों का विश्लेषण हो जाता है, किन्तु इस लिपि मे लिखित प्राकृत शब्दो को देखने से ज्ञात होता है कि द्वित्व-व्यजन वर्णों को लिखने मे यह लिपि समर्थ न थी। उदाहरणार्थ 'वस्स' शब्द इस लिपि मे 'वस' या 'वास' रूप मे लिखा जाता था।

भारतीय संस्कृति के प्रतीकस्वरूप वस्तुत ब्राह्मी लिपि ही भारत के विविध राज्यो एव भारत के बाहर विदेशों में फैली। प्राचीन एव बाद के मौर्य एव शुग युग की ब्राह्मी चौथी शताब्दी मे गुप्त ब्राह्मी मे परिणत हुई। यह गुप्त युग की ब्राह्मी ही भारतीय धर्म-प्रचारको द्वारा मध्य एशिया पहुँची, जिसमे वहाँ की पुरानी खोतनी तथा ईरानी एव तोखारी भाषाएँ लिखी गईं।

सिद्धमात्रिका लिपि

गुप्तयुग की पश्चिमी-शाखा की पूर्वी उपशाखा से छठी शताब्दी मे सिद्ध-मात्रिका लिपि का विकास हुआ। इसके आकार के कारण बूलर ने इसका नाम 'न्यून कोणीय लिपि' भी रखा है। ५८८-८९ ई० का बोधगया का प्रसिद्ध लेख सिद्धमात्रिका लिपि मे ही है।

दक्षिणी भारत की लिपियाँ

दक्षिण भारत मे ब्राह्मी लिपि का विकास किंचित् भिन्न प्रकार से हुआ। इसके दो मुख्य रूप दक्षिण मे प्रचलित हुए। इनमे एक था 'उत्तरी रूप' तथा दूसरा 'दक्षिणी रूप'। वस्तुत उत्तरी रूप से ही 'तेलगु' तथा 'कन्नड़' लिपियाँ उत्पन्न एव विकसित हुई हैं।

दक्षिणी लिपि से तमिल देश मे प्रचलित प्राचीन ग्रथ-लिपि का उद्भव

हुआ था। सस्कृत-ग्रथों के लिखने के लिए ही व्यवहृत होने के कारण इसका नाम ग्रथ लिपि पडा। इसका प्राचीन रूप 'वट्टेलुट्टु' नाम से प्रख्यात है।

सिहल (सीलोन) की 'सिहली लिपि' का विकास भी ब्राह्मी से स्वतत्र रूप से हुआ था।

'तिब्बती लिपि' का विकास भी सिद्धमात्रिका तथा कश्मीरी (शारदा) लिपि से हुआ था। सातवी शती की इस लिपि का प्रयोग चीन तथा जापान के बौद्ध आज भी करते है।

दक्षिणी लिपि ही विभिन्न युगो मे हिन्दचीन (इण्डोचाइना) तथा हिन्देशिया (इण्डोनेशिया) मे पहुँची और इसी ने वहाँ की लिपियो को जन्म दिया। इन दोनो के सम्मिश्रण तथा विशेष रूप से दक्षिणी लिपि के प्रभाव से मॉन अथवा तलग लिपियाँ अस्तित्व मे आईं। इस लिपि को दसवी शती मे उत्तरी ब्रह्मा के मगोल लोगो ने अपनाया। आधुनिक 'बर्मी लिपि' इसी से विकसित हुई है।

द्वितीय शती ईस्वी पूर्व की दक्षिणी लिपि से कम्बोडिया की लिपि उत्पन्न हुई और कुछ परिवर्तन के साथ इससे 'स्याम की लिपि' उत्पन्न हुई।

दक्षिणी लिपि का ही एक रूप सुमात्रा तथा जावा द्वीपो मे पहुँचा तथा इसी मे जावा तथा वाली द्वीप की लिपियो की उत्पत्ति हुई। सुमात्रा की 'वटक लिपि' तथा सेलिबीज एव फिलिपाइन्स की लिपियो का जन्म भी इसी दक्षिणी भारतीय लिपि से हुआ।

उत्तरी भारत की लिपियाँ

सातवी शताब्दी मे गुप्त ब्राह्मी मे परिवर्तन हुआ। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् तो उत्तरी भारत की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई जिसके परिणामस्वरूप उत्तरी भारत मे अनेक स्वतत्र राज्य स्थापित हो गए। इसका प्रभाव लिपि पर भी पडा और उत्तरी भारत की लिपि निम्नलिखित तीन प्रकार की लिपियो मे विभक्त हो गई। ये हैं—(क) शारदा (ख) कुटिल (ग) नागर। इन तीनो लिपियो से ही उत्तरी भारत की आधुनिक युग की लिपियाँ प्रसूत हुई हैं। इनके सम्बन्ध मे नीचे विचार किया जाता है —

(क) शारदा

इस लिपि का प्रचार एव प्रसार उत्तरी-पश्चिमी भारत, कश्मीर, पजाब तथा सिंध मे हुआ। स्थानीय भेद के अनुसार इस लिपि के तीन स्वरूप—टक्री, लण्डा तथा गुरमुखी—मिलते है। ग्रियर्सन के अनुसार तो शारदा, टक्री तथा लडा वस्तुत भगिनी-स्वरूपा लिपियाँ हैं। दूसरे शब्दो मे इन तीनो की उत्पत्ति एक ही लिपि से हुई है। किन्तु बूलर के अनुसार टक्री अथवा

टक्करि की उत्पत्ति शारदा लिपि से हुई है और यह टक्क लोगो की लिपि है। टक्क जाति के लोग किसी समय प्राचीन साकल तथा आधुनिक स्यालकोट मे निवास करते थे। इसका प्रचलन निम्न श्रेणी के व्यापारियो मे है। महाजनी लिपि की भाँति इसके स्वर अपूर्ण है। इससे प्रसूत अनेक रूप पजाब के उत्तर तथा हिमालय के निचले प्रदेशो मे प्रचलित हैं।

डोग्री लिपि

इसका प्रयोग पजाबी की डोग्री भाषा के लिखने मे होता है। यह भाषा जम्मू राज्य के आसपास प्रचलित है।

चमेआली लिपि

इस लिपि का प्रयोग चम्बा प्रदेश की पश्चिमी पहाडी भाषा, चमेआली के लिखने मे होता है। चमेआली भाषा-भाषियो की सख्या ६५,००० के लगभग है। जहाँ तक स्वरो का सम्बन्ध है, चमेआली मे इनकी सख्या पर्याप्त है और यह देवनागरी लिपि की भाँति ही बहुत अशो मे पूर्ण है। छपाई मे भी इसका प्रयोग होता है। साथ ही चमेआली मे अनूदित बाइबिल के कुछ अश भी इसमे प्रकाशित हुए हैं। 'मडेआली' लिपि का प्रयोग मडी तथा सुकेत के राज्यो मे होता है। मडेआली भाषा-भाषियो की सख्या मडी राज्य मे डेढ लाख तथा सुकेत राज्य मे पचपन हजार है।

सिरमौरी लिपि

यह भी टक्री लिपि की ही एक उपशाखा है जो पश्चिमी पहाडी की सिरमौरी बोली के लिखने मे प्रयुक्त होती है। सिरमौरी बोलनेवालो की सख्या सवा-लाख के लगभग है। सिरमौरी लिपि पर देवनागरी लिपि का प्रभाव स्पष्ट है।

जौनसारी लिपि

सिरमौरी लिपि से यह लिपि बहुत मिलती-जुलती है। यह उत्तर प्रदेश के पहाडी प्रदेश, जौनसार बाबर मे प्रचलित है। जौनसारी भाषा की गणना भी पश्चिमी पहाडी के अन्तर्गत है। इसके बोलनेवालो की सख्या पचास हजार के लगभग है। इस प्रदेश मे देवनागरी लिपि का भी प्रयोग होता है।

कोछी लिपि

इस लिपि का प्रयोग शिमला पर्वत की पश्चिमी पहाडी बोली 'किउठाली'

की उपभाषा 'कोछी' के लिए होता है। यह लिपि भी टक्री का ही एक भेद है। कोछी भाषा-भाषियो की सख्या बावन हजार के लगभग है। स्वरो की अव्यवस्था के कारण यह लिपि भी बहुत कुछ अपूर्ण है।

कुल्लुई लिपि

यह कुल्लू घाटी (पजाब) मे प्रचलित है। कुल्लुई भाषा की गणना भी पश्चिमी पहाडी के अन्तर्गत है। इसके बोलनेवालो की सख्या पचपन हजार है।

कश्टवारी लिपि

ग्रियर्सन के अनुसार यह लिपि टक्री तथा शारदा के बीच की कडी है। कश्टवारी बोली को लिखने के लिए यह लिपि प्रयुक्त होती है। कश्मीर के दक्षिणपूर्व, कश्टवार की घाटी मे कश्टवारी बोली का क्षेत्र है। यह मूलतः कश्मीरी की ही एक उपभाषा है किन्तु इस पर पहाडी एव लहँदा का अत्यधिक प्रभाव है।

लंडा लिपि

लडा लिपि का प्रचार पजाब तथा सिन्ध मे है। यद्यपि यह यहाँ की राष्ट्रीय लिपि है तथापि इसका सर्वाधिक प्रचार व्यवसायियों तथा दूकानदारो मे ही है। लडा लिपि का प्रयोग लहँदा तथा सिन्धी बोलियो के लिखने के लिए होता है। लहँदा भाषा-भाषियो की सख्या सत्तर लाख तथा सिन्धी बोलनेवालो की सख्या पैंतीस लाख के लगभग है। टक्री तथा महाजनी लिपियो की भाँति ही लडा लिपि का पढना भी कठिन है। इसके कई स्थानीय भेद है। टक्री की तरह यह भी अपूर्ण लिपि है और इसमे भी स्वरो के प्रयोग के सम्बन्ध मे अत्यधिक अव्यवस्था है।

मुल्तानी लिपि

लडा लिपि के अनेक स्थानीय भेद है। इन्ही मे से मुल्तानी भी एक है। लहँदा की बाईस बोलियो मे मुल्तानी का प्रमुख स्थान है। मुल्तानी बोलनेवालो की सख्या पच्चीस लाख है।

सिन्धी लिपि

आज से सौ वर्ष पूर्व प्रकाशित जार्ज स्टैक के सिन्धी-व्याकरण मे लडा से प्रसूत एक दर्जन लिपियो का उल्लेख है। इनमे हैदराबाद मे प्रचलित खुड-

वाडी लिपि मुख्य है और प्राय. देश भर के सिन्धी-व्यापारी इस लिपि का प्रयोग करते हैं। सिन्ध मे प्रचलित लडा लिपि को 'वनिया' या 'वानिको' कहते हैं। सन् १८६८ मे यह सरकारी लिपि घोषित की गई थी। सिन्ध मे स्कूली पुस्तको की छपाई के लिए भी इस लिपि का प्रयोग होता है। सिन्ध के लगभग तीस लाख मुसलमान अरवी-फारसी लिपि का प्रयोग करते हैं। इधर पाकिस्तान के निर्माण के वाद सिन्धी लिपि का प्रयोग केवल हिन्दुओ मे ही सीमित हो गया है। अव सिन्धी तथा वाहर से गये हुए मुसलमान एक-मात्र अरवी-फारसी लिपि का ही प्रयोग करने लगे हैं।

गुरुमुखी लिपि

लडा लिपि मे ही कतिपय सुधार करके सिक्खो के दूसरे गुरु श्री अगद (१५३८-५२) ने गुरुमुखी लिपि का निर्माण किया था। कुछ लोग भ्रमवश इसे पजावी लिपि भी मानते हैं। आजकल पजावी इसी लिपि मे लिखी जाती है। इसके प्रयोग करनेवाले भी प्राय सिक्ख ही है। पजाव के हिन्दुओ मे देवनागरी लिपि का ही प्रचार है।

(ख) कुटिल लिपि

इस लिपि का प्रचार पूर्वी उत्तरप्रदेश, विहार, वगाल, आसाम, उडीसा, मनीपुर तथा नेपाल मे हुआ। तिरछे तथा टेढे-मेढे ढग से लिखने के कारण इसका नाम कुटिल लिपि पडा।

विहारी लिपि

भाषा की दृष्टि से पूर्वी उत्तरप्रदेश, पश्चिमी-विहार का ही एक भाग है। आजकल विहार मे पुस्तको की छपाई तथा सामान्य रूप से लिखने मे भी नागरी लिपि का ही प्रयोग होता है किन्तु विहार की प्रचलित लिपि कैथी है। चूंकि इधर सरकारी कार्यालयो मे लिखने-पढने का सव से अधिक कार्य कायस्थ जाति के लोग ही करते रहे अतएव इस लिपि का 'कैथी' नाम पड गया। इसके तीन स्थानीय भेद हैं—

१ तिरहुती कैथी लिपि—इसका प्रयोग तिरहुत के लोग करते हैं। यह वहुत सुन्दर लिपि है।
२ भोजपुरी कैथी लिपि—इसका प्रयोग भोजपुरी वोली के लिखने मे होता है। भोजपुरी, पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा विहार की मुख्य वोली है। यहाँ

प्रचलित कैथी लिपि, नागरी से बहुत मिलती-जुलती है। अतएव इसके पढने मे कठिनाई नही होती।

३ मगही कैथी लिपि—इसका प्रयोग बिहार की मगही बोली के लिखने के लिए होता है। पटना तथा गया जिलो मे इसका सर्वाधिक प्रचार है। पहले छपाई मे भी इस लिपि का प्रयोग होता था किन्तु अब इसका स्थान नागरी लिपि ने ले लिया है।

४ मैथिली लिपि—उत्तर बिहार की बिहारी भाषा की मैथिली बोली के लिखने के लिए इस लिपि का प्रयोग होता है। इसे तिरहुती लिपि भी कहते है। बिहार के इस अचल मे निम्नलिखित तीन लिपियो का प्रयोग होता है—

(क) देवनागरी—साहित्यिक मैथिली तथा हिन्दी के लिखने तथा छापे मे इस लिपि का प्रयोग होता है।

(ख) तिरहुती कैथी लिपि—इसके सम्बन्ध मे ऊपर लिखा जा चुका है।

(ग) मैथिली लिपि—इसका प्रयोग केवल मैथिल ब्राह्मणो तक ही सीमित है। ब्राह्मणेतर जातियाँ इसका प्रयोग नही करती। यह लिपि बगला लिपि से बहुत मिलती-जुलती है किन्तु यह पढने मे बगला की अपेक्षा कठिन है। सम्पूर्ण बिहार मे शिक्षा का माध्यम हिन्दी होने के कारण सम्प्रति यहाँ नागरी लिपि का ही सर्वाधिक प्रचार एव प्रयोग है और धीरे-धीरे ऊपर की स्थानीय लिपियाँ समाप्त होती जा रही है।

बगला लिपि

बूलर के अनुसार प्राचीन बगला लिपि का उद्भव, ११वी शती मे, भारत के पूर्वी अचल मे प्रचलित नागरी लिपि से हुआ था। श्री एस० एन० चक्रवर्ती (इस सम्बन्ध मे देखो, बगाल की रायल एशियाटिक सोसाइटी भाग ४, सन् १९३८, पृ० ३५१-३९१) के अनुसार प्राचीन बगला लिपि का विकास सातवी शती की उत्तर-भारत की लिपि से हुआ था। यह लिपि जौहरियो (सोने-हीरे के व्यवसायियो) मे प्रचलित थी। फरीदपुर (बगाल) के दानपत्र मे इस लिपि का प्रयोग हुआ है। सातवी से नवी शती तक यह लिपि स्वतत्र रूप से बगाल मे विकसित होती रही। दसवी शती मे, इस पर नागरी लिपि का भी प्रभाव पडा और इस प्रकार प्राचीन बगला लिपि के रूप मे एक नवीन लिपि अस्तित्व मे आई। प्राचीन बगला लिपि मे ११-१२वी शती की हस्तलिखित पुस्तके प्राप्त है। १५-१६वी शती तक बगला लिपि पूर्णतया विकसित हो गई थी। बगला की वर्णो की सख्या तथा उनका क्रम भी ठीक देवनागरी का ही है।

असमिया लिपि

यह बंगला लिपि का ही एक भेद है तथा असमिया भाषा के लिखने में प्रयुक्त होती है। असमिया भाषा-भाषियों की संख्या बीस लाख के लगभग है। असमिया तथा बंगला लिपियों में मुख्य अन्तर यह है कि असमिया में 'र' तथा 'व' वर्णों के रूप बंगला से भिन्न हैं।

उड़िया लिपि

उड़िया लिपि का मूल स्रोत वही है जो बंगला का, किन्तु दक्षिण की तेलुगु तथा तमिल लिपियों के प्रभाव से उड़िया की लिखावट विचित्र हो गई है। इसके वर्ण वर्तुलाकार हो गए हैं। प्राचीनकाल में दक्षिण तथा उड़ीसा में ताड़पत्रों पर लोहे की शलाका से लिखा जाता था। अतएव ताड़पत्रों पर खड़े-खड़े अक्षर लिखने से उनके फट जाने की आशंका रहती थी। इससे बचने के लिए ही दक्षिण भारत या उड़ीसा की लिपियों का आकार वर्तुलाकार बनाया गया। उड़िया लिपि के आज तीन भेद प्रचलित हैं—

(१) ब्राह्मनी—इसका प्रयोग केवल ताड़पत्रों पर लिखने के लिए होता है। धार्मिक ग्रंथों के लिखनेवाले ब्राह्मणों तक ही यह लिपि सीमित है।

(२) करनी—कागज-पत्रों (दस्तावेजों) के लिखने में यह लिपि प्रयुक्त होती है। इस लिपि के उद्भावक करण कायस्थ हैं।

(३) गंजाम जिले के कुछ भाग में जो उड़िया लिपि प्रचलित है, वह वर्तमान उड़िया लिपि की अपेक्षा और भी अधिक वर्तुलाकार है। इसका मुख्य कारण तेलुगु लिपि का अधिक प्रभाव ही है।

प्राचीन मनीपुरी लिपि

प्राचीन मनीपुरी लिपि की उत्पत्ति सम्भवतः बंगला लिपि से हुई थी। सत्रहवीं शती में तिब्बती-बर्मी शाखा की भाषा मनीपुरी को लिखने के लिए इस लिपि का प्रयोग किया गया था। आजकल यह लिपि बहुत कम प्रयोग में है।

प्राचीन नेपाली अथवा नेवारी लिपि

इस लिपि की उत्पत्ति भी प्राचीन बँगला लिपि से हुई थी। नेवारी भाषा तिब्बती-हिमालय की एक उपभाषा है। नेपाल के नेवार बौद्ध हैं और नेवारी में बौद्धधर्म-सम्बन्धी साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। नेपाल की राजभाषा गोरखाली है। इसके लिखने के लिए नागरी लिपि व्यवहृत होती है।

(ग) नागर लिपि

इसे नागरी अथवा देवनागरी लिपि भी कहते है। प्राचीनकाल मे पश्चिमी उत्तरप्रदेश, गुजरात, राजस्थान, एव महाराष्ट्र मे इसका प्रचार एवं प्रसार था। नागरी का मूल अर्थ क्या है, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। कतिपय विद्वानो के अनुसार बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रथ 'ललित विस्तर' की 'नाग लिपि' ही नागरी है, किन्तु डॉ० एल० डी० वार्नेट के अनुसार नाग लिपि तथा नागरी मे कोई सम्बन्ध नही है। कुछ लोग गुजरात के नागर ब्राह्मणो से इसका सम्बन्ध स्थापित करते हैं किन्तु अन्य लोग इसका सम्बन्ध नगर से बतलाते हैं। चूंकि देवभाषा सस्कृत के लिखने के लिए भी इसका प्रयोग किया गया अतएव इसे देवनागरी नाम से भी अभिहित किया गया।

प्राचीन काल में नागरी लिपि का प्रचार-प्रसार

हर्षवर्द्धन की मृत्यु के उपरान्त भारतीय इतिहास मे जिस युग का प्रादुर्भाव हुआ वह राजपूत-युग के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल मे उत्तरी एव दक्षिणी भारत मे अनेक नये राज्यो की स्थापना हुई जिनके शासक क्षत्रिय थे। ये नये शासक सस्कृत भाषा, मध्यदेश के शौरसेनी अपभ्रंश तथा नागरी लिपि के पोषक एव प्रेमी थे, अतएव इनके संरक्षकत्व मे, उत्तरी तथा दक्षिणी भारत मे नागरी लिपि का प्रचार-प्रसार हुआ।

उत्तरी भारत मे नागरी लिपि का समारम्भ, सातवी शताब्दी मे, सम्राट् हर्षवर्द्धन के शासनकाल मे प्रचलित लिपि से माना जा सकता है। इस युग की नागरी लिपि अत्यन्त अलंकृत है और सम्राट् का हस्ताक्षर तो प्राचीन नागरी का उत्कृष्ट नमूना है। सम्राट् हर्षवर्द्धन केवल शासक एव विजेता ही नही था, अपितु वह उच्च स्तर का साहित्यिक, कवि एव लेखनकला मे भी दक्ष था।

हर्षवर्द्धन की नागरी लिपि के समान ही, दक्षिण मे महाबलीपुरम् एवं काञ्चीपुरम् के कैलाश मन्दिर के शिलालेखो की लिपि है। ये शिलालेख पल्लव राजाओं के शासन-काल मे प्रचलित नागरी लिपि मे उत्कीर्ण हैं। दक्षिण भारत मे, ग्रथ-लिपि के साथ-साथ नागरी लिपि का प्रचार एवं प्रसार इस बात का द्योतक है कि देश के इन दोनो भागो मे भावात्मक एकता के रूप मे नागरी लिपि एव सस्कृत भाषा प्रचलित थी।

बगाल के शशाक के ताम्रपत्र की लिपि, पूर्वी भारत की प्राचीनतम नागरी लिपि है। यह लिपि हर्षवर्द्धन की लिपि से कम सुन्दर है। किन्तु भास्कर वर्म्मन के निधनपुर (असम राज्य) के दानपत्र की लिपि हर्षवर्द्धन के समान ही अल-

कृत एवं सुन्दर है। इस प्रकार आठवी शताब्दी के आरम्भ में ही हम प्राचीन नागरीलिपि का प्रचार पजाव से असम राज्य तक पाते हैं।

दक्षिण भारत मे पल्लव राजाओ की भाँति ही, पश्चिमी चालुक्य वश के शासको को भी हम नागरीलिपि का व्यवहार करते हुए पाते हैं। पुन दक्षिण मे ही 'वरगुन' के 'पलियम्' के ताम्रपत्र मे नागरी का व्यवहार मिलता है। इस ताम्रपत्र की आरम्भ की लिपि तो तमिल है किन्तु आगे इसमे नागरी लिपि प्रयुक्त हुई है।

पल्लव वश के वाद दक्षिण मे चोलवश के राज्य की स्थापना हुई। इस वश के राजाओ ने अपनी मुद्राओ (सिक्को) पर नागरीलिपि का ही व्यवहार किया। इसी युग मे केरल मे राज्य के शासको ने भी अपने सिक्को पर नागरी लिपि का व्यवहार किया। भारत के वाहर, श्री लका (सीलोन) मे भी पराक्रमवाहु, विजयवाहु एव अन्य राजाओ के सिक्कों पर भी नागरीलिपि का प्रयोग मिलता है।

विजयनगर राज्य के समय के सिक्को पर भी नागरी लिपि का व्यवहार हुआ है। इस युग की नागरी 'नन्दि नागरी' के नाम से प्रसिद्ध है। यह दक्षिण के यादव एव ककातीय वश के राजाओ द्वारा व्यवहृत नागरी का ही एक रूप है। दक्षिण भारत मे, पन्द्रहवी शताब्दी तक राजपूत राजाओ द्वारा नागरीलिपि का प्रयोग प्रचलित रहा।

हर्षवर्द्धन के युग से लेकर दसवी शताब्दी तक नागरीलिपि मे यत्किंचित् परिवर्तन होते रहे, किन्तु ग्यारहवी शताब्दी मे यह लिपि पूर्णता प्राप्त कर चुकी थी। गुजरात, राजस्थान एवं महाराष्ट्र मे तो इसमे ताडपत्र पर लिखे हुए अनेक ग्रथ प्राप्त हुए हैं। उत्तरी भारत मे तो तुर्को के आक्रमणकाल तक यह लिपि इतनी जनप्रिय थी कि महमूद गजनवी तक ने अपने सिक्को पर इसका व्यवहार किया।

मुगलो के शासन-काल मे जव राजभाषा फारसी हो गई तो उत्तरी भारत मे अरवी-फारसी लिपि का प्रचार-प्रसार वढा तथा नागरीलिपि के प्रचलन मे वाधा उपस्थित हुई, किन्तु इस युग मे भी सस्कृत एव हिन्दी के ग्रथो के लेखन मे नागरीलिपि का प्रयोग ही प्रचलित था। ईस्ट इडिया कम्पनी के शासनकाल मे भी प्राय फारसी लिपि का ही वोलवाला रहा किन्तु जव मिशनरियो ने सस्कृत के अध्ययन का आरम्भ किया तो उनके लिए नागरीलिपि का ज्ञान आवश्यक हो गया। उधर जव मैक्समूलर ने वेदो का सकलन एव सम्पादन किया तो रोमन लिपि के वजाय, इसके लिए, उन्होने नागरीलिपि का ही व्यवहार किया। इधर जव ब्रिटिश शासन में विश्वविद्यालयो की स्थापना हुई तो वहाँ सस्कृत के अध्यापन के साथ नागरीलिपि का प्रयोग अनिवार्य हो गया।

आधुनिक काल में नागरीलिपि का प्रचार-प्रसार

आधुनिक काल मे नागरी लिपि के प्रचार-प्रसार विषयक तथ्यो की जानकारी के लिए हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप मे प्रतिष्ठापित करने के आन्दोलन के इतिहास पर दृष्टिपात करना पडेगा। कॉंग्रेस की स्थापना सन् १८८५ ई० मे हुई थी। इसके सस्थापक श्री ह्यूम का उद्देश्य यह था कि भारतीय वैधानिक ढग से शासन मे स्थान प्राप्त करे, किन्तु पन्द्रह वर्षों के वाद ही प० वालगंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय तथा श्री विपिनचन्द्र पाल जैसे नेताओ के उद्योग के परिणामस्वरूप कॉंग्रेस क्रान्तिकारी सस्था मे परिणत होने लगी। सन् १९०१ से सन् १९१० ई० के वीच का इतिहास वस्तुत भारतीय नवजागरण का इतिहास है। इसी समय लार्ड कर्जन ने वग-भग किया जिसके कारण वगाल मे 'स्वदेशी आन्दोलन' का सूत्रपात हुआ। इसी वीच सूरत की कॉंग्रेस के अधिवेशन मे क्रान्तिकारी दल की विजय हुई तथा भारत के उदारदल का कॉंग्रेस से सदा के लिए निष्कासन हुआ। उधर विदेश-स्थित भारतीय क्रान्तिकारियो का एक दल सगठित हुआ जिसमे महाराष्ट्र, वगाल, पजाव एव गुजरात आदि सभी प्रदेशो के नवयुवक थे। इस युग मे राष्ट्रीयता की जो लहर उठी उसने राष्ट्रभाषा की ओर भारतीय तरुणो का ध्यान आकर्षित किया और उसके फलस्वरूप राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी राष्ट्रीयता का अविभाज्य अग वनने लगी।

इधर उत्तरी भारत मे हिन्दी को समुन्नत करने तथा उसे राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करने का आन्दोलन चल पडा। यह सर्वथा स्वाभाविक था। हिन्दी उत्तरी भारत की जनता की मातृ-भाषा और नागरीलिपि उनकी अपनी लिपि थी किन्तु इन दोनो को कचहरियों तथा सरकारी कार्यालियो में उचित स्थान प्राप्त न था। इस आन्दोलन के प्रवर्त्तक महामना मालवीयजी थे। उत्तर प्रदेश (तव सयुक्तप्रान्त) की कचहरियो मे वैकल्पिकरूप से नागरीलिपि तथा हिन्दी मे लिखित अर्जियाँ भी ले ली जाया करें, इसके लिए लाखो व्यक्तियो के हस्ताक्षर कराकर उस समय के गवर्नर सर एन्थनी मैकडानेल के पास प्रार्थनापत्र भेजा गया। इस कार्य मे प्रयाग के एक तरुण राष्ट्रकर्मी वावू पुरुषोत्तमदासजी टडन ने भी मालवीयजी की सहायता की। सन् १८९३ई० मे स्थापित काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने भी इस आन्दोलन मे मालवीय जी का हाथ वँटाया। आगे चलकर १० अक्तूवर, सन् १९१० को हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्थापना हुई। इसका प्रथम अधिवेशन, नागरी प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान मे काशी मे ही हुआ। इसके प्रथम सभापति पं० मदनमोहन मालवीयजी हुए। सम्मेलन का सगठन हुआ और उसके मत्री वावू पुरुषोत्तम

दासजी टडन मनोनीत हुए। सम्मेलन ने अपनी प्रथम नियमावली मे ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा तथा देवनागरी को राष्ट्रलिपि माना।

सम्पूर्ण भारत मे हिन्दी भाषा तथा देवनागरी लिपि के प्रचार-प्रसार के के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने अपनी प्रथमा, मध्यमा एव उत्तमा की परीक्षाएँ परिचालित की। श्री टडनजी के मन मे परीक्षाओ की यह कल्पना कैम्ब्रिज सर्टिफिकेट परीक्षा से आई और हिन्दी भाषा तथा नागरीलिपि के प्रचार-प्रसार के लिए ये परीक्षाएँ वरदान सिद्ध हुईं।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साथ गांधीजी का सहयोग

सन् १९१४ ई० मे गांधीजी दक्षिणी अफ्रीका से भारत आए। एक बार उन्होंने बाबू पुरुषोत्तमदासजी टडन को अपने एक पत्र मे लिखा—"मेरे लिए हिन्दी का प्रश्न तो स्वराज्य का प्रश्न है।" ठीक यही बात टडनजी के मन मे भी थी। अतएव दो समानधर्मा आ मिले। सन् १९१७ ई० (सवत् १९७४) मे श्री टडनजी की प्रेरणा से गांधीजी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के इन्दौर के अधिवेशन मे, सम्मेलन के सभापति हुए। सम्मेलन मे गांधीजी के आगमन से हिन्दी-राष्ट्रभाषा-आन्दोलन को बहुत बल मिला। गांधीजी की ही प्रेरणा से, सम्मेलन के तत्त्वावधान मे, दक्षिण मे हिन्दी का प्रचार-कार्य प्रारम्भ हुआ तथा 'दक्षिण-भारत-प्रचार-सभा' की नीव पडी। सभा ने, सम्मेलन के आदर्श पर ही, तमिल, मलयालम, तेलुगु तथा कन्नड भाषाभाषियो के लिए अपनी परीक्षाएँ परिचालित की जिसके फलस्वरूप लक्ष-लक्ष अहिन्दी-भाषियो ने हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि सीखी।

सन् १९३५ ई० मे, गांधीजी इन्दौर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दूसरी बार सभापति हुए। सन् १९३६ ई० मे उन्ही की प्रेरणा से, नागपुर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पच्चीसवे अधिवेशन मे, मद्रास को छोडकर शेष अहिन्दी प्रदेशो (सिन्ध, गुजरात, महाराष्ट्र, उत्कल, बगाल तथा असम आदि) मे हिन्दी के चार के लिए राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के सगठन का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। इस अधिवेशन के सभापति भारत के प्रथम राष्ट्रपति स्वर्गीय श्री राजेन्द्र बाबू थे। इस समिति का सगठन भी सम्मेलन के अन्तर्गत ही हुआ तथा इसका कार्यालय वर्धा मे रखा गया। समिति ने अपनी परीक्षाएँ परिचालित की, जिनमे, प्रतिवर्ष, इन प्रदेशो के अनेक अहिन्दी भाषी सम्मिलित हुए। इस प्रकार इन राज्यो मे राष्ट्रभाषा हिन्दी एव राष्ट्रलिपि नागरी का कार्य जोरो से बढा। आज भी यह कार्य अबाध गति से चल रहा है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार मालवीयजी,

टंडनजी एव गाधीजी के प्रयत्नो के फलस्वरूप उत्तर तथा दक्षिण भारत मे नागरीलिपि का प्रचार-प्रसार हुआ । सन् १९४७ ई० मे जब देश स्वतन्त्र हुआ तथा उसका सविधान बनने लगा तो स्वाभाविक रूप से राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रलिपि का प्रश्न देश के सामने आया । राष्ट्रभाषा का नाम 'हिन्दी' अथवा हिन्दुस्तानी रखा जाय, इस बात को लेकर भी विवाद उपस्थित हुआ किन्तु अन्त मे श्री टंडनजी तथा श्री वल्लभभाई पटेल के प्रयत्न से, सविधान मे, हिन्दी को सरकारी भाषा तथा नागरी को सरकारी लिपि स्वीकार कर लिया गया ।

रोमन लिपि

भारत मे यूरप के निवासियो के आगमन तथा देश मे अँग्रेजी राज्य के प्रसार के साथ-साथ रोमक अथवा रोमनलिपि के प्रचार का भी प्रारम्भ हुआ । आरम्भ मे अग्रेजी भाषा के पठन-पाठन तक ही यह लिपि सीमित थी किन्तु धीरे-धीरे ईसाई मिशनरियो ने देशी भाषाओं को लिखने के लिए भी इस लिपि का व्यवहार प्रारम्भ किया । लन्दन मे पालिग्रथो के प्रकाशन का कार्य जब आरम्भ हुआ तथा जब उसके लिए 'पालिटेक्स्ट सोसायटी' की स्थापना हुई तब वहाँ यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इसके लिए किस लिपि को चुना जाय । उस समय पालिटेक्स्ट की पुस्तकें सिंहली, बर्मी एव थाई (स्यामी) लिपि मे उपलब्ध थी । अच्छा हुआ होता कि पालिटेक्स्ट सोसायटी इस कार्य के लिए नागरी लिपि का चुनाव करती , किन्तु सोसायटी ने अन्त मे मूल पालि-ग्रथो (त्रिपिटक) को रोमन मे ही छापने क निश्चय किया । यह प्रसन्नता की बात है कि इधर नालन्दा (बिहार) से नागरी मे भी त्रिपिटक का प्रकाशन हो गया ।

भारत तथा बाहर के प्राच्य विद्या सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओ ने भी सस्कृत तथा पालि आदि के लिए रोमन वर्णों का ही व्यवहार किया और अन्तर्राष्ट्रीय-ध्वनि परिषद् (इन्टरनेशनल फोनेटिक ऐसोशिएशन) ने ससार की विभिन्न भाषाओ को लिखने के लिए रोमन को नवीन ध्वनि-चिह्नो से सम्पन्न किया । भारतीय फौजो मे नागरी तथा उर्दू लिपियो का बहिष्कार करके उनके स्थान पर रोमन को बिठाया गया और जब हिन्दू-मुसलमानो के विषम राजनीतिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप देवनागरी तथा उर्दू लिपि का प्रश्न राजनीतिज्ञो के सामने आया तो अनेक लोगो ने इससे बचने का मार्ग रोमन लिपि की स्वीकृति मे ही देखा ।

भारत के लिए एक सामान्य लिपि की आवश्यकता

जब से देश की स्वतन्त्रता के लिए काँग्रेस ने आन्दोलन आरम्भ किया तब से

भारतीय एकता के प्रश्न पर जोर दिया जाने लगा । इसके लिए एक भाषा तथा एक लिपि की आवश्यकता थी । सन् १९०५ ई० मे काशी नागरी प्रचारिणी-सभा के एक अधिवेशन मे भाषण देते हुए लोकमान्य तिलक ने समस्त भारतीय भाषाओ के लिए एक सामान्य लिपि के रूप मे देवनागरी को अपनाने का प्रबल समर्थन किया था और यह भी कहा था कि देवनागरी रोमनलिपि की तुलना मे कही अधिक उपयुक्त है ।

न्यायमूर्ति श्री शारदाचरण मित्र द्वारा सन् १९१० ई० मे इलाहाबाद मे आयोजित एक लिपि-सम्मेलन मे सस्कृत के प्रकाण्ड पडित एव विधिवेत्ता श्री वी. कृष्णस्वामी अय्यर ने अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए समग्र भारत के लिए एक भाषा और एक लिपि की नितान्त आवश्यकता पर बल दिया था तथा इस बात का सकेत किया था कि बहुप्रचलित और वैज्ञानिक होने के कारण सामान्य लिपि के रूप मे देवनागरी को अपनाया जा सकता है। जस्टिस शारदाचरण मित्र ने तो एक लिपि विस्तार-परिषद् और देवनागर पत्रिका के माध्यम से समस्त भारतीय भाषाओ को देवनागरी लिपि मे लिखने के लिए आन्दोलन भी किया था ।

राष्ट्रपिता बापू ने तो देवनागरी को समस्त भारत के लिए एक सामान्य लिपि के रूप मे अपनाने के लिए सदैव बल दिया । भारतीय साहित्य-परिषद्, मद्रास के अध्यक्षपद से उन्होने जो भाषण सन् १९३७ मे दिया था उसमे यह स्पष्ट-रूप से बताया था कि फारसी और रोमन लिपियो मे न तो देवनागरी जैसी पूर्णता है और न ही देवनागरी के समान भारतीय भाषाओ की विभिन्न ध्वनियो को शुद्धरूप मे व्यक्त करने की क्षमता है। अनेक लिपियो का बोझ ढोना अनावश्यक है क्योकि इस बोझ से सहज ही छुटकारा मिल सकता है । पुन रोमन लिपि का विरोध करते हुए ११ फरवरी सन् १९३९ ई० के 'हरिजन' मे गाधीजी ने लिखा था कि समूचे भारत के लिए एक सामान्य लिपि के रूप मे रोमन लिपि को अपनाना भावना और वैज्ञानिकता दोनो के विरुद्ध है । उसे प्रचलित करना थोपना ही होगा और थोपी हुई चीज कभी लोकप्रिय नही हो सकती । ज्योही जनता जागृत होगी, उसे उखाड फेकेगी ।

भारत के लिए रोमन लिपि

समग्र भारत के लिए, सामान्य लिपि के रूप मे, रोमन को अपनाने के सब से प्रबल समर्थक प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी हैं । आप ने सन् १९३५ ई० मे कलकत्ता विश्वविद्यालय के जर्नल, डिपार्टमेण्ट ऑव लेटर्स, भाग २६ मे 'भारत के लिए रोमन लिपि' (रोमन अल्फाबेट फॉर इडिया)

शीर्षक निवन्ध प्रकाशित किया था। रोमनलिपि के सम्वन्ध मे डॉ० चटर्जी के निम्नलिखित तर्क द्रष्टव्य हैं—

(१) आज भारत मे अनेक लिपियाँ प्रचलित हैं। ये हैं—देवनागरी, वगला, गुजराती, कैथी, गरुमुखी, उडिया, तेलुगु, कन्नड, तमिल, मलयालम आदि।

इनमे देवनागरी लिपि सर्वाधिक प्रसिद्ध है, क्योकि सस्कृत लिखने के लिए आजकल प्राय. समस्त भारत मे इसी लिपि का प्रयोग किया जाता है।

(२) उर्दू तथा सिन्धी के लिए फारसी-अरवी लिपि का प्रयोग होता है।

(२) गोआ के इसाई कोकणी के लिए रोमन लिपि का प्रयोग करते है। इसके अतिरिक्त फौज तथा उत्तरी भारत के इसाइयों मे भी रोमन लिपि प्रचलित है।

ऊपर की लिपियो मे न० २ अर्थात् फारसी-अरवी लिपि के सम्वन्ध मे विचार ही नही किया जा सकता क्योकि वह नितान्त अपूर्ण तथा अवैज्ञानिक लिपि है। इसमे स्वरो का कोई मूल्य नही है तथा कई व्यजनो का रूप भी एक ही तरह का है। और केवल नुक्तो के द्वारा व्यजनो का अन्तर स्पष्ट किया जाता है।

न० १ की प्रादेशिक लिपियो मे केवल देवनागरी ही एक ऐसी लिपि है जिसे राष्ट्रीयलिपि कहा जा सकता है। पहले सस्कृत प्रादेशिक लिपियो मे लिखी जाती थी किन्तु इधर सस्कृत लिखने के लिए देवनागरी निखिल भारतीय लिपि वन गई है। डॉ० चटर्जी के अनुसार देवनागरी तथा ब्राह्मी से प्रसूत अन्य लिपियो मे निम्नलिखित त्रुटियाँ दीख पडती है और इनमे सुधार की गुजायश है—

(१) लिखावट मे देवनागरी तथा अन्य भारतीय लिपियाँ रोमन की अपेक्षा अधिक जटिल हैं।

(२) देवनागरी अक्षरात्मक लिपि है, रोमन की भाँति वर्णात्मक नही।

(३) सयुक्त वर्णो को देवनागरी मे, लिखने मे कठिनाई होती है क्योकि कभी-कभी इसके लिए वर्णो के आधे रूप को ही लेना पडता है और कभी-कभी तो वर्णो का नया रूप ही वन जाता है।

ऊपर की त्रुटियो के सम्वन्ध मे विचार करते हुए डॉ० चटर्जी लिखते हैं—संसार की लिपियो मे भारतीय लिपियो की यह विशेषता उल्लेखनीय है कि इनके वर्णो के क्रम नितान्त वैज्ञानिक हैं। (स्वरो के अतिरिक्त इनके व्यजन-वर्ण, कठ, तालु, मूर्धा, दन्त तथा ओष्ठ से उच्चरित होनेवाले कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग मे विभक्त है।) जिन लोगो ने वर्णो को इस क्रम मे सजाया था अथवा जिन लोगा ने यह वर्णमाला तैयार की थी, वे वास्तव मे

उत्कृष्ट ध्वनि-शास्त्री थे। किन्तु इसके साथ ही साथ विभिन्न भारतीय लिपियों के वर्णो के रूपो की कठिनाई भी कम नही है। सच बात तो यह है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की ब्राह्मी लिपि आज की नागरी तथा अन्य प्रादेशिक लिपियो की अपेक्षा अधिक सरल थी। उदाहरण स्वरूप मौर्य ब्राह्मी का + (क) आज की देवनागरी, बगला, गुजराती तथा अन्य प्रादेशिक लिपियो की अपेक्षा सरल था। यही बात ब्राह्मी 'ख' और 'ग' के रूपो एव अन्य वर्णो के सम्बन्ध मे भी है। डॉ० चटर्जी ने अपने निबन्ध मे जो लिपि प्रस्तावित की है उसके वर्ण तो रोमन के हैं किन्तु उन्हे भारतीय उच्चारण क्रम से सजाया गया है। अपनी इस लिपि मे आप ने भारत की प्रसिद्ध प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओ को शुद्ध रूप मे लिखकर प्रदर्शित किया है।

आगे देवनागरी तथा रोमन लिपि सम्बन्धी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा। इसी मे डॉ० चटर्जी के विचारो की आलोचना का भी समावेश होगा। उसके पूर्व यहाँ आदर्श लिपि की विशेषताओ के सम्बन्ध मे विचार किया जाता है।

आदर्श लिपि की विशेषताएँ

किसी भी भाषा की आदर्श लिपि वही हो सकती है जिसमे—

(क) एक ध्वनि को व्यक्त करने के लिए केवल एक चिह्न हो,

(ख) एक चिह्न केवल एक ही ध्वनि का बोधक हो,

(ग) मात्रा एव वर्ण-बोधक चिह्न इतने भिन्न हो कि किन्ही दो चिह्नो के स्वरूप मे परस्पर कोई भ्रम न हो, और

(घ) चिह्न सुन्दर और कलात्मक होने के साथ-साथ आधुनिक लेखन और मुद्रण के यात्रिक साधनो, जैसे टाइपराइटर, टेलीप्रिंटर, मद्रण-यत्र आदि के लिए सरलता से अपनाए जा सके।

ऊपर की विशेषताओ मे से (क) और (ख) मुख्य विशेषताएँ तथा (ग) एव (घ) गौण विशेषताएँ हैं।

किसी भी देश के लिए, जहाँ अनेक लिपियाँ प्रचलित हो, अपनाए जानेवाली सामान्यलिपि मे कतिपय और भी विशेषताएँ आवश्यक है, यथा—

(१) देश की अधिकाँश जनता उस लिपि से परिचित हो,

(२) देश मे प्रचलित अन्य लिपियो से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध हो,

(३) उस लिपि के वर्ण प्रचलित लिपियो के वर्णो के अनरूप हो तथा उसकी वर्णमाला का क्रम भी अन्य लिपियो के समान ही हो,

(४) और उस लिपि की देश मे प्रतिष्ठा हो तथा जनता का उससे भावात्मक सम्बन्ध हो।

ऊपर की विशेषताओं को ध्यान में रखकर जब हम नागरी एवं रोमन का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो नागरी ही श्रेष्ठ लिपि ठहरती है क्योंकि जहाँ रोमन में एक ध्वनि को व्यक्त करने के लिए कई प्रतीक अथवा चिह्न हैं वहाँ नागरी में केवल एक ही प्रतीक है। पुन. यहाँ रोमन के विपरीत एक प्रतीक केवल एक ही ध्वनि का बोधक है। इसके मात्रा एवं वर्णबोधक प्रतीक भी भिन्न-भिन्न हैं तथा यह यांत्रिक दृष्टि से भी उपयुक्त लिपि है।

आज से कतिपय वर्ष पूर्व उत्तरी भारत में अरबी-फारसी लिपि का काफी प्रचार-प्रसार था और आज भी एक विशेष वर्ग के लोगो मे यह लिपि प्रचलित है किन्तु जैसा कि हम डॉ० चटर्जी का मत पहले उद्धृत कर चुके हैं, यह लिपि नितान्त अवैज्ञानिक है और आज के युग मे एक सामान्यलिपि के रूप मे उसे स्वीकार करना किसी प्रकार सम्भव नही है।

नागरीलिपि की आज यदि किसी लिपि से प्रतिद्वन्द्विता है तो वह एक मात्र रोमन लिपि से है। यह इसलिए नही है कि रोमन में किसी प्रकार की पूर्णता है अपितु इसका एक कारण यह है कि साम्यवादी (कम्युनिस्ट) देशो को छोड कर रोमन आज यूरप की एक सामान्य लिपि बन गई है तथा ओस्मानली तुर्की, इंडोनेशिया एवं कुछ अशों मे चीन तक ने इस लिपि को अपना लिया है। यहाँ एक बात यह उल्लेखनीय है कि एशिया के जिन देशों ने रोमन लिपि को अपनाया है उनके यहाँ नागरी जैसी ध्वन्यात्मक लिपि थी ही नही। जहाँ तक ओस्मानली तुर्की द्वारा रोमन लिपि को अपनाने की बात है, यहाँ पहले अरबी-फारसी जैसी अवैज्ञानिक लिपि प्रचलित थी। रोमन की अपेक्षा रूसी लिपि अधिक ध्वन्यात्मक एव पूर्ण है अतएव रूस ने अपने राज्य के तुर्की भाषी प्रदेशों मे इधर हाल ही मे रूसी लिपि को प्रचलित किया है। सच बात तो यह है कि जब भारत के पास, परम्परा से प्राप्त स्वत: अपनी एक पूर्ण ध्वन्यात्मक एवं वैज्ञानिक लिपि है तो वह रोमन जैसी अपूर्ण लिपि को ध्वन्यात्मक क्रम मे सजाकर तथा उसे विविध चिह्नों से पूर्ण बनाकर क्यों स्वीकार करे ?

डॉ० चटर्जी ने नागरी लिपि की एक यह त्रुटि बतलाई है कि यह अक्षरात्मक लिपि है अतएव इसके द्वारा ध्वनियों का ठीक ढंग से विश्लेषण नही हो पाता। इस सम्बन्ध मे यह निवेदन है कि नागरी अर्द्ध अक्षरात्मक लिपि है और इसकी लेखन प्रणाली मे किंचित् परिवर्तन करके इसे ऐसा बनाया जा सकता है कि इसके द्वारा ध्वनियो का विश्लेषण आसानी से होने लगे। अब रही संयुक्त वर्णो अथवा व्यजन गुच्छों को नागरी मे लिखने की कठिनाई की बात,

सो इधर नागरी लिपि मे सुधार कर तथा उसे मानकरूप देकर यह कठिनाई भी बहुत कुछ दूर कर दी गई है।

इधर नागरी के जो नये टाइपराइटर बने हैं वे पहले की अपेक्षा बेहतर हैं। आशा है, नवीन खोजो के परिणाम स्वरूप ये भविष्य मे और भी बेहतर हो जायेंगे। इसी प्रकार नागरी मे मोनोटाइप के आविष्कार एव प्रयोग से जहाँ एक ओर इसकी छपाई मे गति एव सुविधा आई है वहाँ दूसरी ओर नागरी टेलीप्रिंटर के कारण हिन्दी के दैनिक समाचार पत्र अब अँग्रेजी दैनिको से होड लेने लगे है। इस तरह नई खोजो के फलस्वरूप यात्रिक दृष्टि से भी नागरी पूर्ण लिपि बनती जा रही है और आवश्यकतानुसार विविध चिह्नो से युक्त करके इसे और भी पूर्ण बनाया जा सकता है। यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि कोई भी लिपि स्वत पूर्ण नही होती अपितु उसे पूर्ण बनाना पडता है।

नागरी और एकमात्र नागरी

आज सम्पूर्ण भारत राष्ट्र की एकता को दृष्टि मे रखकर सामान्य लिपि के रूप मे नागरी को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई अन्य विकल्प नही है। जैसा कि इस लेख मे अन्यत्र दिखाया जा चुका है, पिछले एक सहस्र वर्ष से अधिक समय से, देवनागरी भारत की सर्वाधिक प्रचलित एव जनप्रिय लिपि रही है। आज भी हिमाचल प्रदेश, दक्षिण पजाब, दिल्ली, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार तथा महाराष्ट्र मे इसका बहुलता से प्रयोग हो रहा है। बगला, गुजराती एव गुरुमखी लिपियाँ देवनागरी से बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं। नेपाल की भाषाओ—गुरखाली एवं नेवारी—के लिए भी देवनागरी लिपि का प्रयोग चल रहा है। बिहार की मुडा परिवार की कई भाषाएँ भी आज देवनागरी लिपि मे ही लिखी जा रही हैं।

सस्कृत तथा प्राकृतो के लिए अखिल भारतीय स्तर पर देवनागरी का प्रयोग पिछली शताब्दी से अधिकाधिक होने लगा है। एक समय था जब सस्कृत को लिखने के लिए शारदा, बगला, असमिया, तेलुगु, ग्रथ, मैथिल, मलयालम आदि प्रादेशिक लिपियो का प्रयोग होता था किन्तु सन् १८६० से जब से मैक्समूलर ने सस्कृत-ग्रथो की छपाई के लिए देवनागरी लिपि को अपनाया तब से यह सस्कृत की एकमात्र लिपि बन गई। आज यूरोप मे कोई भी प्राच्य-विद्या-प्रेमी ऐसा नही है जो नागरी लिपि से परिचित न हो। अमेरिका के हारवर्ड ओरियण्टल सिरीज मे सस्कृत के ग्रथ एव सकलन देवनागरी लिपि मे ही प्रकाशित हुए है और अमेरिका, पूर्वी साम्यवादी देश एव रूस के सभी सस्कृत एव हिन्दी पढनेवाले छात्र इस लिपि से परिचित हैं। इधर जब से नालन्दा (बिहार)

८

से, पालि त्रिपिटक का प्रामाणिक एव सुसम्पादित संस्करण नागराक्षरों में प्रकाशित हुआ है तब से सिंहल, वर्मा, थाई (स्याम) एव कम्बोडिया आदि देशों के पालि के पंडित एव प्रेमी भी नागरीलिपि से विशेष रूप से परिचय प्राप्त करने लगे हैं।

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, भारत की ही नहीं, अपितु भारत के बाहर की बर्मी, सिंहली, थाई, तिब्बती तथा एशिया के पूर्वी द्वीपों की लिपियाँ भी ब्राह्मी से ही प्रसूत है और उनके वर्णों का क्रम भी देवनागरी का ही है। और इस प्रकार ये सभी लिपियाँ सहोदरा है, अतएव दक्षिणी-पूर्वी एशिया की एकता की दृष्टि से भी नागरी को भारत की राष्ट्रलिपि स्वीकार करना आवश्यक है।

नागरीलिपि मे सुधार

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है नागरी तथा भारत की अन्य लिपियाँ ब्राह्मी से ही विकसित हुई है। इस विकास का भी एक लम्बा इतिहास है, जिसमे विविध परिस्थितियो का भी पूरा योग है। इधर जब नागरी को रोमन के मुकाबले मे आना पडा तब उसके समक्ष एक नवीन समस्या आ खडी हुई। यद्यपि रोमन लिपि मे कई दोष है किन्तु इनमे कतिपय गुण भी है जिससे उसका विश्व मे प्रसार होता जा रहा है। इधर तुर्की तथा अफ्रीका के कई प्रदेशो मे, जहाँ पहले सामी लिपि प्रचलित थी, रोमन अपना ली गई है। जिस तीव्र गति से रोमन का प्रचार बढ रहा है उसे देखते हुए यह प्रतीत हो रहा है कि निकट भविष्य मे सामी लिपि केवल कतिपय विशेषज्ञो तक सीमित रह जायगी तथा उसका स्थान रोमनलिपि ग्रहण कर लेगी। वर्णनात्मक लिपि के साथ-साथ रोमन लिपि की अल्प सख्या, उसके वर्णो के अति सरलरूप तथा टकन एव छपाई की सुविधा ने भी ससार के लोगो का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट किया है। इस बीसवी शताब्दी मे विज्ञान ने एक ओर जहाँ रोमन को छपाई आदि कार्यो मे अनेक सुविधाएँ प्रदान की है वहाँ दूसरी ओर नागरी इन सुविधाओ मे बहुत दिनो तक वंचित थी। यह बात नागरी के समर्थको को बहुत अखरी। फिर क्या था, अनेक व्यक्ति नागरी-लिपि के सुधार के लिए कटिबद्ध हो गए। इन सुधारको मे कई व्यक्ति ऐसे भी थे जो न तो नागरी के इतिहास एव परम्परा से ही परिचित थे और न वर्णात्मक तथा अक्षरात्मक लिपि के अन्तर को ही जानते थे। हाँ, इनमे से कुछ लोग ऐसे अवश्य थे जिन्हे टाइप तथा छपाई आदि का पूरा ज्ञान था और इस दृष्टि से वे लिपि-सुधार के सम्बन्ध मे जो राय देते थे उसमे पर्याप्त मात्रा मे व्यावहारिकता थी।

यहाँ एक वात और स्मरण रखने योग्य है, नागरीलिपि के सुधार का कार्य यहाँ उस समय प्रारम्भ हुआ था, जब देश परतंत्र था और जब राजकार्य मे न तो नागरी का व्यवहार ही आवश्यक था और न वह राष्ट्र-लिपि के रूप मे ही स्वीकृत थी। उस समय चारो ओर से यह आवाज सुनाई पडती थी कि नागरी, टाइप राइटर के लिए अयोग्य है, इसके लिखने मे गति नही है और इसकी छपाई मे भी शिथिलता है। इधर विधान द्वारा नागरी के राष्ट्रलिपि घोषित होते ही विना किसी प्रकार के सुधार के ही इसमे टेलीप्रिंटर (जिसके द्वारा समाचारपत्रो के लिए देश-विदेश के समाचार छप जाते है) तथा मोर्सकोड (जिसके द्वारा तार भेजे जाते हैं) का आविष्कार हो गया, और कई ऐसे नये टाइप राइटर भी वन गए जिन्हे पर्याप्त मात्रा मे सुधरा हुआ तथा सफल कहा जा सकता है। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि यथासम्भव शीघ्र ही नागरी भी यान्त्रिक दृष्टि से पूर्णलिपि वन जायगी।

नागरीलिपि के सुधार का इतिहास तथा इसमें परिवर्तन-सम्बन्धी सुझाव

सम्भवत 'अ' की वारहखडी (यथा, अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै, आदि) का प्रचलन सर्वप्रथम महाराष्ट्र के सावरकर-वन्धुओ ने किया था तथा व्यावहारिक रूप में इसे मराठी समाचारपत्रों ने अपनाया था। उधर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सन् १९३५ के २४वें अधिवेशन, इन्दौर, मे राष्ट्रपिता गाधीजी के सभापतित्व मे, नागरीलिपि मे सुधार के लिए एक छोटी उपसमिति वनाई गई तथा श्री काका कालेलकर इसके सयोजक नियुक्त किये गये। वापू के मन मे वहुत दिनो से यह वात चल रही थी कि किसी प्रकार यदि देवनागरी लिपि के वर्णो की सख्या मे कुछ कमी हो जाय तो देश की साक्षरता मे उससे सहायता मिले। इसी के परिणामस्वरूप इस समिति का निर्माण भी हुआ। कई वर्षो के निरन्तर उद्योग के वाद सम्मेलन ने निम्नलिखित १४ सुझावो को स्वीकार किया—

१ नागरी को लिखने मे शिरोरेखा लगाना आवश्यक नही है। छपाई मे साधारणरीति से शिरोरेखा लगाना ही नियम रहे। किन्तु विशेषस्थानो मे अक्षरों की विभिन्नता प्रकट करने के लिए शिरोरेखा हीन अक्षर भी प्रयुक्त हो सकते हैं। सम्मेलन की सिफारिश है कि विशेष या छोटे अक्षरो मे, जहाँ शिरोरेखा होने से छपाई की स्पष्टता मे कमी आ जाती हो, वहाँ शिरोरेखा-विहीन अक्षरो का प्रयोग करना अच्छा होगा।

२ प्रत्येक वर्ण ध्वनि के उच्चारण क्रम से लिखा जाय।

(क) जब तक कोई सन्तोषजनक रूप सामने न आए तब तक 'इ' की

मात्रा अपवाद रूप मे वर्तमान पद्धति के अनुसार ही 'ि' लिखी जाय, यथा—शिर ।

(ख) ए, ऐ की मात्राएँ व ा के ठीक ऊपर न लगाकर दाहिनी ओर जरा हटाकर वर्तमान पद्धति के अनुसार ऊपर लगाई जायँ, यथा—देवता, अनेक ।

ओ और औ भी ऊपर के सिद्धान्त के अनुसार ही लिखे जायँ, यथा—ओला, औरत ।

(ग) ऊ, उ, ऋ की मात्राएँ अक्षर के बाद आएँ और पंक्ति मे ही लिखी जायँ, यथा—कुटिल, पूजा, वृष्टि ।

(घ) अनुस्वार और अनुनासिक के चिह्न भी अक्षर के बाद ऊपर लिखे जायँ, यथा—अग ।

(ङ) रेफ, मे व्यक्त होने वाला अर्द्ध 'र' उच्चारण क्रम से यथास्थान लिखा जाय, यथा—धर्म ।

(च) सयुक्ताक्षर मे द्वितीय 'र' सामान्यरूप से लिखा जाय, यथा—प्र, त्र ।

(छ) सयुक्ताक्षर मे भी, सर्वत्र, वर्ण उच्चारण-क्रम से एक के पीछे एक लिखे जायँ, यथा—द्‌वारका (द्वारका नही), विद्‌वत्ता (विद्वत्ता नही)।

३ स्वरो और मात्राओ मे समानता तथा सामजस्य करने के लिए इ ई, उ ऊ, के वर्तमान रूप छोडकर केवल 'अ' मे ही इन स्वरो की मात्राएँ लगाकर इन स्वरो के मूलस्वरूप का बोध कराया जाय, अर्थात् अ की बारहखडी की जाय, यथा —अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै, ओ, औ, अ, अ ।

४. दक्षिण की लिपिओ के स्वरो मे ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' के स्वरूप आते हैं, उनके लिए ह्रस्व मात्राएँ बनाई जायँ ।

५ पूर्ण अनुस्वार के स्थान पर '०' लगाया जाय और अनुनासिक के लिए केवल बिंदी '' लिखी जाय, यथा—सिह, चाद । व्यजन के पूर्व हलन्त ङ०, ञ, ण, न, म, की जगह पर जहाँ प्रतिकूलता न हो (यथावाङ्०मय तन्मय) अनुस्वार लिखा जाय, यथा—च चल, प०थ, द०प, आदि ।

६. छपने मे अक्षरो के नीचे बाई ओर यदि अनुकूल स्थान पर बिंदी लगाई जाय तो उनका अभिप्राय होगा कि उस अक्षर की ध्वनि उस अक्षर की मूलध्वनि से भिन्न है । उस ध्वनि का निर्णय प्रचलन के अनुसार होगा; यथा—फारसी, क, ख, ग, ज, फ; मराठी च, सिन्धी ज इत्यादि ।

७. विराम-चिह्न आजकल सब भारतीय भाषाओ मे जैसे प्रचलित है, वैसे ही कायम रखे जायँ, पूर्ण विराम का चिह्न पाई '।' रहे ।

८ अको के स्वरूप इस प्रकार रहे—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ० ।

९ वर्तमान 'ख' के स्वरूप का परिवर्तन करना आवश्यक है। उसके स्थान पर गुजराती ख स्वीकार किया जाय।

१० अ, झ, ण की जगह बम्बई के अ, झ, ण रखे जायँ और 'ल' 'श' की जगह हिन्दी के रूप 'ल', 'श' रखे जायँ। 'क्ष' का 'क्ष' रूप प्रचलित किया जाय। बीजगणित आदि वैज्ञानिक साहित्य मे 'क्ष' आ सकता है।

११ मराठी, गुजराती, कन्नड, तेलुगु आदि भाषाओ मे विशिष्ट ध्वनि के लिए जो ळ प्रयुक्त होता है, वही रखा जाय, 'ड' या 'ल' से न व्यक्त किया जाय।

१२ ज्ञ के उच्चारण मे प्रान्तीय भिन्नता होने से 'ज्ञ' का रूप जैसा है, वैसे ही रखा जाय।

१३ सयुक्त अक्षरो के बनाने के लिए जिन वर्णो मे खडी पाई अन्तिम भाग मे है, जैसे ख, ग, घ, च, ज, ञ, त, थ, ध, न, प, ब, भ, म, य, ल, व, श, ष, स—उनका सयोज्यरूप खडीपाई हटाकर समझा जाय, यथा—ख्, ग्, ध्, च्, ज्, त्, थ्, न्, प्, व्, इत्यादि। क और फ का वर्तमान सयोज्य रूप क, फ स्वीकृत किया जाय।

जिन अक्षरो के अन्तिम भाग मे खडी पाई नही है उनका सयोज्यरूप (–) चिह्न लगाकर समझा जाय सयोजक चिह्न पिछले अक्षर से मिला रहे, यथा—विद्-या, विट्-ठल, उच्छ्-वासु, बुड्-ढा, ब्र‍ मा।

१४ शिरोरेखा हटाकर लिखने मे भ औ॰ को म और घ से पृथक् करने हेतु भ और व मे गुजराती की तरह घुडी लगाई जाय।

ऊपर के सुझावो का व्यावहारिक प्रयोग राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति वर्धा, द्वारा सचालित परीक्षाओ तथा वहाँ से प्रकाशित पुस्तको मे तो हुआ किन्तु जिन प्रदेशो मे साहित्यिक भाषा के रूप मे हिन्दी का प्रसार था, वहाँ ये सुझाव स्वीकृत एव कार्यान्वित न हो सके। इसका सर्वाधिक विरोध तो काशी के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन मे हुआ और इसके विरोधियो मे प्रमुख स्थान नागरी-प्रचारिणी-सभा के सदस्यो का था। सम्मेलन के ऊपर के सुझावो मे से अधिकाश व्यावहारिक थे, किन्तु उस समय नागरी-प्रचारिणी-सभा किसी प्रकार के सुधार के लिए तैयार न थी।

काशी-सम्मेलन के ठीक दस वर्ष बाद, सन् १९४५ मे, न जाने किस प्रेरणा से नागरी-प्रचारिणी-सभा ने यह निश्चय किया कि उपयोगिता और प्रचार की दृष्टि से वर्तमान नागरी-लिपि मे सुधार और पुन सस्कार की आवश्यकता है। इसके साथ ही सभा ने सुधार के सम्बन्ध मे कतिपय सिद्धान्त भी निर्धारित किए और अपनी ओर से देश के प्रमुख हिन्दी-पत्रों मे यह

सूचना प्रकाशित की कि इस दिशा मे कार्य करनेवाले सज्जन और संस्थाएँ अपने-अपने प्रयत्न की सूचना और सामग्री सभा की समिति के पास भेजने की कृपा करे। अन्त मे श्री श्रीनिवास का प्रयत्न ही समिति को विशेष सगत प्रतीत हुआ। श्रीनिवास ने वडे प्रयत्न से अपनी प्रस्तावित वर्णमाला मे एक-रूपता लाने का उद्योग किया है, किन्तु इतने पर भी इस लिपि मे अनेक त्रुटियाँ है। आप के प्रस्तावित सुधार मे सब से पहली त्रुटि यह है कि इसमें नागरी के अनेक वर्णो का रूप विकृत हो गया है। आपने अपनी वर्णमाला मे समूचे 'अ' की वारह खडी नही की है जो विज्ञान एव व्यवहार, दोनों दृष्टियो से भ्रामक और अशुद्ध है। इसके अतिरिक्त अल्पप्राण वर्ण मे हो, प्राण जोडकर आपने महाप्राण वनाया है। यह प्राणचिह्न इतना सूक्ष्म है कि अस्पष्टता के कारण कुछ का कुछ पढा जा सकता है।

छपाई को दृष्टि मे रखकर डॉ० गोरखप्रसाद ने भी कतिपय व्यावहारिक सुझाव दिया था। आपका पहला प्रस्ताव यह था कि 'उ, ऊ, ए, ऐ, तथा ऋ की मात्राओं को थोडा-सा दाहिनी ओर हटा कर लगाया जाय। इससे यह लाभ होगा कि ७०० के बदले केवल १५० या यदि सभी वर्तमान सयुक्ताक्षर रखे जायँ तो २०० टाइपो से कम्पोजिंग हो जाया करेगी। वर्तमान टाइपों से भी, विना उनमे किसी प्रकार का परिवर्तन किए, इतने मे कम्पोजिंग का काम चल सकेगा। डॉ० प्रसाद का दूसरा सुझाव यह था कि छोटे (८ पाइट से कम) अक्षरो के कम्पोज करने मे शिरोरेखा विहीन अक्षरो से काम लिया जाय। आपने इस प्रकार के टाइप से थोडा मैटर छाप कर दिखलाया भी। इसमे सन्देह नही कि शिरोरेखा-हीन इन छोटे टाइपो के अक्षर स्पष्ट हैं और इन्हे पढने मे कठिनाई नही होगी। इस टाइप मे कोश आदि छापने से उनका मूल्य आधा हो जायेगा और छपाई के ससार मे क्रान्ति मच जायगी। आप के इस सुझाव मे इसके अतिरिक्त कोई त्रुटि नही है कि शिरोहीन नागरी लिपि सुन्दर नही प्रतीत होती।

उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा नागरी लिपि के सुधार का प्रयत्न

उत्तरप्रदेश की सरकार ने भी आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता मे नागरी-लिपि-सुधार-समिति का निर्माण किया। इस समिति का सघटन ३१ जुलाई सन् १९४७ मे हुआ था। समिति की कुल नौ वैठकें हुई। केन्द्रीय-शासन की ओर से जो हिन्दुस्तानी शीघ्रलिपि तथा लेखन-यत्र समिति, सन् १९४८ मे नियुक्त हुई थी, उसके साथ भी इस समिति ने विचार-विमर्श किया। जो योजनाएँ इस समिति के पास विशेषज्ञों ने भेजी थी, उन पर भी समिति ने समुचित

विचार किया तथा कुछ सज्जनो का साक्ष्य भी लिया। अन्त मे इस समिति ने २५-५-४९ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट मे समिति ने अपने नकारात्मक तथा स्वीकारात्मक, दोनो प्रकार के सुझावों को प्रस्तुत किया। समिति के नकारात्मक निश्चय निम्नलिखित हैं—

१ निश्चय हुआ कि श्री श्रीनिवासजी के एकमात्रिक एव द्विमात्रिक आदि स्वरो के भेद समिति को मान्य नही हो सकते।

२ 'अ' की वारहखडी अथवा काका कालेलकर के अनुसार 'अ' की स्वराखडी नही वनाई जा सकती।

३ 'इ' को मात्रा को छोडकर अन्य मात्राओ के वर्तमान स्वरूप मे परिवर्तन न किया जाय।

४ किसी व्यजन के नीचे कोई दूसरा व्यजन वर्ण न लगाया जाय।

५ कुछ लोग नागरीलिपि मे सुधार के नाम पर आमूल परिवर्तन करना चाहते हैं। इन सुधारों के वाछनीय न होने के कारण उन पर विचार करने के लिए उनके प्रेपको को वुलाने की आवश्यकता नही है।

६ केवल मशीन की सुविधा के लिए कोई अवाछनीय परिवर्तन न किए जायँ।

ऊपर के नकारात्मक निश्चयो के देखने से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि समिति कितनी सावधानी से लिपि-सुधार के कार्य मे प्रवृत्त हुई थी। अव नीचे समिति के स्वीकारात्मक सुझाव (सिद्धान्तगत अनुरोध) दिए जाते हैं—

साधारणलिपि-सम्बन्धी अनुरोध—

१ मुद्रण टाइपराइटिंग की सुविधा के लिए आवश्यकतानुसार मात्राओं को थोडा हटाकर केवल दाहिनी ओर ही, वगल मे ऊपर और नीचे लगाया जाय, यथा—

महात्मा गाधी, पटेल, कैकेयी, सपूर्ण, आदि।

२ शुद्ध अनुस्वार के स्थान पर '०' शून्य लगाया जाय। व्यजन के हलन्त ङ्, ञ्, ण्, न्, म् की जगह पर जहाँ प्रतिकूलता न हो (यथा—वाङ्मय, तन्मय) शून्य लिखा जाय। अनुनासिक स्वर के लिए '' विन्दी का प्रयोग हो, यथा—हँसना, किन्तु हस (पक्षी विशेप)।

३ शिरोरेखा लगाई जाय।

४ ऋ, ॡ की मात्राएँ भी अन्य मात्राओ के ही सदृश थोडा हटाकर दाहिनी ओर नीचे लगाई जायँ।

५ जिन वर्णो का उत्तरार्ध खडी पाई युक्त हो उनका आधारूप खडी पाई निकाल कर वनाया जाय, यथा—ग (पूर्ण रूप) ग (अर्ध रूप); उदाहरण—वक्र (वक्र), धर्म (धर्म), वस्त्र (वस्त्र)।

६ जिन वर्णो का उत्तरार्घ खडी पाई युक्त नही है उनका आधा रूप 'क' और 'फ' को छोडकर हल चिह्न मात्राओ के ही समान, बगल मे, नीचे की ओर लगाकर बनाया जाय, यथा—'ड' का आधारूप ड्; राष्ट्र (राष्ट्र), विद्या (विद्या), ब्राह्मण (ब्राह्मण) ।

७ ह्रस्व 'इ' की मात्रा भी दाहिनी ओर लगाई जाय ।

समिति के स्वीकारात्मक सुझाव (रूपगत अनुरोध)

(१) स्वरो मे 'अ' का रूप अब केवल 'अ' रहेगा ।

(२) व्यजनो मे छ, झ, ण, ध, भ, र, ल, ह के केवल निम्नलिखित रूप ही स्वीकृत हुए है—छ, झ, ण, ध, भ, र, ल और ह ।

(३) मात्राओ मे ह्रस्व 'इ' की मात्रा का रूप ी होगा ।

(४) क्ष और त्र के स्थान पर क्ष और त्र से काम लिया जायेगा । इस प्रकार इन परिवर्तनो के हो जाने के अनन्तर हमारी वर्ण माला और अको का लिपिसुधार-समिति की ओर से अनुरोधित रूप निम्नाकित ढग का होगा—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०

अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ

ओ औ ऋ अं अः

क ख ग घ ङ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व श

ष स ह ज्ञ

विशेष अक्षर श्र, ओउम् तथा ळ होगे ।

(५) विराम चिह्न यथासम्भव वे सब ले लिए जायें जो इस समय अँग्रेजी में प्रचलित हैं । केवल पूर्ण-विराम के लिए खडीपाई स्वीकार की जाय ।

यदि समिति के सुधार-सम्बन्धी ऊपर के सुझावो का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि समिति ने यथासम्भव कम-से-कम ही सुधार किया है । कतिपय सुधार सम्बन्धी सुझावो के साथ-साथ समिति ने जो सब से महत्त्वपूर्ण कार्य किया है वह है नागरीलिपि का स्थिरीकरण (Standardisation) । इस समय विभिन्न प्रदेशो मे कई वर्णों के दो रूप लिखने तथा

छापने मे चालू हैं, उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित वर्णों के इस समय दो रूप प्रचलित हैं—

(१) अ छ झ ल र ह ध भ

(२) अ छ झ ळ र ह ध भ

ऊपर न० १ के अक्षर प्राय. उत्तरप्रदेश मे प्रचलित है किन्तु दूसरी पक्ति के र, ध तथा भ अक्षरो को छोड़कर शेष उत्तर प्रदेश से सर्वथा वहिष्कृत है, ऐसी बात भी नही है। इसके साथ न० (२) के अक्षर वम्बइया टाइप मे उपलब्ध हैं और निर्णयसागर प्रेस की सस्कृत की तथा वम्वई से प्रकाशित होने वाली हिन्दी की पुस्तके भी प्राय इसी टाइप मे छपती है। वम्बइया टाइप वाले अक्षर ही समस्त महाराष्ट्र मे प्रचलित हैं और 'ध' एव 'भ' तो स्पष्ट-रूप से गुजराती है। अव प्रश्न यह उठता है क एक ही अक्षर के इन दो रूपो मे से किस एक को स्वीकार किया जाय ? प्रचलन की दृष्टि से न०२ के अक्षरो को ही स्वीकार करना उचित है। और समिति ने यही किया भी। 'झ' के इस दूसरेवाले रूप को इसलिए स्वीकार करने की जरूरत है कि पहली पक्ति के 'झ' के आगे वाले भाग के टूटने से यह 'भ' वन जाता है और दूसरी पक्ति के घुडी वाले ध और भ इसलिए मान लेने की आवश्यकता है कि पहली पक्ति के 'ध' एव 'भ' के 'घ' तथा 'म' मे परिणत होने की सदैव आशका रहती है। स्थिरीकरण की दृष्टि से समिति के ये सुझाव अत्यधिक महत्त्व के है।

नरेन्द्रदेव कमेटी की रिपोर्ट के वाद, नवम्बर मन् १९५३ ई० मे उत्तर प्रदेश शासन ने नागरीलिपि मे सुधार-सम्वन्धी सुझावों पर विचार करने के लिए लखनऊ मे विभिन्न राज्यो के मत्रियो तथा कतिपय चुने हुए विद्वानो की एक सभा की। जहाँ तक अक्षरो के रूप से सम्बन्ध है, इस सभा मे आमत्रित विद्वानो ने एक-दो परिवर्तनो के साथ नरेन्द्र देव-समिति द्वारा सुझाए हुए रूपो को स्वीकार कर लिया। इन मे से एक परिवर्तन 'ख' के सम्वन्ध मे था। इसके रूप मे दोष यह था कि इस मे प्राय 'र' और 'व' का भ्रम हो जाता है। यही कारण है कि इस सभा में समवेत विद्वानो ने इसे यह (ख) रूप दिया। नरेन्द्रदेव समिति ने 'क्ष' को स्वतत्र अक्षर के रूप मे स्वीकार नही किया था किन्तु लखनऊ की सभा ने इनकी स्वतत्र सत्ता स्वीकार कर ली। नरेन्द्र देव-समिति ने ह्रस्व 'इ' की मात्रा को जो रूप दिया था, उसे इस समिति ने वदल दिया, यथा—हीन्दी (=हिन्दी)। संयुक्ताक्षरो के सम्वन्ध मे इस सभा ने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तथा नरेन्द्रदेव-समिति के सुझावो को प्राय उसी रूप मे स्वीकार कर लिया।

जनवरी सन् १९५५ मे भारत सरकार ने लखनऊ-सम्मेलन (सभा) की सिफारिशो को स्वीकार कर लिया तथा उसने सभी राज्य-सरकारो को लिखा कि जहाँ-जहाँ नागरीलिपि का प्रयोग करना हो, यह सशोधित लिपि ही काम मे लाई जाय। राज्य सरकारो से जो उत्तर प्राप्त हुए उनसे पता चला कि बहुत-सी राज्य-सरकारें लखनऊ-सम्मेलन की सिफारिशों से सहमत नही थी । इसके अतिरिक्त हिन्दी-जगत् ने भी इनमे से अनेक सिफारिशो का स्वागत नही किया । जहाँ तक सुधरे हुए अक्षरो के रूप का प्रश्न था, लोगों को उतनी आपत्ति नही थी, किन्तु ह्रस्व 'इ' की मात्रा तथा सयुक्ताक्षर (विशेषरूप से 'र' के साथ सयुक्त वर्ण, यथा=प्रेम (=प्रेम), शीघ्रता (=शीघ्रता), क्षेत्र (=क्षेत्र)) आदि के रूप से हिन्दी-क्षेत्र के लोग भी बुरी तरह भडकते थे । सन् १९५३ से १९५७ तक की चार वर्ष की अवधि मे उत्तरप्रदेश की सरकार भी इन सिफारिशों को कार्यान्वित न कर सकी । अतएव उत्तरप्रदेश की सरकार ने लिपि-सुधार के प्रश्न पर पुन विचार करने के लिए अक्तूबर १९५७ मे लखनऊ मे दूसरा सम्मेलन बुलाया । इस सम्मेलन ने पहले सम्मेलन के निर्णयो मे परिवर्तन-सशोधन किया । इनमे से ऊपर के दो सशोधन मुख्य थे । दूसरे शब्दो मे इस सम्मेलन ने ह्रस्व 'इ' तथा 'र' के सयुक्ताक्षर को पूर्ववत् कर दिया ।

इस विषय पर भारत सरकार के शिक्षा मत्रालय ने पुन विचार किया और इसे शिक्षा-मत्री सम्मेलन मे प्रस्तुत करने का निश्चय किया । इससे पहले कि यह मामला शिक्षा-मत्री सम्मेलन मे उपस्थित किया जाय, शिक्षा मत्रालय ने विशेषज्ञो का एक सम्मेलन बुलाया और इस विषय मे उनकी राय ली । तदुपरान्त ८ और ९ अगस्त सन् १९५९ को सारा मामला शिक्षा-मत्री सम्मेलन मे रखा गया, जिसमे १९५३ के लखनऊ सम्मेलन की सिफारिशों को १९५७ के लखनऊ-सम्मेलन द्वारा किए गए परिवर्तन-सशोधन के साथ कुछ स्पष्टीकरण-सहित स्वीकार कर लिया गया ।

सामान्य-लिपि के रूप मे देवनागरी की स्वीकृति

यद्यपि देवनागरी की मानक लिपि तैयार हो गई किन्तु इसके बाद समस्त देश की एकता की दृष्टि से सामान्यलिपि के रूप मे भी देवनागरी की स्वीकृति की आवश्यकता प्रतीत होने लगी । उधर १०, ११, १२ अगस्त सन् १९६१ को राज्यो के मुख्य-मत्रियो और केन्द्रीय मत्रियो का एक सम्मेलन दिल्ली मे हुआ । सम्मेलन ने एकमत होकर यह राय दी कि समस्त भारतीय भाषाओं के लिए एक सामान्यलिपि का होना ही वाछनीय नही, आवश्यक भी है, क्योकि

ऐसी लिपि भारतीय भाषाओं के बीच एक सेतु का काम करेगी और उससे भी भावात्मक एकता को बढावा मिलेगा। सम्मेलन की वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए देवनागरी लिपि ही ऐसी लिपि हो सकती है।

देवनागरी में नवीन प्रतीको का समावेश

देवनागरी लिपि को अखिल भारतीय लिपि का स्वरूप और क्षमता देने के उद्देश्य से उसमे हिंदीतर भाषाओ की विशिष्ट ध्वनियो के लिए नवीन प्रतीको का समावेश आवश्यक था। इस कार्य के लिए सन् १९६१ मे भारत-सरकार ने एक भाषाविद् समिति का सगठन किया। इस समिति ने अपनी सिफारिशें सरकार के पास भेज दी और अन्त में सरकार ने इन्हे स्वीकार भी कर लिया।

'मानक देवनागरी' (जिसमे हिंदीतर भाषाओ की विशिष्ट ध्वनियों का भी समावेश है) तथा समस्त भारतीय भाषाओ के लिए 'सामान्य राष्ट्रलिपि', 'परिवर्द्धित देवनागरी' नाम की दो पुस्तिकाएँ, नवम्बर सन् १९६६ ई० मे, भारत सरकार ने प्रकाशित की तथा समस्त देश के चुने हुए विद्वानो की दिल्ली मे एक सभा बुलाकर उनकी स्वीकृति प्राप्त की। दूसरी पुस्तिका मे, सरकार ने अपने निर्णयो की व्यावहारिकता दर्शाने के लिए भारत के सविधान की आठवी अनुसूची मे उल्लिखित चौदह भाषाओ मे लिखित अनुच्छेद ३५१ का देवनागरी लिप्यन्तरण भी दिया है।

मानक देवनागरी

स्वर

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ऌ ए ऐ

ओ औ अं अ.

मात्राएँ

ा ि ी ु ृ ू े ै ो ौ ं ः

व्यंजन

क ख ग घ ङ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व

श ष स ह ड़ ढ़ ळ

क्ष ज्ञ श्र

अंक

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ०

स्पष्टीकरण

१ हिंदी मे ॠ (दीर्घ ॠ) का प्रयोग नही होता, अत. इसे स्वरो मे सम्मिलित नही किया गया है ।

२ सयुक्ताक्षर

(१) खडी पाईवाले व्यजन

ख ग घ च ज झ ञ ण त थ ध न

प ब भ म य ल व श ष क्ष ज्ञ

खडी पाईवाले व्यजनो का सयुक्त रूप खडी पाई को हटाकर ही बनाया जाना चाहिए । यथा :

ख्याति, लग्न, विघ्न, कच्चा, छज्जा, व्यजेन, नगण्य, कुत्ता, पथ्य, ध्वनि, न्याम, प्यास, डिब्बा, सभ्य, रम्य, शय्या, उल्लेख, व्यास, श्लोक, राष्ट्रीय, स्वीकृत, यक्ष्मा ।

(२) अन्य व्यजन

(क) 'क' और 'फ' के सयुक्ताक्षर बनाने का वर्तमान ढग ही कायम । थ । सयुक्त, पक्का, दफ्तर । (सयुक्त, पक्का, दफ्तर नही)

(ख) ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ और द के सयुक्ताक्षर हल् चिह्न लगा कर ही बनाए जायँ । यथा .

वाङ्मय, लट्टू, बुड्ढा, विद्या आदि

(वाङ्मय, लट्टू, बुड्ढा, विद्या नही)

(ग) सयुक्त 'र' के पुराने तीनो रूप यथावत रहेगे । यथा :

प्रकार, धर्म, राष्ट्र ।

(घ) 'श्र' का पुराना रूप जैसा 'श्री' मे है वैसा ही कायम रहेगा।

(ङ) 'त्र' के स्थान पर अब 'त' और 'र' का सयुक्त अक्षर 'त्र' रहेगा।
(परतु आगे चल कर पूर्व प्रचलित रूप 'त्र' भी स्वीकार कर लिया गया है।)

(च) 'ह' का सयुक्त रूप वर्तमान प्रणाली के साथ ही हल् चिह्न लगाकर भी किया जा सकेगा। यथा :

चिह्न और चिह्‌न (चिह्न नही)

(छ) सस्कृत मे सयुक्ताक्षर पुरानी शैली से भी लिखे जा सकेंगे।

३ अन्य निश्चय, जो १९५३ मे हुए थे, वे ही कायम रहेगे। यथा

(१) शिरोरेखा का प्रयोग प्रचलित रहेगा।

(२) (क) फुलस्टाप को छोडकर शेष विराम आदि चिह्‌न वही ग्रहण कर लिए जाएँ जो अँग्रेजी मे प्रचलित है। यथा

(- = – , ; । ? !)

(विसर्ग के चिह्‌न को ही कोलन का चिह्‌न मान लिया जाय)

(ख) पूर्ण विराम के लिए खडी पाई (।) का प्रयोग किया जाए।

(ग) जहाँ तक सभव हो टाइपराइटर के कुजीपटल मे निम्नलिखित चिह्‌नो को सम्मिलित कर लिया जाय

(‸ % " " ( ) + ˇ – * = ‿)

(३) अनुस्वार और अनुनासिक दोनो (ँ) प्रचलित रहेगे।

राष्ट्रपति द्वारा समय-समय पर दिए गए आदेशो के अनुसार, कुछ विशेष प्रयोजनो को छोडकर, सभी सरकारी हिंदी-प्रकाशनो मे अतर्राष्ट्रीय अको का प्रयोग अपेक्षित है—

अतर्राष्ट्रीय अंक

1 2 3 4 5 6 7 8 9 0

देवनागरी लिपि को अखिल भारतीय लिपि का स्वरूप और क्षमता देने के उद्देश्य से उसमे हिंदीतर भाषाओ की विशिष्ट ध्वनियो को व्यक्त करने के लिए कुछ नवीन प्रतीको का भी समावेश कर दिया गया है। आगे के पृष्ठो मे भारत सरकार द्वारा प्रस्वीकृत देश की अन्य भाषाओ के देवनागरी लिप्यन्तरण के पटल प्रस्तुत हैं—

देवनागरी वर्णमाला

अ	आ	इ	ई	उ
ऊ	ऋ	लृ	ए	ऐ
ओ	औ	अं	अः	
क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ल	व	श
ष	स	ह	क्ष	ज्ञ
श्र	ड़	ढ़	त्	य

- देवनागरी वर्णमाला

अ	आ	इ	ई	उ
ऊ	ऋ	ए	ऐ	ओ
	औ	अं	अः	
क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ळ	ल	व
श	ष	स	ह	क्ष
	ड़		ढ़	

- देवनागरी वर्णमाला

ट	त	प	ब	अ
ख़	ह	च	ज	स
ड़	र	ज़	ड	द
स	श़	स	झ़	ज़
ग़	अ़	ज़	त	ज़
ल	ग	क	क़	फ़
य	ह	व	न	म
		य		
झ	ठ	थ	फ	भ
ख	ढ़	ढ	ध	छ
आ	उ	इ	अ	घ

देवनागरी वर्णमाला

अ आ इ ई उ

ऊ ऋ ॠ ऍ ए

ऐ ऑ ओ औ अं

अः

क ख ग घ ङ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व श

ष स ह क्ष ळ

[illegible] - देवनागरी वर्णमाला

ई इ आ अ आं अं

ओ अॅ ऊ उ ऊं उ़

इ़ ए ऍ

छ च ग ख क

ट ज़ छ़ च़ ज

द थ त ड ठ

म ब फ प न

व ल र य ध

ह स श

ब्राह्मी - देवनागरी वर्णमाला

अ आ इ ई उ

ऊ ऋ ए ऐ ओ

औ अं अः

क ख ग घ ङ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व श

ष स ह ळ क्ष

त्र ज्ञ

- देवनागरी वर्णमाला

अ	आ	इ	ई
उ	ऊ	ऍ	ए
ऐ	ऑ	ओ	औ
	अक्		
क	ङ	च	ञ
ट	ण	त	न
प	म	य	र
ल	व	ऴ	ळ
ऱ	ऩ	ष	स
ह	ज़	क्ष	

- देवनागरी वर्णमाला

अ	आ	इ	ई	उ
ऊ	ऋ	ॠ	ऌ	ॡ
एँ	ए	ऐ	ऑ	ओ
	औ	अं	अः	
क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ल	व	श
ष	स	ह	क्ष	ऱ
		ळ		

—देवनागरी वर्णमाला

अ आ इ ई उ

ऊ ऋ ए ऐ ओ

औ अं अः

क ख ग घ ङ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व श

स ह

[illegible] - देवनागरी वर्णमाला

अ	आ	इ	ई	उ
ऊ	ऋ	लृ	ए	ऐ
ओ	औ	अं	अः	
क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ल	व	श
ष	स	ह	क्ष	ज्ञ
श्र	ड़	ढ़	ह्	ष्

देवनागरी वर्णमाला

अ	आ	इ	ई	उ
ऊ	ऋ	ॠ	ऌ	ॡ
ऍ	ए	ऐ	ऑ	ओ
	औ	अं	अः	
क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ल	व	श
ष	स	ह	ळ	क्ष
	ष़	ऱ	शऱ	

हिन्दी-क्षेत्र में भाषाशास्त्र के अध्ययन की प्रगति

●

यद्यपि प्राचीनकाल मे हमारे देश मे संस्कृत-व्याकरण का सूक्ष्म और शास्त्रीय अध्ययन हुआ था और भारत के प्राचीन वैयाकरण पाणिनि, पतजलि तथा कात्यायन ने भाषा-सम्बन्धी अनेक ऐसे तत्त्वो का अन्वेषण किया था जिससे आज के भाषाशास्त्री भी प्रेरणा प्राप्त कर रहे है, तथापि आधुनिक युग मे वैज्ञानिक रूप मे इस देश मे भाषाशास्त्र का अध्ययन बीम्स, हार्नले, ग्रियर्सन, ट्रम्प, काल्डवेल, ब्लाख एव टर्नर की कृतियो से प्रारम्भ हुआ। यूरोप के विद्वानो की पद्धति का अनुसरण करते हुए रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, सुनीतिकुमार चटर्जी, तारपुरवाला आदि विद्वानो ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ एव भाषाशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। स्वर्गीय डॉ० ए० सी० वुलनर के प्रयत्न और उद्योग से सन् १९२८ ई० मे 'लिंग्विस्टिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया' की स्थापना हुई। तब से प्राच्यविद्या-सम्मेलन (Oriental Conference) के अधिवेशनो मे लिंग्विस्टिक सोसाइटी का भी अधिवेशन होता आ रहा है। यद्यपि भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयो मे भाषा-सम्बन्धी शोध एव अध्ययन-अध्यापन का कार्य थोडा-बहुत होता रहा है तथापि इस ओर विश्वविद्यालयो का विशेषरूप से ध्यान आकर्षित न हो सका और कलकत्ता विश्वविद्यालय को छोडकर कही भी भाषा-शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का विभाग न खुल सका। यह आश्चर्य की बात है कि जहाँ यूरप के पैरिस, लन्दन, ऑक्सफोर्ड, केम्ब्रिज तथा जर्मनी के विविध विश्वविद्यालयो मे १९वी शताब्दी के प्रारम्भ से ही भाषाशास्त्र के 'चेयर' की स्थापना हो चुकी थी वहाँ उन्ही के आदर्श पर बने हुए भारतीय विश्वविद्यालयो मे इस शास्त्र के लिए कोई स्थान न रहा।

सन् १९४७ ई० मे अँगरेजो की दासता से भारत स्वतत्र हुआ। इस अवसर पर आशा थी कि विश्वविद्यालयो मे भारतीय भाषाओ के अध्ययन की नवीन प्रणाली का प्रादुर्भाव होगा किन्तु यह आशा दुराशा के रूप मे परिणत होकर रह गई। सौभाग्य से डेकेन कालेज, पूना के भाषाशास्त्र के विद्वान् प्राध्यापक, डॉ० सुमित्र मगेश कत्रे का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। सन १९५३ ई० के मई मास मे उन्होने भारत के विविध राज्यो के कुछ चुने हुए भाषाशास्त्रियों एव शिक्षा-विशारदो की सभा पूना के डेकेन कालेज मे बुलाई। इसका सभापतित्व लन्दन विश्वविद्यालय के 'प्राच्य एव अफ्रीकी विभाग' के अध्यक्ष

एव सचालक डॉ० सर राल्फ लिली टर्नर ने किया था और इनके व्यय का भार अमेरिका के 'राकेफेवर फाउण्डेशन' ने वहन किया था। इस सभा में कई प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे जिनमे भाषाशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाले प्रस्तावो को सक्षेप मे नीचे दिया जा रहा है—

(अ) भारतीय भाषाशास्त्र की आधारभूत आवश्यकताएं

१ भारत के विश्वविद्यालयो में भाषाशास्त्र के विभाग खोले जायें तथा बी० ए० और एम० ए० के पाठ्यक्रमो मे भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को स्थान दिया जाय।

२ भाषाशास्त्र को मानव-विज्ञान (Human Science) मान कर नृ-विज्ञान (Anthropology) के क्षेत्र में कार्य करनेवालो को भाषाशास्त्र की शिक्षा दी जाय।

३ भाषाओ और भाषाशास्त्र के उचित अध्ययन के लिए विश्वविद्यालयो मे 'प्रयोगात्मक लैबोरेटरीज' की स्थापना की जाय।

४ भारतीय भाषाशास्त्र की सद्य आवश्यकताओ को देखते हुए सभा ने ये सुझाव दिये —

(क) एकरूपता को दृष्टि मे रखकर प्रमुख भारतीय भाषाओ के ऐतिहासिक व्याकरण लिखे जायें।

(ख) सामान्य एव भारतीय भाषाशास्त्र की परिनिष्ठित विदेशी भाषा की पुस्तको का प्रमुख भारतीय भाषाओ मे अनुवाद किया जाय।

(ग) बोलियो तथा बोली-भूगोल (Dialect-Geography) को सर्वोच्च स्थान दिया जाय, क्योकि यह सामग्री द्रुतगति से विनष्ट हो रही है।

(घ) भारतीयस्तर पर, नवीन प्रणाली के आधार पर, 'भारत का नवीन भाषासर्वेक्षण' किया जाय।

(ङ) प्रमुख भारतीय भाषाओ के महत्वपूर्ण ग्रन्थो का पाठालोचन की दृष्टि से सम्पादन किया जाय।

(च) भाषाशास्त्र (विशेषतया, भारतीय) के लिए सन्दर्भ सूची-विभाग (Bibliographical Department) की स्थापना की जाय।

(आ) भारतीय तथा अभारतीय भाषाओ के विद्यार्थियो के लिए भारतीय भाषाशास्त्र मे प्रशिक्षण एवं विशिष्ट अध्ययन की सुविधाएँ

१ डेकेन कालेज मे भाषाशास्त्र के ग्रीष्मकालीन एवं शरत्कालीन स्कूलों को चालू किया जाय जिनमे भारतीय तथा विदेशी विशेषज्ञ भाग ले तथा भाषाशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्तो एव पद्धतियो का गहन अध्ययन-अध्यापन करे।

२ भाषाशास्त्रीय स्कूल के अध्येताओ के अतिरिक्त, डेकेन कालेज, अपनी प्रशिक्षण सुविधाओ के लिए अन्य जिज्ञासु विद्वानो के लिए भी अपना द्वार उन्मुक्त करे ।

३ यह सभा इस बात का सुझाव देती है कि विश्वविद्यालय, राज्य सरकारे तथा अन्य सस्थाएँ पूना मे स्थापित भाषाशास्त्रीय स्कूल मे विशेष अध्ययन के लिए योग्य विद्यार्थियो को सुविधाएँ दें। इसके अतिरिक्त देश के विश्वविद्यालय अपने नवयुवक अध्यापको को भी भाषाशास्त्र के अध्ययन के लिए सुविधा दे ।

सभा के इन सुझावो के परिणामस्वरूप पूना के डेकेन कालेज मे, भाषाशास्त्र के प्रथम शरत्कालीन स्कूल का समारम्भ सन् १९५४ के नवम्बर मे हुआ। इस प्रकार का दूसरा स्कूल सन् १९५५ के मई-जून मे, तीसरा स्कूल अक्टूबर-नवम्बर मे तथा चौथा स्कूल मई-जून सन् १९५६ मे पूना मे हुआ। इसके बाद प्रबन्ध-समिति ने यह निर्णय किया कि शरत्कालीन स्कूल को 'सेमिनार' के रूप मे बदल दिया जाय तथा 'सेमिनारो' मे केवल चुने हुए कतिपय विद्वानो एव शोधछात्रो को ही बुलाया जाय जिससे उनके शोध-सम्बन्धी विषयो की कठिनाइयो को दूर किया जाय। इस तरह सन् १९५५ के नवम्बर मे जो स्कूल प्रारम्भ हुआ था उसका स्थान इस सेमिनार ने ले लिया। इस योजना का प्रथम शरत्कालीन सेमिनार सन् १९५६ मे पूना मे हुआ। यही यह भी निश्चय किया गया कि ग्रीष्मकालीन स्कूल तथा शरत्कालीन सेमिनार पूना के अतिरिक्त भारत के अन्य स्थानो पर भी किये जायँ जिससे भारत के अन्य राज्यो को भी समान लाभ मिल सके ।

उत्तरप्रदेश के आगरा विश्वविद्यालय ने इस प्रकार के प्रथम स्कूल को डी० ए० वी० कालेज देहरादून मे आमत्रित किया तथा वहाँ १९५७ के मई-जून मे ग्रीष्मकालीन स्कूल हुआ। इसका अनुसरण करते हुए मद्रास राज्य के अन्नामलाई विश्वविद्यालय ने शरत्कालीन सत्र को सन् १९५७ के सितम्बर-अक्तूबर मे चिदम्बरम् मे आमत्रित किया तथा यह सत्र अन्नामलाई विश्वविद्यालय मे हुआ। इसके बाद सन् १९५८ ई० का ग्रीष्मकालीन स्कूल मैसूर विश्वविद्यालय के महाराजा कालेज मे तथा शरत्कालीन सेमिनार डेकेन कालेज, पूना मे हुआ। यह इस योजना का अन्तिम सेमिनार था जिसमे लन्दन से सर राल्फ टर्नर एक बार पुन आए। भाषाशास्त्रीय अध्ययन की इस योजना का अन्तिम ग्रीष्मकालीन स्कूल सन् १९५९ के मई-जून में दक्षिण मे, कोयम्बटूर में हुआ। इस प्रकार भाषाशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की यह योजना निरन्तर पाँच वर्षो तक चलती रही। इसमे कई लाख रुपये व्यय हुए जिसे अमेरिका के राकेफेलर फाउडेशन ने वहन किया ।

तालिका नं० २

भाषा	सीनियर भाषाशास्त्री	जूनियर भाषाशास्त्री	योग
कन्नड़	३	२	५
तमिल	×	१	१
मलयालम	१	×	१
असमिया	×	१	१
मराठी	३	१	४
गुजराती	१	×	१
सिन्धी	×	१	१
पंजाबी	×	१	१
*हिन्दी	२	१	३

भाषाशास्त्र के विभिन्न स्कूलो के अध्येताओ की संख्या भाषानुसार इस प्रकार है। इसमे तेलुगु के अन्तर्गत तेलुगु एव तूलू, मराठी के अन्तर्गत मराठी एव कोकणी तथा हिन्दी के अन्तर्गत हिन्दी, उर्दू, खडीबोली, ब्रज, बाँगरू, राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी, मगही (मागधी), मैथिली तथा छिकाछिकी बोलियाँ सम्मिलित हैं —

तालिका नं० ३

भाषा	१९५४ (शरद)	१९५५ (ग्रीष्म)	१९५५ (शरद)	१९५६ (ग्रीष्म)	१९५८ (ग्रीष्म)	योग
कन्नड	८	१७	११	१०	५६	१०२
तेलुगु	९	९	२	९	२०	४९
तमिल	५	१०	६	१७	३८	७६
मलयालम	३	५	१	६	१०	२५
असमिया	४	४	१	६	५	२०
बंगला	३	८	३	८	५	२७
उड़िया	३	७	×	६	५	२१
मराठी	१४	५१	२५	३६	३०	१५६
गुजराती	५	२१	५	७	१३	५१

*यहाँ हिन्दी के अन्तर्गत उर्दू भी सम्मिलित है। वस्तुत. सीनियर भाषाशास्त्रियों मे एक हिन्दी तथा एक उर्दू के हैं।

सिन्धी	१	×	१	×	१	३
पजाबी	१	१	५	२	३	१२
कश्मीरी	१	१	१	१	१	५
नेपाली	१	×	×	×	×	१
सिंहली	१	×	×	×	×	१
अँग्रेजी	१	×	×	×	२	३
हिन्दी	१२	१२	१८	२७	३५	१०४

(ऊपर की तालिका न० ३ मे १९५६ के शरद, १९५७ के ग्रीष्म एव शरद तथा १९५८ के शरद और १९५९ ग्रीष्म के अध्येताओ की सख्या अनुपलब्ध होने के कारण नही दी जा सकी।)

तालिका न० १ से यह स्पष्ट हो जाता कि कुल ३२ फेलो मे से हिन्दी-भाषी क्षेत्र* के केवल ८ फेलो थे। हिन्दी भाषा-भाषियो की सख्या की दृष्टि से यह अनुपात बहुत कम है। यदि हम राशियो के आधार पर विचार करे तो इन आठ फेलो मे से राजस्थान से १, पूर्वी पजाब (रोहतक) से १, बिहार से २, उत्तरप्रदेश से ४ (२ हिन्दी तथा २ उर्दू) फेलो थे। मध्यप्रदेश से एक भी फेलो न आ सका। इतने विशाल हिन्दी-क्षेत्र से केवल ८ फेलो का आना यह स्पष्ट करता है कि हिन्दी-क्षेत्र के लोगो ने भाषाशास्त्र के अध्ययन मे कितनी कम दिलचस्पी ली। जनसख्या की दृष्टि से यह सख्या निराशाजनक है। यह तालिका इस तथ्य की ओर भी सकेत करती है कि भाषाशास्त्र के अध्ययन की इस योजना से जितना लाभ अन्य भाषा-भाषियो को हुआ उतना हिन्दी-भाषियो को न हो सका।

तालिका न० २ से ऊपर की बात की ओर भी पुष्टि हो जाती। जहाँ अन्य भाषा-क्षेत्रो से १५ विद्वान् वर्णनात्मक भाषाशास्त्र (Descriptive linguistics) के अध्ययन के लिए अमेरिका भेजे गये, वहाँ हिन्दी क्षेत्र से केवल ३ विद्वान् (एक उर्दू तथा दो हिन्दी) ही जा सके। इन तीन विद्वानो मे से दो उत्तरप्रदेश और एक पूर्वी पजाब (रोहतक) के थे।

तालिका न० ३ मे विभिन्न वर्षों के अध्येताओ की सख्या दी गई है। इनमे से प्राय. आधे से अधिक ऐसे अध्येता है जो कई स्कूलो से आये हैं, किन्तु इससे

---

*यहाँ हिन्दीभाषी क्षेत्र के अन्तर्गत वे सभी राज्य हैं जहाँ साहित्यिक भाषा के रूप में हिन्दी व्यवहृत होती है। इन राज्यो मे दिल्ली, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश तथा पूर्वी पजाब के कुछ भाग आते है।

अध्येताओ के अनुपात मे कोई अन्तर नही आता । इस तालिका मे देहरादून और कोयम्बटूर के स्कूलो तथा शरत्कालीन सेमिनारो की सख्या नही दी जा सकी है, किन्तु देहरादून मे भी हिन्दीवालो की सख्या अन्य स्कूलो से अच्छी न थी ।

ऊपर की तीनो तालिकाओ के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुपात की दृष्टि से हिन्दी-क्षेत्र के कितने कम अध्येताओ ने इन स्कूलो से लाभ उठाया । इसका कारण यह नही कि अहिन्दी भाषा-भाषियो पर विशेप कृपा की गई, अपितु इसका सब से बडा कारण यह है कि हिन्दीभाषी-क्षेत्र के नवयुवक प्राध्यापको मे हम भाषाशास्त्र के अध्ययन के लिए वास्तविक प्रेम और उत्साह न उत्पन्न कर सके । जहाँ अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रो मे इन पाँच वर्षो के अन्तर्गत ही भाषाशास्त्र के अध्ययन के लिए सात—अहमदाबाद, अन्नामलाई, बडौदा, धारवाड, ट्रावन्कोर, वाल्टेयर और पूना—विश्वविद्यालयो मे केन्द्र एव अलग विभाग स्थापित हो गए वहाँ दिल्ली, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश एव बिहार मे, केवल आगरे मे एक केन्द्र खुल सका। इसके अनेक कारण है जिनमे से नीचे कतिपय कारणो पर विचार किया जाता है।

इनमे सर्वाधिक मुख्य कारण यह है कि समस्त हिन्दी-क्षेत्र मे गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाड, बगाल आदि की तरह भाषा को लेकर किसी प्रकार की एकता का भाव नही है । हिन्दी-प्रदेश की सब से बडी कमजोरी है, जातिवाद । इसने इस समस्त क्षेत्र को विखण्डित कर रखा है । एक दूसरी कठिनाई यह भी है कि इस क्षेत्र के अधिकाश हिन्दी प्राध्यापको तथा छात्रो का सस्कृत, मध्यकालीन प्राकृत तथा अपभ्रश भाषाओ के अध्ययन से कोई सम्बन्ध-सम्पर्क नही है । वस्तुत भारोपीय परिवार के भाषाशास्त्र के अध्ययन का मेरुदण्ड ये प्राचीन भाषाएँ है । यूरोप मे भी अठारहवी शताब्दी से भाषाशास्त्र के अध्ययन की जो प्रवृत्ति चली थी उसका मुख्य कारण सस्कृत का अध्ययन ही था । हिन्दी की अपेक्षा अँग्रेजी का साहित्य कई गुना विशाल है फिर भी यूरोप तथा अमेरिका के अँग्रेजी के प्राध्यापको के लिए ग्रीक तथा लैटिन जैसी प्राचीन भाषाओ एव फ्रेंच, जर्मन जैसी अर्वाचीन भाषाओ का ज्ञान अनिवार्य है । किन्तु हिन्दी के प्राध्यापक होने के लिए यहाँ की प्राचीन भाषाओ एव भारत के अन्य प्रदेशो की भाषाओ का ज्ञान आवश्यक नही है । यह कितनी विचित्र बात है कि उत्तरप्रदेश के हाईस्कूलो तथा इण्टरमीडिएट कालेजो मे हिन्दी-अध्यापक होने के लिए सस्कृत का ज्ञान आवश्यक है किन्तु विश्वविद्यालयो मे इसकी आवश्यकता नही समझी गई है । भाषाशास्त्र के अध्ययन की उपेक्षा का एक कारण यह भी है कि जहाँ अहिन्दी क्षेत्र के छात्रो और प्राध्यापको को सस्कृत

के अतिरिक्त पड़ोस की दो-एक अन्य भाषाओं का भी ज्ञान अनिवार्य रूप से होता है वहां। हिन्दी-क्षेत्र के छात्र हिन्दी के अतिरिक्त पड़ोस की किसी अन्य भाषा का ज्ञान प्राप्त करने का किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करते। ये कटु सत्य है, इन्हे स्वीकार करने मे हमे किसी प्रकार का सकोच नही होना चाहिए।

पूना के विविध भाषाशास्त्रीय स्कूलो मे जहाँ अहिन्दी क्षेत्रो के कई विश्व-विद्यालयो अथवा राज्यो की ओर से छात्रवृत्ति देकर छात्र भेजे गये थे वहाँ हिन्दी-राज्यो तथा विश्वविद्यालयो से एक भी छात्र पूरे वर्ष के अध्ययन के लिए पूना नही भेजा गया। इस सम्बन्ध मे यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि पजाब, अन्नामलाई तथा शान्तिनिकेतन विश्वविद्यालयो से इनके लिए छात्रवृत्ति-सहित एक-एक छात्र आया था। मैं इसके लिए हिन्दी-प्रदेश के विश्वविद्यालयो तथा राज्यो को उतना दोषी नही मानता। सच तो यह है कि हिन्दी के कर्णधारो ने न तो भाषाशास्त्र के अध्ययन के लिए उपयुक्त वातावरण ही तैयार किया और न छात्रो को ही इसके लिए उत्साहित किया और न राज्या-धिकारियो को ही इसके लिए किसी प्रकार की प्रेरणा ही दी।

एक बात और भी है। पूना से हिन्दी-क्षेत्र के जो 'फेलो' अध्ययन करके आये भी, उन्हे हिन्दी-क्षेत्र के विश्वविद्यालयो ने अपने यहाँ स्थान नही दिया, जब कि अन्य क्षेत्रो के फेलो लोगो को उन क्षेत्रो के विश्वविद्यालयो ने अपने यहाँ नियुक्त कर लिया। सच बात तो यह है कि हिन्दी-क्षेत्र के विश्वविद्यालयों मे जब नये प्राध्यापको की नियुक्ति होती है उस समय विषय-ज्ञान की अपेक्षा हमारी दृष्टि व्यक्तियो पर ही विशेषरूप से होती है। उस समय हम हिन्दी के अभिवृद्धि-सम्बन्धी समस्त आदर्शो को भूल जाते हैं। हिन्दी-क्षेत्र पर इसका अत्यधिक अशुभ परिणाम हुआ है। इस समय जहाँ तक भाषाशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का प्रश्न है, अहिन्दीभाषी क्षेत्रो से हिन्दीभाषी क्षेत्र पचास वर्ष पीछे तथा यूरोप एव अमेरिका से सौ वर्ष पीछे हो गये हैं। हमारे यहाँ भाषाशास्त्र के नाम पर आज छात्रो को जो सैद्धान्तिक ज्ञान दिया जा रहा है वह उन्नीसवी शताब्दी के मध्यभाग का है। यह बासी और अशुद्ध है।

लेखक को प्रयाग एव पूना मे स्नातकोत्तर छात्रो को पढाने का जो सुअवसर मिला है उससे यह अनुभव हुआ है कि भाषाशास्त्र जैसे वैज्ञानिक विषय के अध्ययन की ओर हिन्दी-क्षेत्र के छात्रो की बहुत कम प्रवृत्ति होती है। इसका कारण यह है कि जहाँ एक ओर भाषाशास्त्र का अध्ययन काव्यादि के अध्ययन की अपेक्षा कुछ कठिन है, वहाँ दूसरी ओर यह सद्य फलदायक भी नही है। साहि-त्यिक विषयो मे जहाँ अल्प परिश्रम से ही छात्रो को 'डॉक्टरेट' की पदवी मिल

जाती है वहाँ भाषाशास्त्र की उपयुक्त थीसिस लिखने मे गम्भीर अध्ययन और अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है। इसमे अपेक्षाकृत अधिक समय भी लग जाता है। अनेक छात्र आर्थिक कठिनाइयो एव अन्य प्रतिकूल परिस्थितियो के कारण भाषाशास्त्र मे अनुसन्धान करने से इसलिए भी घबराते हैं।

इस सम्बन्ध मे सब से आवश्यक बात यह है कि अहिन्दीभाषी क्षेत्रो की भाँति ही हम तत्काल हिन्दीभाषी-क्षेत्र मे भी भाषाशास्त्र के अध्ययन-केन्द्र स्थापित करे। विश्वविद्यालयो मे साधारणतया नवीन विषय को पाठयक्रम के अन्तर्गत लाने मे तीन-चार वर्ष लग जाते हैं। हमे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि विशेषाधिकार से भाषाशास्त्र को हम यथासम्भव शीघ्र बी.ए. एव एम.ए. के पाठ्यक्रम मे लायें। विश्वविद्यालयो के भाषाशास्त्र के विभागो में ऐतिहासिक (Historical), तुलनात्मक (Comparative) एव वर्णनात्मक (Descriptive), तीनो प्रकार के भाषाशास्त्रीय-अध्ययनो को चालू करने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध मे सब से बडी कठिनाई प्रशिक्षित प्राध्यापकों की है। इसके लिए हम आवश्यकतानुसार समय-समय पर पूना, दक्षिण के अन्य विश्वविद्यालयो तथा यूरोप एव अमेरिका के भाषाशास्त्रियों से सहायता ले सकते हैं। यद्यपि भाषाशास्त्र के योग्य अध्यापको की अमेरिका तथा यूरोप मे भी कमी है, तथापि जहाँ तक सम्भव हो, हमे इनसे लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। हमे पूर्ण आशा है कि हिन्दी-क्षेत्र के मुख्यमंत्री, शिक्षा-मत्री, उपकुलपति एव विद्वान् प्राध्यापक तथा हिन्दी-सेवी और प्रेमी इस महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर ध्यान देंगे।

हिन्दी-क्षेत्र मे आज पच्चीस (कुरुक्षेत्र, दिल्ली, जयपुर, जोधपुर, अलीगढ, आगरा, रुडकी, लखनऊ, मेरठ, कानपुर, इलाहाबाद, बनारस, वाराणसेय सस्कृत वि० वि०, काशी विद्यापीठ, गोरखपुर, पटना, बिहार, राँची, भागलपुर, सागर, जबलपुर, इन्दौर, ग्वालियर, उज्जैन तथा रायपुर) विश्वविद्यालय हैं। यदि इन विश्वविद्यालयो के उपकुलपति सन्नद्ध हो जाएँ तो हिन्दी-क्षेत्र मे भाषाशास्त्र के अध्ययन की प्रगति शीघ्र हो सकती है। हमे इस सम्बन्ध में तनिक भी प्रमाद करने का अवकाश नही है। व्यावहारिक दृष्टि से तो यह उपयुक्त होगा कि हिन्दी-क्षेत्र के उपकुलपति-गण किसी एक स्थान पर मिलकर इस सम्बन्ध मे मंत्रणा करें तथा योजना बनाकर उसे कार्य-रूप मे परिणत करने का प्रयत्न करें।

ऊपर के स्पष्टीकरण मे मेरा उद्देश्य न तो प्रान्तीय विद्वेष उभाडने का है और न किन्ही व्यक्तियो पर छीटाकशी करने का है। मेरा मुख्य उद्देश्य यह है कि हिन्दीभाषी जागरूक होकर अपना उत्तरदायित्व समझें।

●●

हिन्दी के विभिन्न रूप और उनका समन्वय

हमारा देश विशाल है। इसका क्षेत्रफल रूस को छोड़कर यूरोप महाद्वीप के बराबर है। इसमे अनेक जातियो तथा भापाओं को बोलनेवाले लोग रहते है, और इसकी जनसख्या ससार की जनसंख्या का पचमाश है। ग्रियर्सन के भापा-सर्वेक्षण के अनुसार भारत मे छह सौ से अधिक भाषाएँ तथा उपभाषाएँ प्रचलित है। प्राचीनकाल मे इस देश मे इतनी भाषाएँ तथा बोलियाँ न थी। वस्तुत समय की प्रगति के साथ-साथ ही इनकी संख्या मे अभिवृद्धि हुई है।

स्वतत्रता के बाद जब भारतीय सविधान बना तो उसमें चौदह भाषाओ को राज्यभापा का गौरव प्रदान किया गया, और अँग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को अन्तर्प्रान्तीय राज्य-भाषा के रूप मे स्वीकार किया गया।

यद्यपि इस रूप मे अभी तक हिन्दी समग्र देश मे प्रतिष्ठापित नही हो सकी है, फिर भी धीरे-धीरे इसके प्रचार एव प्रसार का क्षेत्र बढ़ रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज देश मे हिन्दी के कई रूप प्रचलित हो गये है।

इन्ही विभिन्न रूपो के समन्वय के सम्बन्ध मे यहाँ संक्षेप मे विचार किया जायेगा।

हिन्दी का एक रूप आज पूर्वी पजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश तथा बिहार के विश्वविद्यालयो एवं कॉलेजो मे शिक्षा के माध्यम के रूप मे, प्रचलित है। इसे हम परिनिष्ठित हिन्दी, साधुहिन्दी, उच्चहिन्दी अथवा सस्कृत-निष्ठ हिन्दी कह सकते हैं। इसमे सस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है। धीरे-धीरे हिन्दी का यह रूप उत्तरीभारत की सस्कृति-वाहिनी भाषा का रूप धारण कर रहा है। प्राचीनकाल मे उत्तरप्रदेश का अधिकाश भाग आर्यावर्त के अन्तर्गत था, और उसके बीच मे स्थित मध्यदेश, भारतीय सस्कृति का हृदय था। सस्कृत भाषा ने यही अपना रूप प्राप्त किया था, और भारतीय आचार-विचार के सम्बन्ध मे यह देश आदर्श माना जाता था। मथुरा, काम्पिल्य, सकाश्य, कन्नौज, अयोध्या, श्रावस्ती, प्रयाग तथा काशी इस प्रदेश के प्रमुख नगर थे। साधुहिन्दी आज इसी प्रदेश की उच्च शिक्षा की भाषा है। और शनै:-शनै: वह सस्कृत का स्थान ले रही है। इसके रूप को निर्धारित करने में काशी एव प्रयाग का प्रमुख हाथ है।

हिन्दी का दूसरा रूप वह है जिसका पश्चिमी उत्तरप्रदेश, आगरा, दिल्ली, मेरठ, मुरादाबाद, सहारनपुर, बरेली आदि के लोग अपने दैनिक जीवन मे प्रयोग करते है। हिन्दी के इस रूप मे तद्भव शब्दो की अधिकता होती है। इसमें अरबी-फारसी के सरल एव बहुप्रचलित शब्द अपने-आप आ जाते है। पश्चिमी उत्तरप्रदेश के साधारण शिक्षित लोग भी हिन्दी के इस रूप का व्यवहार अपने घरो में करते है। हिन्दी का यह रूप निखर कर अभी तक साहित्य मे नही आ पाया है। इसका मुख्य कारण यह है कि पश्चिम—आगरा, दिल्ली, तथा सहारनपुर—के लेखक काशी तथा प्रयाग के हिन्दी के रूप को ही आदर्श मानते हैं तथा साहित्य मे उसी का प्रयोग करते हैं। हिन्दी के इस रूप मे समन्वय के बीज वर्तमान है और भविष्य मे साहित्य मे, इसके प्रयोग की अत्यधिक सम्भावना है।

आज से कई वर्ष पूर्व राष्ट्रपिता बापू की प्रेरणा से हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तथा दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा के तत्वावधान मे, हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार का कार्य बगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, उत्कल, असम, सिंध, तमिल, तेलुगु कन्नड तथा मलयालम राज्यो एव क्षेत्रो मे हुआ था।

स्वतत्रता के बाद अनेक बाधाओ के बावजूद भी, यह काम आगे बढ रहा है। और इन क्षेत्रो मे हिन्दी के कई ऐसे लेखक पैदा हो गए हैं जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी नही है। ये लेखक जिस प्रकार की हिन्दी लिखते है उसमे, तथा उत्तरी भारत की हिन्दी मे कोई अन्तर नही है, क्योकि उनका आदर्श भी उत्तर भारत की परिनिष्ठित हिन्दी ही है। किन्तु भविष्य मे इन क्षेत्रो के लोग जैसे-जैसे हिन्दी के क्षेत्र मे आगे बढते जायेंगे, वैसे ही वैसे हिन्दी के रूप मे भी परिवर्तन होने की आशा है।

हिन्दी का एक चौथा रूप उर्दू भी है

अब प्रायः सभी लोग यह मानने लगे हैं कि उर्दू, हिन्दी की ही एक शैली है। वास्तव मे यदि उर्दू के कतिपय व्याकरणीय नियमो का त्याग कर दिया जाय तो हिन्दी तथा उर्दू के वाक्य-विन्यास तथा व्याकरण मे कोई अन्तर नही रह जायेगा। यह बात दूसरी है कि आज जहाँ साधुहिन्दी में सस्कृत शब्दो का प्राचुर्य है वहाँ उर्दू मे अरबी-फारसी शब्दो का बाहुल्य है।

हिन्दी मे इन चार रूपो के अतिरिक्त उधर हिन्दी-क्षेत्र मे कई नवीन शैलियो एव प्रवृत्तियो का प्रादुर्भाव हुआ है। आज हिन्दी के कई समर्थ लेखको ने अपने रेखा-चित्रो तथा आंचलिक उपन्यासों मे बहुप्रचलित क्षेत्रीय शब्दो का प्रयोग आरम्भ कर दिया है जिसके परिणामस्वरूप अनेक नूतन भावव्यजक शब्द

हिन्दी में आ रहे है। विहार के हिन्दी-लेखकों, विशेष रूप से श्री महापंडित राहुल साकृत्यायन, श्री रामवृक्ष वेनीपुरी, श्री नागार्जुन, श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' एव श्री हिमाशु श्रीवास्तव के नाम इन सम्बन्ध मे उल्लेखनीय हैं।

श्री राहुलजी तथा वेनीपुरीजी ने तो 'अगवाह', 'पोरसा', 'मुरेठा', 'लाल-भभूका', 'भोर' आदि अनेक ठेठ विहारी शब्दो का हिन्दी में प्रयोग किया है। इन लेखको की देखादेखी, आज अनेक उदीयमान लेखक भी विश्वास के साथ आचलिक शब्दो का प्रयोग करने लगे है। इधर हिन्दी मे एक नवीन उल्लेखनीय प्रवृत्ति यह भी आई है कि हिन्दी के नये लेखक कविता मे भारी-भरकम अप्रचलित शब्दो के स्थान पर वोलचाल के सरल शब्दो का प्रयोग करने लगे है। इसका परिणाम यह हुआ है कि एक ओर जहाँ हिन्दी-कविता बहुमुखी हुई है वहाँ दूसरी ओर इसके शब्द-भण्डार मे भी अभिवृद्धि हुई है। नवीन विषयो को नये छन्दो मे बाँधने के कारण कविता के रूप (फॉर्म) तथा विषय (कण्टेण्ट) दोनो मे नवीनता आई है।

एक बात और है। हिन्दी ज्यो-ज्यो भारत-व्यापिनी भाषा होती जायेगी त्यो-त्यो उसमे विविध क्षेत्रो के नये नये शब्द तथा मुहावरे आते जायेगे। अँग्रेजी वाक्य-विन्यास की शैली तथा उसके मुहावरो ने एक प्रकार से सभी भारतीय भाषाओ को एक सीमा तक प्रभावित किया है। प्रेमचन्द-जैसे हिन्दी के समर्थ लेखक तक ने कई स्थलो पर अँग्रेजी के मुहावरो का अनुवाद किया है, जैसे—"मैं फावड़े को फावडा कहूँगा।" भाषा के क्षेत्र मे यह प्रवृत्ति रोकी भी नहीं जा सकती। इसमें तनिक भी घवराने की आवश्यकता नही है। जब अँग्रेजी-जैसी समृद्ध भाषा सयुक्तराज्य अमेरिका की राज्य-भाषा बनी तो इसके रूप में अन्ततोगत्वा अन्तर आ ही गया। यूरोप तथा एशिया की विभिन्न भाषा वोलने वाली जब अनेक जातियो को अमेरिका का नागरिक बनकर राज्य-भाषा के रूप मे अँग्रेजी को स्वीकार करना पडा, तो इगलैंड मे प्रचलित परिनिष्ठित अँग्रेजी के रूप में परिवर्तन आना सर्वथा स्वाभाविक था। आज तो अमेरिकन-इगलिश के रूप मे एक सशक्त भाषा अस्तित्व में आ गई है। यद्यपि भविष्य के विषय मे कुछ भी कहना कठिन है, तथापि इतना तो सहज मे ही अनुमान किया जा सकता है कि जब भारत के सभी राज्य अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप मे हिन्दी का व्यवहार करने लगेगे तो इसके रूप मे एक हद तक निश्चित रूप से परिवर्तन होगा।

हिन्दी के विविध रूपो के इस सक्षिप्त सर्वेक्षण के पश्चात् यह आवश्यक है कि भाषावैज्ञानिक दृष्टि से हम हिन्दी की प्रकृति भी जान लें। मोटे तौर पर ससार मे हमे दो प्रकार की भाषाएँ मिलती हैं। इनमे से एक प्रकार की

भाषाएँ तो वे है जो अपने निजी प्रत्ययों से शब्दो का निर्माण करती है। ऐसी भाषाओ को हम निर्माण करनेवाली भाषा की सज्ञा दे सकते है। इनके विपरीत दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे भाषाएँ आती है जिनमे स्वत निर्माण की शक्ति नही होती और आवश्यकता पडने पर यह अन्य भाषाओ से शब्द उधार लेती हैं। इन भाषाओ को उधार लेनेवाली भाषाओ के नाम से अभिहित किया जा सकता है। यूरोप की भाषाओ मे जर्मन भाषा प्रथम के अन्तर्गत आती है और अँग्रेजी की गणना दूसरे के अन्तर्गत की जा सकती है। भारतीय भाषाओ में हिन्दी भी प्रथम वर्ग की भाषा है क्योकि अपने निजी प्रत्ययो से शब्द-निर्माण करने की इसमे अपूर्व क्षमता है। उदाहरणस्वरूप हम इसके दो प्रत्ययो 'आवट' तथा 'अक्कड' को ले सकते है। इन दोनो प्रत्ययो से हिन्दी के 'लिखावट', 'मिलावट', 'गिरावट' तथा 'भुलक्कड' 'घुमक्कड', एव 'पियक्कड' जैसे अनेक शब्दो का निर्माण होता है। नव्यभारतीय आर्यभाषाओ मे दूसरे वर्ग की भाषा बगला है, जिसमे ४५% से ५०% शब्द सस्कृत से तत्सम रूप मे उधार लिए गए हैं।

हिन्दी के विविध रूपो के समन्वय के लिए यह आवश्यक है कि उसकी प्रवृत्ति पर ध्यान देते हुए यथासम्भव ठेठ शब्दो का प्रयोग किया जाय। इससे सब से बडा लाभ यह होगा कि हिन्दी बोलचाल की भाषा के निकट आ जायेगी।

और तब वह जनसाधारण के लिए बोधगम्य बन जायेगी। इससे 'उच्च हिन्दी' तथा 'उच्च उर्दू' मे भी समन्वय होना प्रारम्भ हो जायेगा जिसे आज कुछ लोग असम्भव मानते हैं। उर्दू की सब से बडी कठिनाई यह है कि इसके प्राचीन साहित्य का सम्पूर्ण वातावरण बहुत-कुछ विदेशी है। इसकी लिपि भी इतनी दोषपूर्ण है कि इसमे स्वरो का निश्चित मूल्य नही है और व्यजन मे कई ध्वनियाँ अनावश्यक हैं। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि सस्कृत के साधारण-से-साधारण तथा हिन्दी के ठेठ शब्दो को उच्चारणानुसार लिखने में यह लिपि सर्वथा असमर्थ है; किन्तु भविष्य मे यह स्थिति रहनेवाली नही है। भारत ज्यो-ज्यो राष्ट्रीयता के पथ पर अग्रसर होता जायेगा, त्यो-त्यो विविध धर्मों, जातियो तथा क्षेत्रो के लोग निकट आते जायेंगे। इसका प्रभाव भाषा पर पडे बिना न रह सकेगा। उर्दू को हिन्दी के निकट लाने के लिए यह अत्यावश्यक है कि इसके समस्त वाड्मय को नागराक्षरो मे प्रकाशित किया जाय। इस शुभ कार्य का आरम्भ भी हो चुका है।

हिन्दी के विविध रूपो के समन्वय के लिए एक और आवश्यक बात यह है कि उत्तर भारत की विविध भाषाओ एव बोलियो, यथा—पजाबी, बाँगरू, खडीबोली, ब्रज, कन्नौजी, बुदेली, अवधी, बघेली, छत्तीसगढी एव राजस्थानी,

तथा विहार की विविध बोलियो के कोश तैयार किये जायें। इन भाषाओ की बोलियो मे अनेक ऐसे ठेठ भाव-व्यजक शब्द मिलेगे जिनके प्रयोग से हिन्दी के विविध रूपो मे समन्वय स्थापित करने मे सहायता मिलेगी। ऐसे कोशो के अभाव मे किसी को आज यह ज्ञात नही हो पाता कि हिन्दी के ठेठ (तद्भव) शब्दो का क्षेत्र कहाँ तक है। इसमे तनिक भी सन्देह नही है कि इन कोशों के निर्माण के बाद ऐसे अनेक श्रेष्ठ शब्द मिलेंगे जो पजाव से विहार तक प्रचलित है। आज लोग ऐसे शब्दो का प्रयोग करते समय इसलिए घबराते है कि वे इन्हे एकदेशीय एव क्षेत्रीय माने बैठे है। हिन्दी को सशक्त बनाने एव इसके विविध रूपो मे समन्वय स्थापित करने के लिए ऐसे कोशो का निर्माण अत्यावश्यक है। कतिपय विद्वानो के अनुसार हिन्दी के विविध रूपो मे समन्वय स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि इसके व्याकरण का सरलीकरण किया जाय। इन विद्वानो के अनुसार हिन्दी के अप्राणिवाचक शब्दो मे या तो लिगभेद मिटा दिया जाय अथवा प्रत्ययो के अनुसार उसे निर्धारित कर दिया जाय। उदाहरणार्थ—हिन्दी के अप्राणिवाचक अकारान्त शब्दो को पुल्लिग तथा इकारान्त वाचक शब्दो को स्त्रीलिग मान लिया जाय। आज की साधु हिन्दी मे भात पुल्लिग तथा दाल स्त्रीलिग है। और बोलते समय हम कहते है कि भात अच्छा है और दाल अच्छी है। किन्तु सरल हिन्दी मे कहना होगा कि भात अच्छा है और दाल भी अच्छा है।

ये विद्वान् यह भी चाहते हैं कि हिन्दी-व्याकरण की अन्य जटिलताओ को भी सरल बनाया जाय। उदाहरणार्थ साधुहिन्दी मे कहा जायेगा—'मैं आया', 'हम आये', 'तू आया', 'तुम आये', 'वह आया', 'वे आये'। स्त्रीलिग एकवचन में 'आई', वहुवचन मे 'आई', किन्तु सरलहिन्दी मे केवल एक ही रूप 'आया', चलेगा। इसी प्रकार जहाँ हम साधुहिन्दी मे कहते हैं—'मैंने भात खाया', 'मैंने रोटी खाई', 'मैने तीन रोटियाँ खाई'; (सस्कृत) 'मया भक्त खादितं', 'मया रोटिका खादिता', 'मया तिस्र रोटिका खादिता', वहाँ सरल हिन्दी में हम कहेंगे—"हम भात खाया', 'हम रोटी खाया', 'हम तीन रोटी खाया।'

एक बात और है। कतिपय राजनीतिज्ञ विदेशी भाषाओ, विशेषरूप से अँग्रेजी के अधिक-से अधिक शब्द हिन्दी मे ग्रहण कर इसे समृद्ध बनाने की बातें करते हैं। इसमे कोई हानि नही है। जिस प्रकार ससार मे कोई शुद्ध रक्तवाली जाति नही है उसी प्रकार कोई शुद्ध भाषा भी नही है। सस्कृत-जैसी भाषा मे भी 'मटची', 'होरा', एव 'कीचक' जैसे शब्द द्रविड, ग्रीक तथा चीनी भाषा से आए हैं। किन्तु किसी भी भाषा मे दूसरी भाषा से शब्द उधार लेते समय इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि उधार लिए गए शब्द उस

भाषा की प्रकृति एव गठन के अनुकूल हैं अथवा नही ? इसके साथ ही इस बात को भी स्मरण रखने की जरूरत है कि शब्दो को उधार लेने की भी एक सीमा होती है ।

जहाँ तक हिन्दी-व्याकरण के सरलीकरण का प्रश्न है, इसमे सन्देह नही कि ऊपर की प्रक्रिया द्वारा यह अत्यधिक सरल हो जायेगा और इसे एक पोस्टकार्ड पर लिखना सम्भव हो जायेगा । किन्तु इस सरलीकरण के परिणामस्वरूप हिन्दी, हिन्दी न रह जायेगी और उसकी प्रकृति के विरुद्ध इसमे भयानक परिवर्तन हो जायेगा । जहाँ तक भाषा मे परिवर्तन का प्रश्न है, यह ऐतिहासिक कारणो से स्वाभाविक ढग से होता है । किसी भी राजनीतिज्ञ, वैयाकरण अथवा भाषाशास्त्री को यह अधिकार नही है कि वह भाषा मे मनमाने ढग से परिवर्तन करे । वस्तुत. वैयाकरण एव भाषाशास्त्री का एकमात्र यह कार्य है कि वह भाषा-सम्बन्धी नियमो तथा भाषा की विश्लेषण-पद्धति का निर्माण करे । सच बात तो यह है कि किसी भाषा को रूप देनेवाले उसके लेखक होते है । वे ही भाषा को सरल, कठिन, स्वाभाविक एव अस्वाभाविक बनाते है । भाषा के विविध रूपो मे समन्वय स्थापित करने का कार्य भी लेखको द्वारा ही सम्पन्न होता है । हिन्दी के लेखक अपने उत्तरदायित्व को भलीभाँति जानते है और हिंदी के विविध रूपो मे समन्वय करने के लिए वे सचेष्ट भी हैं ।

● ●

हिन्दी भाषा-शिक्षा की समस्या

हिन्दी भाषा का विस्तार क्षेत्र ज्यो-ज्यो बढता जा रहा है, त्यो-त्यो उसके शिक्षण की समस्या भी विकट होती जा रही है। वास्तव मे भाषा का मुख्य कार्य विचारो का वहन करना है और जब तक उसका शुद्ध रूप मे उच्चारण न होगा तब तक श्रोता उसके पूर्ण भाव को ग्रहण न कर सकेगा। भाषा की शुद्धता सापेक्षिक वस्तु है। साधारणतया, किसी भाषा के बोलनेवाले शिष्ट लोगों का उच्चारण ही प्रामाणिक माना जाता है। इस प्रामाणिकता के साथ ही स्थान-विशेष का भी सम्बन्ध जुटा रहता है। यदि अँग्रेजी भाषा का उदाहरण ले, तो लंदन के शिष्ट जनो की भाषा ही प्रामाणिक अथवा मानक (स्टैण्डर्ड) मानी जाती है। इन शिष्ट जनो मे भी ब्रिटिश सविधान के अनुसार वहाँ के राजवश का सर्वोपरि स्थान है, अतएव वहाँ 'किंग्स' अथवा 'क्वीन्स' (राजा अथवा रानी) की भाषा ही मानक मानी जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक भाषा का मानकरूप निर्धारित किया जाता है।

भारतीय सविधान ने क्षेत्रीय भाषाओ के रूप मे चौदह भाषाओ को स्वीकार किया है। इसमे एक उर्दू भी है। बहुत पहले से ही यह बात निश्चित है कि दिल्ली एव लखनऊ के शिष्ट परिवार के लोग ही शुद्ध उर्दू बोलते है। यहाँ राजवशो की चर्चा मैंने इसलिए नही की, क्योकि अब वे समाप्त हो गये हैं। इसी प्रकार शुद्ध 'बगला' एव शुद्ध 'मराठी' क्रमश. पश्चिमी बगाल एव पुणे के शिष्ट परिवारो के लोग ही बोलते हैं। गुजराती, असमिया, उडिया, कश्मीरी, तमिल, तेलुग, मलयालम, कन्नड के भी मानकरूप इसी प्रकार निर्धारित हुए हैं। किन्तु हिन्दी का प्रामाणिक एव मानकरूप कहाँ बोला जाता है तथा इसके बोलने-वाले कौन लोग हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है और इस ओर अभी तक लोगो का ध्यान नही गया है। हिन्दी जन-भाषा है और इसके अनेक रूप हैं। इस दृष्टि से भारतीय भाषाओ मे इसका एक विशिष्ट स्थान है। अपने मूल स्थान उत्तरप्रदेश के अतिरिक्त यह हिमाचलप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार दिल्ली एव हरयाणा की साहित्यिक भाषा है। मातृभाषा के रूप मे, इन सभी प्रदेशो मे विभिन्न बोलियो का प्रयोग होता है, किन्तु इन प्रदेशों की शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही है। इसके अतिरिक्त कलकत्ता एव बम्बई के बाजारो मे भी अहिन्दी भाषा-भाषी हिन्दी माध्यम से ही अपना कामकाज करते हैं। इस रूप मे

यह व्यापारिक भाषा भी है। और देश के औद्योगीकरण के साथ-साथ इसके रूप का प्रचार एव प्रसार दिनोदिन बढ़ता जा रहा है। इस तरह हिन्दी के आज अनेक स्तर बन गये हैं —

(१) साहित्यिक स्तर,

(२) प्रादेशिक स्तर (बिहारी, राजस्थानी आदि),

(३) बाजारू स्तर।

एक ही भाषा मे इस प्रकार के स्तरो का होना अच्छा नही है, क्योंकि इस कारण से पारस्परिक बोधगम्यता मे बाधा पडती है। हिन्दी की विभिन्नताओ एव विविधताओ को दूर करके उसका एक मानकरूप देश के सामने लाना आज हिन्दीवालो का कर्तव्य है। आज विविध विश्वविद्यालयो मे पठन-पाठन के लिए हिन्दी का जो रूप है, वह बोलचाल की हिन्दी के रूप से पृथक् है और बाजारू हिन्दी से उसका और भी पार्थक्य है। आज इस बात की आवश्यकता है कि हिन्दी का एक मानकरूप निर्धारित किया जाये। यह प्रश्न कोई नया नही है। जब कोई भाषा किसी विशाल भूखड की भाषा बन जाती है तब स्वाभाविक रूप से उसके सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है। अँग्रेजी जब अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा एव भारत पहुँची तब उसे विशुद्ध रूप मे सुरक्षित रखने के लिए अनेक सस्थानो की स्थापना की गयी। अँग्रेज आज भारत से चले गए, फिर भी उसके शुद्धरूप को सुरक्षित रखने के लिए हमारी स्वदेशी सरकार ने हैदराबाद मे 'केन्द्रीय अँग्रेजी सस्थान' (सैण्ट्रल इस्टीट्यूट ऑफ इगलिश) की स्थापना की, जिसमे लाखो रुपये व्यय हो रहे हैं। अँग्रेजी भाषा की शुद्धता की रक्षा के लिए आज ब्रिटिश एव अमेरिकन सरकारें करोडो रुपये व्यय करती हैं। प्राचीनकाल मे भी इस प्रकार के उद्योग हुए हैं। ग्रीक भाषा का जब प्रचार एव प्रसार बढा तो मानक भाषा के रूप मे 'कोइने ग्रीक' को स्वीकृत किया गया। इसी प्रकार प्राचीन भारत मे जब सस्कृत का प्रचार प्रसार बढा तब उसकी सुरक्षा के लिए अथक परिश्रम किया गया। वेदो की भाषा को तो अनेक ब्राह्मण-परिवारो ने, अपना सर्वस्व त्याग करके, सुरक्षित रखा। भारत मे आज भी अनेक ऐसे ब्राह्मण-परिवार है जो वेदमत्रो का ठीक उसी रूप मे उच्चारण करते है, जिस रूप मे तीन हजार वर्ष पूर्व उनके पुरखे करते थे। विश्व की भाषाओ के इतिहास मे यह मिसाल बेजोड है। सस्कृत के प्रचार और प्रसार के कारण जब उसके उच्चारण और वैयाकरणीय रूपो मे विभिन्नता आने लगी तब महर्षि पाणिनि को 'अष्टाध्यायी' की रचना करनी पडी थी। उन्होने सस्कृत भाषा को अपनी इस अमूल्य कीर्ति द्वारा स्थायित्व प्रदान किया और उसकी रक्षा की। पाणिनि के इस व्याकरण का ही प्रभाव

है कि संस्कृत आज भी बहुत-कुछ अपने मूल रूप मे सुरक्षित है। पतंजलि ने तो महाभाष्य मे पाणिनि के एक सूत्र की व्याख्या करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि किस स्थान के निवासी बिना व्याकरण पढ़े हुए शुद्ध संस्कृत बोलते हैं। पतंजलि के अनुसार आर्यावर्त के ब्राह्मण शुद्ध एवं मानक संस्कृत बोलते हैं, किन्तु इन ब्राह्मणो मे भी प्रामाणिक संस्कृत वही बोलते है जो कुम्भीधान्य (मिट्टी के घडे मे अन्न रखनेवाले) अलोलुप एव अगृह्यमाण (जो किसी का दिया हुआ कुछ ग्रहण नही करते) है। ऐसे ब्राह्मण पाणिनि की अष्टाध्यायी पढे बिना ही शुद्ध संस्कृत बोलते है।

अर्वाचीन एवं प्राचीन भाषा-विषयक तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए, यह परमावश्यक है कि हम हिन्दी के मानकरूप के सम्बन्ध मे भी विचार करें। जब तक शिक्षा का सार्वजनीन रूप नही हुआ था और केवल उच्च एव शिष्ट परिवारो के व्यक्तियो तक ही वह सीमित थी तब तक हिन्दी के शुद्ध उच्चारण मे किसी प्रकार के स्खलन की आशंका न थी किन्तु जब से जन-गण का जागरण हुआ है, तब से सभी प्रकार के लोगो के लिए शिक्षा आवश्यक हो गयी है। प्रजातंत्र मे शिष्ट-अशिष्ट अथवा ऊँच-नीच की भावना के लिए स्थान नहीं है। इसका एक परिणाम हिन्दी भाषा के उच्चारण पर पडा है। किसी भी सभा मे युवको के भाषणो को सुनकर उच्चारण की भ्रष्टता सहजरूप मे ही अनुभव की जा सकती है। जिस प्रकार खोटा सिक्का खरे सिक्के को बाजार से निकाल देता है उसी प्रकार अशुद्ध उच्चारण भी शुद्ध उच्चारण को बहिष्कृत कर देता है। विदेशो मे अध्यापको को प्रशिक्षण के समय ध्वनिशास्त्र (फोनेटिक्स) एवं शुद्ध उच्चारण की नियमित रूप से शिक्षा दी जाती है। हमारे देश मे अँग्रेजी पढानेवाले अध्यापको को अँग्रेजी-ध्वनिशास्त्र की शिक्षा दी जाती है किन्तु हिन्दी अध्यापको को इस प्रकार की शिक्षा नही दी जाती और जहाँ दी भी जाती है, वह बहुत अपर्याप्त रूप मे है। प्रशिक्षण महाविद्यालय (ट्रेनिंग कॉलेज) के प्राध्यापको को अँग्रेजी-ध्वनिशास्त्र का अच्छा ज्ञान भले ही हो, किन्तु प्राचीन भारतीय आर्यभाषा-काल से आज तक हिन्दी-वर्णो के उच्चारण मे जो परिवर्तन हुए हैं उनका ज्ञान इन प्राध्यापकों को नही ही होता है। हिन्दीभाषा के गठन एव उसके रूप के सम्बन्ध मे भी सरकार की ओर से जो अध्ययन हुए है, उनका कोई विवरण अभी तक पुस्तक या लेख-रूप मे किसी प्रतिष्ठित पत्रिका मे प्रकाशित नही हुआ है। विश्वविद्यालयो मे अधिकांशत हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध मे ही अनुसन्धान कार्य होते है, किन्तु समग्ररूप से हिन्दी भाषा के भी विश्लेषण की आवश्यकता है, इस बात का अनुभव अभी तक विश्वविद्यालय के हिन्दी के प्राध्यापक नही कर पाये हैं।

एक कठिनाई और है। भाषा के क्षेत्र मे अनुसधान-कार्य करने के लिए साहित्य की अपेक्षा अनेक वर्षो के प्रशिक्षण एव अनुभव की आवश्यकता होती है। इस क्षेत्र मे हिन्दीभाषा वगला, मराठी, तमिल, तेलुगु आदि भाषाओ से बहुत पीछे है। इस स्थिति को ध्यान में रखकर तथा हिन्दीभाषा के प्रचार-प्रसार को विशेष गति देने के लिए कुछ ठोस कदम उठाने की आवश्यकता है। इनमे से पहला कार्य हिन्दीभाषा के अध्ययन के लिए एक सस्थान की आवश्यकता है। यह सस्थान, हैदराबाद के केन्द्रीय इगलिश सस्थान के अनुरूप होना चाहिए। इस सस्थान मे हिन्दी के मानक (स्टैण्डर्ड) उच्चारण को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। इसमें सन्देह नही कि मध्यदेश (दिल्ली और काशी के बीच) ही मे हिन्दी के मानक उच्चारण वाले व्यक्ति मिलेंगे। इस क्षेत्र के शिष्ट लोगो के भाषणो को टेप पर रेकर्ड करने की आवश्यकता है। स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' हिन्दी का उच्चारण बहुत शुद्ध रूप मे करते थे। सम्भवत रेडियो से उनके भी भाषण हमे प्राप्त हो जाये। अनेक शिष्ट जनो के भाषणों के रेकर्ड और विश्लेषण के बाद ही हम प्रत्येक वर्ण के उच्चारण-स्थान एव उनके उच्चारण प्रयत्न के सम्बन्ध मे पूर्ण विवरण देने मे समर्थ हो सकेगे। ध्वनियो के विश्लेषण के लिए आज अनेक मशीने भी बन गयी है। इनकी सहायता से प्रत्येक हिन्दी-सार्थक ध्वनि का गहन एव सूक्ष्म अध्ययन किया जा सकता है। इन अध्ययनो का परिणाम किसी पत्रिका मे प्रकाशित होना चाहिए। विविध प्रशिक्षण महाविद्यालयो के प्राध्यापको के लिए यह अनुसन्धान सुलभ होना चाहिए और धीरे-धीरे यह ज्ञान माध्यमिक एव प्राथमिक शालाओ के अध्यापको तक पहुँच जाना चाहिए। छात्र अपने अध्यापको के उच्चारण का ही अनुकरण करते है। इस प्रकार हिन्दी का मानक उच्चारण छात्रो तक पहुँच जायेगा। रेडियो एव सिनेमा को भी हिन्दी का यह मानक उच्चारण ग्रहण करना पडेगा, और इस प्रकार मानक-उच्चारण की समस्या हल हो जायेगी।

एक बात और है। हिन्दी के विविध क्षेत्रो मे उच्चारण-सम्बन्धी अशुद्धियो की भी जानकारी आवश्यक है। हिन्दी की लेखन-प्रणाली मे 'श्' 'ष्' एव 'स्' तीन पृथक् ध्वनियाँ है, किन्तु आजकल 'ष्' का शुद्ध उच्चारण लुप्त हो गया है। आभिजात्य वर्ग के लोग इसका 'श्' उच्चारण करते है किन्तु अन्य लोग इसे 'स्' रूप मे उच्चरित करते है। यह दूसरा उच्चारण शिष्ट वर्ग मे आदृत नही है। अतएव 'श्' उच्चारण को ही प्रचलित करने की आवश्यकता है। बिहार के कुछ क्षेत्रो मे 'र' और 'ड' मे उच्चारण-भेद नही है। उधर के अध्यापको एव छात्रो को इसका गहन ज्ञान कराना चाहिए। सच बात यह है कि आज हिन्दी भाषा जिन क्षेत्रो मे साहित्यिक रूप मे प्रचलित है, उन क्षेत्रो

मे प्रचलित बोलियो के भी सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता है। इस प्रकार के उच्चारण-सम्बन्धी अध्ययन को, मानक हिन्दी के उच्चारण के अध्ययन से, तुलना करके ही हम यह जान सकते है कि क्षेत्रीय बोलियो के हिन्दी-अध्येताओं को मानक उच्चारण सीखने मे वास्तविक कठिनाई क्या है।

यह तो हुई केवल हिन्दी क्षेत्र की बात। इसी प्रकार हमे भारत की अन्य चौदह भाषाओ से हिन्दी के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है। अन्य भाषा-भाषियों को मानक ध्वनि के सीखने में कहाँ कठनाई हो रही है, यदि यह ज्ञात हो जाये तो सहज मे ही उसका निराकरण किया जा सकता है। यही बात हिन्दी-व्याकरण के सम्बन्ध मे भी है। आज यह बात सर्वमान्य हो चुकी है कि प्रत्येक भाषा का अपना ढाचा एव स्वरूप होता है। हिन्दी-भाषा का भी अपना स्वरूप है। इस स्वरूप का ज्ञान उसके ध्वनिग्रामों, पदग्रामो एव वाक्यो मे पदो के स्थान के अध्ययन के आधार पर ही किया जा सकता है। वस्तुत इस अध्ययन के परिणामस्वरूप हिन्दी का एक मानक व्याकरण तैयार किया जा सकता है। अन्य क्षेत्रीय भाषाओं—बगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड आदि—के मानक व्याकरणों से हिन्दी के मानक व्याकरण की तुलना करके अन्य भाषा-भाषियो की कठिनाई को सहज मे ही समझा जा सकता है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा हिन्दी को समग्र देश के लिए सरल एव सुलभ बनाया जा सकता है। यह एक विचित्र विडम्बना है कि विदेशी भाषा के शुद्ध प्रचार एवं प्रसार के लिए तो यहाँ शोध-सस्थान की स्थापना की गयी है किन्तु जिस भाषा को हम राजभाषा एवं राष्ट्र-भाषा के रूप मे देश मे प्रचलित करना चाहते हैं, उसके शुद्ध औच्चा-रणिक एव व्याकरणिक रूपो के अध्ययन की कोई व्यवस्था नही है।

एक बात और उल्लेखनीय है। भाषा-शास्त्रियो ने भाषाओं के सिखाने की ऐसी प्रणाली का आविष्कार किया है, जिसके द्वारा कोई भी भाषा सहज ही मे अल्प समय मे सिखायी जा सकती है। यह एक विचित्र बात है कि विदेशी एव क्षेत्रीय भाषाओं के सिखाने मे इस नवीन ज्ञान का उपयोग हमारे देश मे नही किया जा रहा है। इसका कारण यह है कि विद्यालयो के प्राध्यापक नवीन प्रणाली से अनभिज्ञ हैं। अहिन्दी भाषी-क्षेत्र मे शीघ्र हिन्दी सिखाने के लिए तथा इसी प्रकार हिन्दी क्षेत्र में अहिन्दी क्षेत्र की भाषाएँ सिखाने के लिए नवीन प्रणाली का उपयोग किया जा सकता है।

• •

राष्ट्रभाषा-विषयक कतिपय प्रयोग

●

आज कतिपय विचारक तथा भाषाशास्त्री इस सिद्धान्त को नही मानते कि राष्ट्रीय एकता के लिए भाषा की एकता भी आवश्यक है। ऐसे लोग प्राय स्विट्जरलैण्ड का उदाहरण देते हैं। स्विटरजलैण्ड एक छोटा देश है किन्तु राष्ट्रभाषा के रूप मे वहाँ चार भाषाएँ—फ्रेंच, जर्मन, इतालीय तथा रैटो-रोमास-प्रचलित हैं। भाषा-सम्बन्धी इस विषमता के होते हुए भी स्विटजरलैंड एक राष्ट्र है। किन्तु इस अपवाद के वावजूद भी ससार के अधिकाश राष्ट्र राजनीतिक एकता के लिए भाषा-विषयक एकता को आवश्यक मानते हैं। उदाहरण के लिए हम सयुक्तराज्य अमेरिका को ले सकते है। यद्यपि यहाँ के विभिन्न राज्यो मे यूरोप तथा एशिया के अनेक राष्ट्रो—जर्मनी, फ्रास, स्पेन, रूस, चीन, जापान तथा भारत आदि—के लोग समय-समय पर आकर बस गये हैं, तथापि यहाँ राष्ट्रभाषा के रूप में केवल एकमात्र अँग्रेजी भाषा ही स्वीकृत है। अमेरिका के अन्तर्गत 'प्योर्टोरिको' तथा 'न्यूमेक्सिको', दो ऐसे क्षेत्र है जहाँ के लोगो की मातृभाषा स्पैनिश है, किन्तु यहाँ के लोग भी अँग्रेजी उसी रूप मे सीखते हैं जिस रूप मे अमेरिका के अन्य राज्यो के लोग। यदि किसी अमेरिका-निवासी से तर्क करते हुए आप यह कहें कि 'प्योर्टोरिको' मे मुख्यरूप से स्पैनिश तथा द्वितीय भाषा के रूप मे अँग्रेजी का पठन-पाठन होना चाहिए तो वह तुरन्त कह उठेगा—नही, प्योर्टोरिको अमेरिका का एक भाग है और अमेरिका का नागरिक होने के लिए मुख्यरूप से अँग्रेजी का ज्ञान आवश्यक है। अत प्योर्टो-रिको के लोगो को अँग्रेजी उसी रूप मे जाननी चाहिए जिस रूप मे अमेरिका के अन्य क्षेत्रो के लोगो को।[1] कदाचित् इस विवरण को पढकर कुछ लोग

---

[1]लेखक को एक दिन अपने एक जर्मन मित्र-प्रोफेसर की दो लड़कियो को विशुद्ध अँग्रेजी बोलते हुए सुनकर आश्चर्य हुआ। प्रोफेसर महोदय से पूछने पर ज्ञात हुआ कि उनकी ये लड़कियाँ एक ऐसे अच्छे अँग्रेजी स्कूल मे पढ़ती हैं जहाँ उच्चारण आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है। किन्तु वास्तविक कारण तो यह है कि इन लड़कियो के सामने प्रोफेसर महोदय अपनी पत्नी से कभी भी जर्मन नहीं बोलते तथा सदैव अँग्रेजी का ही प्रयोग करते हैं। उनका कहना है कि द्वितीय भाषा के रूप मे ये लडकियाँ जर्मन तो बाद मे सीख लेंगी किन्तु चूँकि वे अब अमेरिका के नागरिक हो चुके हैं अत. देश के विधान के अनुसार उनकी लड़कियो को, मुख्य रूप से, अग्रेजी का ज्ञान आवश्यक है। —लेखक

चौके और सोचे कि तब तो अमेरिका के लोग भाषा के मामले मे बड़े तानाशाह है, किन्तु उनकी यह धारणा निर्मूल होगी । आज अमेरिका के लोग ससार के विविध देशो की भाषाओ को सीखने मे जितने तत्पर हैं उतना, रूस को छोडकर कदाचित् किसी अन्य देश के लोग नही । आज आप अमेरिका के किसी भी विश्वविद्यालय मे चले जायँ, वहाँ आपको यूरोप तथा एशिया की सभी मुख्य भाषाओ के अध्यापक और अध्येता मिलेगे । वहाँ के कई विश्वविद्यालयो मे हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध है । जिस रूप मे यहाँ के लोग हिन्दी मे दिलचस्पी लेने लगे हैं उसे देखते हुए ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अगले दस वर्षो मे वहाँ के सभी विश्वविद्यालयो मे हिन्दी का प्रवेश हो जायेगा । इसके अतिरिक्त वहाँ के कतिपय विश्वविद्यालयो मे बगला, गुजराती, सिहली, तमिल तथा कन्नड की भी पढाई का प्रबन्ध है । विदेशी भाषाओ मे पहले वहाँ के लोग फ्रेच, जर्मन तथा स्पैनिश को पसन्द करते थे, किन्तु इधर लोग रूसी भाषा की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो रहे है । यहाँ पुन यह प्रश्न उठ सकता है कि जब अमेरिका के लोग विदेशी भाषाएँ सीखने मे इतने उदार हैं तो वे स्पैनिश भाषा के क्षेत्र मे अँग्रेजी को क्यो लादना चाहते हैं ? इसका सीधा उत्तर यह है कि विश्वमैत्री के लिए जहाँ अमेरिका के लोग यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका की विविध भाषाओ को सीखना चाहते है वहाँ आन्तरिक एकता के लिए वे अमेरिका के प्रत्येक नागरिक के लिए, मुख्यरूप से अँग्रेजी का ज्ञान आवश्यक समझते हैं ।

भाषा के सम्बन्ध मे लोगो मे सब से बडी भ्रान्ति यह है कि वे इसे नैसर्गिक वस्तु माने बैठे हैं । किन्तु वास्तविक बात यह है कि भाषा पूर्णतया सामाजिक वस्तु है । यहाँ स्वाभाविक रूप मे यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब भाषा समाज की चीज है तो जिसप्रकार हम समाज के नियत्रण या विकास के लिए अधिनियम अथवा कार्यक्रम (प्लान) बनाते है उसी प्रकार क्या हम भाषा की गतिविधि को परिचालित करने अथवा उसे परिनिष्ठितरूप देने के लिए कोई कार्यक्रम बना सकते हैं ? इसका उत्तर है, हाँ । और इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण यूरोप का नार्वे प्रदेश है । वहाँ राष्ट्रभाषा के रूप मे, एक परिनिष्ठित भाषा को विकसित करने का, राष्ट्रीय धरातल पर किस प्रकार प्रयत्न हो रहा है, यह एक दिलचस्प कहानी है ।

प्राय. चार शताब्दियो तक डेनमार्क की अधीनता में रहने के पश्चात्, सन् १८१४ ई० मे नार्वे स्वतत्र हुआ । स्वतत्रराष्ट्र के रूप मे नार्वे के निवासी अपने उस सांस्कृतिक सूत्र की खोज मे सलग्न हुए जिससे वे मध्ययुग मे ही विछिन्न हो चुके थे । राष्ट्रीय व्यक्तित्व के अनेक प्रतीको मे उन्हे सर्वप्रथम नार्वेजियन

भाषा का सूत्र हाथ लगा। स्वतन्त्रता के जोश में चारो ओर से आवाजे आई— नार्वेजियन भाषा का उद्धार करो। बात यह थी कि यद्यपि नार्वे की भाषा डेनमार्क की भाषा से भिन्न थी तथापि वर्षो की परतन्त्रता के कारण, शिष्टभाषा के रूप मे नार्वे मे डैनिश भाषा ही प्रचलित हो गई थी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय नार्वे की भाषा-विषयक समस्या इस प्रकार थी —

(१) डेनमार्क से आकर नार्वे मे बसे हुए सरकारी कर्मचारी तथा व्यापारी प्राय. डैनिश भाषा का ही प्रयोग करते थे। रगमच की भाषा भी डैनिश ही थी क्योकि पात्र प्राय डेनमार्क के ही होते थे।

(२) परिनिष्ठित साहित्यिक-भाषा के रूप मे डैनिश भाषा ही प्रचलित थी, यद्यपि इस पर नार्वेजियन भाषा के उच्चारण का स्पष्ट प्रभाव था। यही भाषा स्कूली शिक्षा के लिए भी स्वीकृत थी।

(३) डैनिश भाषा का एक साधारण परिनिष्ठित रूप भी था जिसका व्यवहार सरकारी कर्मचारी करते थे। भाषा के इस रूप पर भी नार्वेजियन उच्चारण का प्रभाव था।

(४) विभिन्न नगरो में जो डैनिश भाषा प्रचलित थी उस पर पडोस की नार्वेजियन भाषा का अत्यधिक प्रभाव था।

(५) विभिन्न क्षेत्रो मे स्थानीय बोलियाँ प्रचलित थी। रगमच की भाषा तथा इन क्षेत्रीय बोलियो मे इतना अधिक अन्तर था कि ये परस्पर दुर्बोध्य थी।

भाषा-सम्बन्धी इस विकट समस्या को सुलझाने के लिए १९वी शताब्दी के मध्य मे दो व्यक्तियो ने प्रयत्न किया इनमे से एक कुड् कुडसेन (Knud Knudsen सन् १८१२ से १८९५ ई०) थे। आपका जन्म गाँव मे हुआ था तथा आप एक साधारण स्कूल के अध्यापक थे। आपने लिखित डैनिश भाषा को बोलचाल की डैनिश नार्वेजियन भाषा के निकट लाने का आन्दोलन किया। आप समझते थे कि इस प्रकार धीरे-धीरे अन्त मे, नार्वेजियन भाषा डैनिश भाषा का स्थान ग्रहण कर लेगी। सन् १८५६ ई० मे आपने इस भाषा का व्याकरण लिखा, तथा सन् १८८१ ई० मे एक कोश भी तैयार किया जिसमे विदेशी शब्दो के स्थान पर देशी शब्दो को रखा। भाषा-विषयक दूसरे आन्दोलनकर्त्ता इवार आसेन (Ivar Aasen सन् १८१३ से १८९६ ई०) नामक एक स्वयं शिक्षित किसान थे। आपने नार्वेजियन ग्रामीण भाषा को प्रतिष्ठापित करने का आन्दोलन किया। आपने सन् १८६४ ई० मे इस भाषा का व्याकरण तथा सन् १८७३ ई० मे इसका कोश लिखा। आपने इसका नामकरण लैंड-मल अथवा ग्रामीण भाषा किया।

दोनो आन्दोलनकर्ताओं का अन्तिम लक्ष्य यद्यपि नार्वेजियन भाषा की प्रतिष्ठा थी किन्तु दोनो के ढग अलग-अलग थे। इनमे से कुद्सेन तो क्रमशः सुधार के पक्ष मे थे किन्तु आसेन क्रान्तिकारी सुधारवादी थे। चूकि दोनो का अन्तिम ध्येय एक था, अत सन् १८८४ मे जब वामपक्षीय उदार राष्ट्रीय दल की विजय हुई तो उन्होने दोनो के विचारो का स्वागत किया। सन् १८८५ ई० मे नार्वे की सरकार ने आसेन 'लैंडमल' को डैनिश भाषा के बराबर स्थान दिया तथा इसके दो वर्ष बाद स्कूल के अध्यापको को इस बात का आदेश दिया कि बालको को पढाते समय वे डैनिश की उच्चारण-पद्धति का परित्याग कर कुद्सेन द्वारा आविष्कृत डैनिश-नार्वेजियन पद्धति को अपनाये। इस आज्ञा के बाद से इन दोनो भाषाओ मे एक विचित्र प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न हो गयी क्योंकि जनता मे दोनो के पक्षपाती मौजूद थे। इधर सन् १९५१ ई० मे नार्वे-सरकार ने भाषा-विषयक इस समस्या को सुलझाने के लिए इन दोनो भाषाओ के १५-१५ प्रतिनिधियो के एक बोर्ड का निर्माण किया है जिसमे विश्व-विद्यालयो तथा स्कूलो के अध्यापक, लेखक एव सम्पादक है। इनकी सहायता तथा भाषा-सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए इस बोर्ड में दो भाषा-शास्त्री भी हैं। बोर्ड के सदस्य नियमित रूप से कार्यालय मे मिलते हैं, तथा सरकारी आदेश से दोनो भाषाओं के समन्वय से नार्वे के लिए राष्ट्रभाषा का निर्माण कर रहे हैं।

अरब राष्ट्रो तथा इजराइल मे जो मनमुटाव है उससे भारत के लोग प्राय परिचित है। संसार के राष्ट्रो मे इजराइल नया है। इसने अपनी राष्ट्रभाषा आधुनिक हिब्रू कैसे प्राप्त की, यह भी एक रोचक कहानी है। इसके पूर्व, सक्षेप मे, इजराइल का इतिहास जानना आवश्यक है। वस्तुत इजराइल के निवासी, यहूदी, संसार की सर्वाधिक विताडित जातियो मे से है। आज से शताब्दियो पूर्व, उस जाति के लोगो को अपना मूल स्थान फिलिस्तीन (पैलेस्टा-इन) छोडकर पूर्वी यूरोप मे बसना पडा था। इनकी मूल भाषा हिब्रू थी, जिसका सम्बन्ध सामी परिवार की अरबी से है। यद्यपि अपने धार्मिक कृत्यो मे यहूदी लोग हिब्रू का प्रयोग करते थे किन्तु बोलचाल की भाषा के रूप मे ये 'यिडिश' का व्यवहार करते थे। वस्तुतः 'यिडिश' जर्मन की एक उपभाषा है जो १५वी शताब्दी मे मूल भाषा से विच्छिन्न होकर अस्तित्व मे आयी। यहूदी लोगो ने इसे लिखने के लिए गाथिक अथवा रोमन लिपि के बजाय हिब्रू लिपि को ही अपनाया। हिब्रू की, अरबी की भाँति ही, अपनी लिपि है, जो दाएँ से बाईं ओर लिखी जाती है। मध्ययुग मे, यहूदी लोग, यूरोप की सामन्त-वादी परम्परा मे विलीन हो जाने के लिए तत्पर थे, किन्तु यूरोप के सामन्त उन्हे अपने मे सम्मिलित करने के लिए तैयार न हुए। इधर ईसाई लोगो मे

इनके प्रति इतनी अधिक घृणा थी कि समय-समय पर इन्हे एक देश से निष्कासित होकर दूसरे देश मे जाना पडा। इस परिस्थिति का दु खद परिणाम चाहे जो कुछ रहा हो, किन्तु इसका सुखद पक्ष यह रहा कि इसने यहूदी जाति को नितान्त आत्मनिर्भर बना दिया। इसका शुभ परिणाम यह हुआ कि ज्ञान के क्षेत्र मे यहूदी लोग ससार के उत्कृष्टतम लोगो की श्रेणी मे आ गये और इस जाति ने कार्लमार्क्स जैसा विचारक तथा आइन्स्टाइन जैसा गणितज्ञ पैदा किया। आज भी यूरोप तथा अमेरिका मे, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे, यहूदी लोग अग्रगण्य है।

फ्रास की राज्यक्रान्ति के बाद यहूदी लोगो को इस बात की आशा हुई कि कदाचित् ईसाई राष्ट्र उन्हे अपने मे सम्मिलित कर ले क्योकि इस राज्य-क्रान्ति का आरम्भ समानता, एकता तथा भ्रातृभाव के नारो से हुआ था। किन्तु अन्त मे उन्हे निराश होना पडा। इसकी प्रतिक्रिया मे यहूदी लोगो मे 'जिओनिस्ट' आन्दोलन चल पडा जिसका नारा यह था कि अपने मूल स्थान फिलिस्तीन चलो। कतिपय उत्साही छात्र एव युवक फिलिस्तीन गये भी। वहाँ ये पारस्परिक व्यवहार मे यिडिश भाषा का ही व्यवहार करते थे। इसी बीच सन् १९१४ ई० का विश्व का प्रथम महायुद्ध आ पहुँचा। इस युद्ध मे यहूदी लोगों ने अँग्रेजो का साथ दिया तथा वे तुर्कों के विरुद्ध इस युद्ध मे लडे भी। इनके एक बडे विज्ञानी 'खाइम लाइट्जमैन' ने युद्धकाल मे अँग्रेजो के लिए अनेक लाभदायक अनुसन्धान भी किये। इसका परिणाम यह हुआ कि अँग्रेजो ने यहूदी लोगो को फिलिस्तीन देने का वादा किया, किन्तु वे इसे पूरा न कर सके। अन्त मे सन् १९४८ ई० मे, सयुक्तराष्ट्र ने, जनसख्या के आधार पर, फिलिस्तीन को, अरब तथा यहूदी लोगो मे विभाजित कर दिया। इस प्रकार इजराइल राष्ट्र अस्तित्व मे आया।

इजराइल राष्ट्र के अस्तित्व मे आने के बाद, फिलिस्तीन मे, यूरोप तथा अमेरिका मे यहूदियो के दल पहुँचने लगे। इनमे से यू रोप के यहूदी तो यिडिश बोलते थे किन्तु अन्य स्थानो से आये हुए लोग इससे अपरिचित थे। अतः स्वाभाविक रूप मे इनके सामने यह प्रश्न आया कि इजराइल की राष्ट्रभाषा क्या हो? कतिपय लोग 'यिडिश' के पक्ष मे थे किन्तु अन्य लोग हिब्रू के पक्षपाती थे। इस प्रकार राष्ट्रभाषा के प्रश्न को लेकर इजराइल मे घोर विवाद छिड गया। हिब्रू के सम्बन्ध मे सब से बडी कठिनाई यह थी कि धार्मिक कृत्यो के अतिरिक्त यह दैनिक-जीवन की भाषा न थी। यह बात दूसरी थी कि कतिपय यहूदी लेखक अपनी कृतियो मे इसका व्यवहार करते थे। ऐसे लेखको मे 'यलिएज़रमेन यहूदा' अग्रगण्य था। वह हिब्रू का घोर पक्षपाती था। वह फिलि-

स्तीन गया और उसने प्रतिज्ञा की कि वह अपने परिवारवालो तथा मित्रो से हिब्रू के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा मे वार्तालाप न करेगा। यलिएज़रमेन यहूदा का यह रुख लोगो को पसन्द आया तथा उसके विचार के पोषको की सख्या मे अभिवृद्धि हुई। वाहर से आये हुए यहूदी पति-पत्नी भी टूटी-फूटी हिब्रू मे ही अपने विचार प्रकट करने लगे। वच्चों के सामने वे हिब्रू के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा का व्यवहार न करते थे। उधर स्कूलो मे भी हिब्रू पढाई जाने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रभाषा के रूप मे, इजराइल मे, हिब्रू भाषा प्रचलित हो गयी। इसमे कुछ समय लगा। उधर आरम्भ मे कतिपय वर्षों तक मुख्य राजभाषा के रूप मे अँग्रेजी तथा सहायक भाषाओं के रूप मे हिब्रू तथा अरवी व्यवहृत होती रही; किन्तु जैसे-जैसे लोगो मे राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक भावना आती गयी वैसे-वैसे हिब्रू भाषा प्रतिष्ठापित होती गयी। इस प्रकार केवल दस वर्षों (१९४८-१९५८) के वीच ही, हिब्रू, इजरायल की समर्थ राष्ट्रभाषा वन गयी। आज वह प्राइमरी से लेकर विश्व-विद्यालय तक की शिक्षा का माध्यम है। अव यिडिश के प्रति भी लोगो का द्वेष नही है क्योकि वह हिब्रू की प्रतिस्पर्धी भाषा नही। यह सच है कि हिब्रू मे आधुनिक विज्ञान के शब्दो का अभाव है और उसका साहित्य भी विशाल नहीं है, किन्तु यहूदी जाति प्राणवान् तथा शक्तिशाली है; जिस प्रकार अपने परिश्रम के स्वेद से उन्होने, रेगिस्तान मे, इजराइल की भूमि को हरा-भरा वनाया है, उसी प्रकार वे हिब्रू भाषा को महान् वनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। अव यहाँ राष्ट्रभाषा के सम्वन्ध मे न तो कोई विवाद है और न कोई विरोध। यहाँ भी पारिभाषिक शब्दो के गढने मे विद्वानो को काफी कठिनाई है, किन्तु हिब्रू भाषा की प्रकृति के अनुकूल ऐसे शब्द वनते जा रहे हैं। अँग्रेजी का 'मशीन' शब्द हिब्रू ध्वनि के अनुसार 'मेखाना' वन गया है, और विजली के लिए तो हिब्रू का अपना शब्द 'खश्मल' है। पाठ्य-पुस्तको मे, कभी-कभी लेखक एक ही शब्द के लिए विभिन्न पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग करते हैं, किन्तु कुछ ही दिनो मे, घिस-पिटकर, इनमे से एक शब्द सर्वमान्य वन जाता है।[1]

●●

---

[1]इस लेख की नार्वे-भाषा सम्वन्धी सामग्री प्रो० एनार हौगन के एक अप्रकाशित लेख तथा हिब्रू भाषा-सम्वन्धी सामग्री मित्रवर श्री लिओनार्डग्लैशियर से प्राप्त हुई है। श्री ग्लैशियर पेन्सिलवानिया वि० वि० में पीएच० डी० के छात्र हैं। लेखक इन सज्जनों का आभारी है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी : कुछ विचार

●

हिन्दी आज सकटकाल मे होकर गुजर रही है। बुझते हुए दीपक की लौ की तरह अपने अँग्रेजी-भक्त देशवासी मृतप्राय अँग्रेजी को सजीवनी देने का पूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं। जिस प्रकार अराष्ट्रीय मनोवृत्ति के लोगो ने गाधीजी के जन-आन्दोलन का विरोध किया था, उसी प्रकार की मनोवृत्ति के लोग जन-भाषा हिन्दी एव भारतीय भाषाओ का विरोध कर रहे हैं तथा जिस प्रकार के लोग इस देश मे अँग्रेजो के वने रहने मे ही राष्ट्र का कल्याण समझते थे उसी प्रकार की मनोवृत्ति के लोग विदेशी भाषा अँग्रेजी के वने रहने मे ही देश का हित समझते हैं। इनका भारतीयता एव राष्ट्रीयता के प्रति तनिक भी मोह नही है।

जिस समय भारत का सविधान वना था उस समय सद्यः प्राप्त स्वतन्त्रता के कारण देश मे राष्ट्रीयता की भावना प्रवल थी। जो अँग्रेजी और हिन्दुस्तानी के समर्थक थे, वे उस समय हतप्रभ थे। वस्तुत स्वाधीनता-संग्राम केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता मात्र के लिए नही लडा गया था, यह 'स्वदेश' का, 'राष्ट्रीयता' का एव आत्म-सम्मान का प्रश्न था। महात्मा गाधी का स्वाधीनता-संग्राम केवल राजनैतिक स्वतत्रता तक ही सीमित नही था, अपितु उसका सम्बन्ध स्वदेशी वस्त्रो के प्रयोग, राष्ट्रभाषा हिन्दी की स्थापना, अँग्रेजी सभ्यता, एव विदेशी वस्त्र एव भाषा के वहिष्कार से था। वस्तुत. भारतीय सस्कृति के उत्थान एव भारत मे नवजागरण के इतिहास के साथ राष्ट्र-भाषा हिन्दी के विकास का इतिहास भी सम्बद्ध है। प्रार्थना-समाज एव स्वामी दयानन्द सरस्वती का आर्यसमाज आदि सस्थाओ की ओर से हिन्दीभाषा का प्रचार होता था। वाद को भारतीय स्वतत्रता-सग्राम के उदय के साथ ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा की स्वीकृति मिली। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी डॉ० पाडुरग सदाशिव खानखोज ने सन् १९०० ईस्वी में अँग्रेजी शृखला से देश को मुक्त करने के लिये निर्मित 'वाल वाधव समाज' के वारे मे लिखा है—

"हम लोगो के मन मे परराज्य के प्रति घृणा और स्वातत्र्य के लिए प्रेम था। इसका परिणाम 'वाल वाधव समाज' के रूप मे हुआ और अँग्रेजी शृखला से भारत को मुक्त करने का ध्येय इस 'वाल वाधव समाज' का हुआ। सन् १९०० में वाधव समाज की शाखाये नागपुर, वर्धा, अमरावती, यवतमल

आदि महाराष्ट्र के अन्य शहरो मे स्थापित हुई। और कुछ दिनो मे वगाल मे कलकत्ता, पंजाव मे लाहौर वगैरह शहरो मे ये शाखाये पहुँची। वहाँ पर कार्य वढने लगा, इस कार्य को करते-करते यह विश्वास दृढ हो गया कि हिन्दी ही एकमात्र राष्ट्रभापा है और राष्ट्र-कार्य के लिए सव से सुलभ साघन है। लाहौर और गुरुकुल कागड़ी मे गुप्तरूप से वाल वाघव समाज की शाखाये स्थापित हुई और वहाँ पर हिन्दी भाषा के जरिये हम लोगो के कार्य का प्रचार शुरू हुआ। लाला हमराजजी, भाई परमानन्दजी, लाला लाजपतरायजी, सूफी अम्वाप्रसाद जी, अजीतसिंहजी आदि देशभक्तो एवं क्रान्तिकारियो का हमारे इस गुप्त कार्य मे सम्पूर्ण सहयोग मिलने लगा।" इस प्रकार सम्पूर्ण भारतवर्ष की राष्ट्रभापा हिन्दी होने के कारण यह सव से अच्छा सुलभ साघन था। इस प्रकार वाघव समाज, अनुशीलन समिति और अन्य क्रान्तिकारी संस्थाएँ एक दूसरे से ऐसे समय मिलकर परिचय वढाया करती थी और सुलभ मार्ग से हिन्दी भापा का प्रचार वढता था।

समय-समय पर वगाल के सभी राष्ट्र-प्रेमी एव मनीपियो ने यह घोषणा की थी कि भारत मे एक ऐसी राष्ट्रभापा की आवश्यकता है जो सम्पूर्ण भारत मे एकता ला सके तथा वह भापा हिन्दी ही हो सकती है। वगाल के समस्त नेताओ एव समाज-सुधारको ने यह आवाज वुलन्द की थी। माइकेल मधुसूदनदत्त राजा राममोहन राय, महान् साहित्यकार श्री वकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, न्यायमूर्ति शारदाचरण तथा महान् नेता सुभापचन्द्र वोस आदि सभी ने हिन्दी को राष्ट्र-भापा के रूप मे प्रतिष्ठित करने के सवध मे एक स्वर से अपनी वाणी मुखरित की थी। देवनागरी लिपि के प्रेमी, न्यायमूर्ति शारदाचरण ने कहा था—"हिन्दी समस्त आर्यावर्त की भापा है—यद्यपि मैं वगाली हूँ तथापि मेरे दफ्तर की भापा हिन्दी है। इस वृद्धावस्था मे मेरे लिए वह गौरव का दिन होगा जिस दिन मैं हिन्दी मे स्वच्छता के साथ वोलने लगूँगा और प्लेटफार्म के ऊपर खडा होकर हिन्दी मे वक्तृता दूँगा। उसी दिन मेरा जीवन सफल होगा जिस दिन मैं सारे भारतवासियो के साथ-साथ हिन्दी मे वार्तालाप करूँगा।"

भारत के महान् सपूत नेताजी सुभापचन्द्र वोस ने इस वारे मे कहा था—'सब से पहले मैं एक गलतफहमी दूर कर देना चाहता हूँ। कितने ही सज्जनो का ख्याल है कि वगाली लोग या तो हिन्दी-विरोधी होते हैं या उसके प्रति उपेक्षा करते हैं। यह वात भ्रमपूर्ण है और इसका खडन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। मैं व्यर्थ अभिमान नही करना चाहता, पर इतना तो अवश्य कहूँगा कि हिन्दी साहित्य के लिए जितना कार्य वगालियो ने किया है, उतना हिन्दी-भाषी प्रान्तो को छोडकर और किसी प्रान्त के निवासियो ने शायद ही

किया हो। मैं इस वात को मानता हूँ कि वगाली लोग अपनी मातृभाषा से एकान्त प्रेम करते हैं और यह कोई अपराध नही है। शायद हममे से कुछ ऐसे आदमी भी है जिन्हे इस वात का डर है कि हिन्दीवाले हमारी मातृभाषा वगला को छुडाकर उन पर हिन्दी रखवाना चाहते हैं, यह भ्रम भी निराधार है। हिन्दी-प्रचार का उद्देश्य यही है कि जो काम अँग्रेजी से लिया जाता है वह आगे चलकर हिन्दी मे लिया जाय।"

सन् १९०१ से १९१० के वीच का इतिहास वस्तुत. भारतीय नवजागरण का इतिहास है। इसी समय में लॉर्ड कर्जन ने वग-भग किया जिसके कारण वगाल मे 'स्वदेशी आन्दोलन' का सूत्रपात हुआ। इस युग मे राष्ट्रीयता की जो लहर उठी उसने राष्ट्रभापा की ओर भारतीय तरुणो का ध्यान आकर्षित किया और उसके फलस्वरूप राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी राष्ट्रीयता का अविभाज्य अग वनने लगी। उत्तरी भारत मे हिन्दी को समुन्नत करने तथा उसे राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करने का आन्दोलन चल पडा। कचहरियो एव सरकारी कार्यालयो में उत्तरभारत की जनता की मातृभापा हिन्दी को उचित स्थान प्राप्त कराने के लिए महामना प० मदनमोहन मालवीयजी ने आन्दोलन छेडा। इस कार्य में राष्ट्रकर्मी वावू पुरुषोत्तमदासजी टडन ने भी मालवीयजी की महायता की। सन् १८९३ मे स्थापित नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने भी इस आन्दोलन मे मालवीयजी का हाथ वँटाया। आगे चलकर, १० अक्टूवर सन् १९१० को हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई।

सन् १९१४ मे गाधीजी दक्षिणी अफरीका से भारत आए। एक वार उन्होंने वावू पुरुषोत्तमजी टडन को अपने एक पत्र मे लिखा—"मेरे लिए हिन्दी का प्रश्न तो स्वराज्य का प्रश्न है।" महात्मा गाधीजी की प्रेरणा से सम्मेलन के तत्त्वावधान मे दक्षिण मे हिन्दी का प्रचार-कार्य आरम्भ हुआ और 'दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा' की नीव पडी। उस समय राष्ट्रपिता महात्मा गाधीजी की वाणी गूँज उठी थी—"मुझे पक्का विश्वास है कि किसी दिन द्रविड भाई वहन गम्भीर भाव से हिन्दी का अभ्यास करने लग जायेंगे, हम हिन्दी के जरिये ही दूसरी प्रान्तीय भापाओ से परिचय प्राप्त कर मकते हैं, उनकी उन्नति कर मकते है। मैं आप से प्रार्थना करता हूँ कि आप हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भापा वनने का गौरव प्रदान करे। हिन्दी मव समझते हैं।"

उसी समय उन्होंने एक हुकार भरी थी—"यदि मैं तानाशाह होता तो विदेशी माध्यम द्वारा शिक्षा तुरन्त वन्द कर देता, जो अध्यापक उस परिवर्तन के लिए तैयार न होते उन्हे वर्खास्त कर देता, पाठ्य-पुस्तको के तैयार किये जाने का इन्तजार न करता।"

गाधीजी ने सर्वप्रथम हिन्दी का प्रचार दक्षिण भारत मे आरम्भ किया और राजाजी के घर को हिन्दी-प्रचार का केन्द्र बनाया था। दक्षिण की राष्ट्रीय ऐक्य भावना राष्ट्रभाषा हिन्दी से जागृत हुई। गाधीजी ने हिन्दी के ही सहारे सम्पूर्ण भारत मे भ्रमण किया। आवश्यकतानुसार उनके हिन्दी भाषणो का अनुवाद प्रादेशिक भाषाओ मे हो जाता था। बाद में सारे नेताओ ने हिन्दी का सहारा लिया और कांग्रेस की प्रधान भाषा हिन्दी मानी जाने लगी।

जिस समय सविधान बनाया गया था उस समय देश मे स्वतत्रता-आन्दोलन की गर्मी थी। यद्यपि अँग्रेजी-प्रेमी उस समय भी हिन्दी के विरोधी थे, तथापि उस समय जनमत हिन्दी के पक्ष मे इतना था कि वे बोल न सके। किन्तु सविधान स्वीकृत होने के पश्चात् राष्ट्रीय जोश क्रमश ठण्डा पडता गया तथा दृष्टि प्रान्तवाद, भाषावाद एव व्यक्तिगत स्वार्थो तक सीमित होती गयी।

स्वतत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भले ही किन्ही स्वार्थो के वशीभूत होकर अथवा विभ्रम मे पडकर राजाजी आज हिन्दी का विरोध करे, किन्तु भारत मे जब राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था उस समय उनके हृदय मे आज की भाँति प्रादेशिकता का उन्माद नही था, राष्ट्रीयता की पवित्र भावना थी, इसी कारण उस समय उन्होने कहा था—

"यदि हम प्रजातत्र को उसके वास्तविक रूप मे देखने की अभिलाषा रखते है तो व्यापक निमत्रण को वास्तविक बनाने के लिए राज्य की एक ऐसी भाषा होनी चाहिए जो जनता के बहुत बडे भाग द्वारा बोली तथा समझी जाती हो। केन्द्रीय सरकार तथा कानून की भाषा और प्रान्तीय सरकारो के तथा भारत सरकार के साथ परस्पर व्यवहार की भाषा हिन्दी अवश्य ही होगी। शिक्षा के मामले मे यदि हमे शक्ति के अपव्यय को रोकना है और सम्पूर्ण पीढी को दडित होने से बचाना है तो हमे कुछ ही वर्षों मे वस्तु का पूर्व ज्ञान कर लेना चाहिए। अत. वर्तमान पीढी के लडके को हिन्दी तुरन्त ग्रहण कर लेनी चाहिए, चाहे वह उनके विद्यालय के पाठ्यक्रम मे पढाई जाती हो अथवा नही।"

सविधान बनने के बाद हमारी सरकार को इस बात की तैयारी करनी थी कि सम्पूर्ण कार्य धीरे-धीरे हिन्दी में होने लगे तथा १९६५ तक इस स्थिति मे पहुँच जाये कि सम्पूर्ण राजकाज केवल हिन्दी मे ही हो सके। किन्तु वह ऐसा न कर सकी। हमारे नेता, जो राष्ट्रीय आन्दोलन मे स्वराज्य की बात कहते थे, राष्ट्रीयता की बात कहते थे, शासन हाथ मे आते ही सब भूल गये। अँग्रेजी-परस्त अफसर ही शासन करते रहे। ये नेतागण उनके हाथो की कठपुतली बने रहे। केन्द्र मे हिन्दी-विरोधी और अँग्रेजी के अनन्य भक्त सत्ताधारियो का प्रभाव बढता गया। भारतीय सविधान मे हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर

लेने के अनन्तर देश के प्रशासनिक क्षेत्रो मे हिन्दी की जो प्रगति होनी चाहिए थी वह स्वल्पांश मे भी न हो सकी। इन्ही सब परिस्थितियो के बीच, अन्ततोगत्वा अप्रैल १९६३ मे श्री लालबहादुर शास्त्री ने ससद मे १९६५ के बाद भी अँग्रेजी को राजकाज की भाषा बनाए रखने के लिए राजभाषा सम्बन्धी विधेयक रखा।

श्री शास्त्रीजी का यह कार्य प्रधानमंत्री श्री नेहरू की इच्छा के अनुकूल ही था। यद्यपि हिन्दी राज्यो ने इसका समर्थन नही किया, फिर भी राष्ट्रीय एकता के नाम पर वे चुप रहे। सविधान के अनुसार सन् १९६५ तक सम्पूर्ण देश का सभी कार्य हिन्दी मे होना चाहिए था, किन्तु ऐसा न हो सका। अहिन्दी भाषा-भाषियो को भूतपूर्व प्रधानमत्री स्वर्गीय नेहरू ने यह आश्वासन दिया था कि अहिन्दी, भाषी राज्य केन्द्र से अँग्रेजी में पत्र व्यवहार कर सकते है। इसी आश्वासन की पुष्टि श्री लालबहादुर शास्त्री ने भी की। किन्तु इन स्पष्ट घोषणाओ के बावजूद दक्षिण में हिन्दी-विरोध की आड मे जो ध्वसात्मक एव हिंसापूर्ण कार्य हुए है वे सभी लोगो को ज्ञात हैं। जिन लोगो ने यह कार्य किया है अथवा जिन व्यक्तियो या दलो ने ऐसे कार्य करने के लिए भोली-भाली जनता को उत्तेजित किया है, निश्चित ही वे अराष्ट्रीय प्रवृत्तियो के लोग हैं। आज भाषा के प्रश्न को लेकर सम्पूर्ण देश की मन स्थिति मे तनाव आ गया है। हिन्दी-विरोधी कृत्यो पर सन्त विनोबाजी इतने क्षुब्ध हुए कि उन्होंने अनिश्चित काल तक के लिए उपवास का व्रत ले लिया। जब उनको तीन शर्तें केन्द्रीय सरकार एव राज्य के सभी मुख्यमत्रियो ने मान ली तभी उन्होंने अपना उपवास तोडा है। उनकी तीन शर्तें इस प्रकार हैं—

(१) भाषा के प्रश्न को लेकर हिंसा का कोई प्रयोग न हो।
(२) दक्षिण पर हिन्दी नही थोपी जानी चाहिए।
(३) उत्तर भारत पर अँग्रेजी नही लादी जानी चाहिए।

आज हमे हिन्दी विरोधी कृत्यो के कारण देश मे उत्पन्न विकट तनाव की स्थिति को बदलना होगा। सम्प्रति इस दिशा मे निम्नलिखित कार्य आवश्यक हैं—

(१) हिन्दी-भाषी राज्यो का सम्पूर्ण सरकारी कार्य केवल हिन्दी भाषा के ही माध्यम से होना चाहिए।
(२) हिन्दी-भाषी प्रदेशो के सभी विश्वविद्यालयो के सभी विषयो के अध्यापन का माध्यम हिन्दी भाषा होनी चाहिए।
(३) हिन्दी-भाषी प्रदेश के सभी स्तर के न्यायालयो का सम्पूर्ण कार्य केवल हिन्दी मे ही होने चाहिए तथा जनता के हितो को ध्यान मे

रखते हुए न्यायाधीशों को इसके लिए बाध्य करना चाहिए कि वे अपने फैसले हिन्दी में ही दें।

(४) हिन्दी-भाषी राज्यों का केन्द्र से एवं केन्द्र का हिन्दी-भाषी राज्यों में पत्र-व्यवहार हिन्दी भाषा के माध्यम से होना चाहिए।

(५) सम्पूर्ण देश की सभी भाषाओं को लिखने के लिए यथासाध्य देवनागरी लिपि का अधिकाधिक प्रयोग होना चाहिए।

(६) सम्पूर्ण हिन्दीतर राज्यों में वहाँ की भाषाओं की ही प्रतिष्ठा होनी चाहिए तथा इन राज्यों का सम्पूर्ण कार्य वहाँ की भाषा के माध्यम से ही होना चाहिए।

(७) संघीय लोकसेवा आयोग की सभी परीक्षाओं का माध्यम राष्ट्रभाषा हिन्दी अथवा वैकल्पिक रूप में संविधान में स्वीकृत राजभाषाएँ होनी चाहिए। किन्तु जो प्रत्याशी हिन्दी को अपनी परीक्षा का माध्यम नहीं बनाते उनके लिए सामान्य हिन्दी का एक अतिरिक्त प्रश्नपत्र होना चाहिए।

(८) देश की एकता के लिए हिन्दीक्षेत्र में अन्य स्वदेशी भाषाओं का आवश्यक रूप से प्रचार एवं प्रसार होना चाहिए।

वस्तुतः आज केवल हिन्दी की ही प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं है, अपितु सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा का प्रश्न है। अँग्रेजी को किसी भी रूप में बनाए रखने का अर्थ देश के अभिमान पर आघात, जनता से द्रोह एवं विघटन-कारी प्रवृत्तियों को प्रश्रय देना है।

वास्तव में जब तक हम देश में पूर्णरूप से राष्ट्रभाषा की प्रतिष्ठा नहीं कर लेते हैं तब तक हमारी स्वतन्त्रता सदैव खतरे में रहेगी। देश की सुरक्षा एवं एकता की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि यथासम्भव सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रभाषा हिन्दी का उसी रूप में प्रचार एवं प्रसार करें जिस रूप में अमेरिका एवं इंगलैण्ड में अँग्रेजी, रूस में रूसी, चीन में चीनी एवं जापान में जापानी भाषाओं की प्रतिष्ठा है। किन्तु यह कार्य तभी सम्भव है जब हम सम्पूर्ण देश में ४० प्रतिशत प्रचलित हिन्दी को पूर्ण रूप में प्रतिष्ठापित कर लेंगे। जब तक हिन्दी अपने घर में ही पूर्णरूप में आदृत न होगी तब तक अन्य राज्यों के लोग उसे कैसे ग्रहण कर सकेंगे? अतएव हमें जागरूक होकर आज भी हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार में उसी प्रकार संलग्न हो जाना चाहिए जिस प्रकार संविधान में हिन्दी के स्वीकृत होने के पूर्व हम जागरूक थे। हमें इस बात का दुःख है कि आज कुछ स्वार्थी लोगों के कुचक्र के कारण पिछले कुछ वर्षों पूर्व से हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन निष्क्रिय हो गया है। इसी प्रकार

साम्यवादी चीन की भाषा-समस्या

●

कही-कही एक ही देश मे विभिन्न परिवारो की भापाएँ वोली जाती हैं। उदाहरण के लिए यदि हम भारत को ही ले तो इसके उत्तरी भाग मे भारोपीय परिवार की, पजावी, हिन्दी, पहाडी, राजस्थानी, विहारी, वगला, उडिया, गुजराती, मराठी तथा असमिया आदि, विहार तथा मध्यप्रदेश मे मुण्डा परिवार की कोल, कुरकू, हो आदि वोलियाँ, हिमालय के पर्वतीय पूर्वी अचल मे तिब्वती-चीनी परिवार की गुरुँग, लेप्चा, रोग आदि वोलियाँ तथा दक्षिणी भारत मे तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम आदि, भापाएँ एव वोलियाँ प्रचलित हैं। ऐसे देश मे अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए एक राज्य अथवा राष्ट्रभापा आवश्यक होती है। इसके विपरीत ससार मे कतिपय ऐसे भी देश हैं जहाँ भापा तो केवल एक ही परिवार की वोली जाती है किन्तु इसकी वोलियो मे इतना अधिक अन्तर रहता है कि एक वोली के वोलनेवाले दूसरी वोली के वोलनेवालो से विचार-विनिमय नही कर पाते। ऐसी अवस्था मे देश की एकता तथा राजनैतिक सुविधा के लिए किसी एक वोली को राज्यभाषा के रूप मे स्वीकार करना पडता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण चीनी भापा है। यद्यपि चीन मे एकमात्र चीनी भाषा ही प्रचलित है, तथापि इसकी उपवोलियो मे अत्यधिक अन्तर है। इस अन्तर का प्रमाण ईसापूर्व दो सौ इक्कीस (२२१ ई० पू०) से ही उस समय से मिलता है जब चीन एक साम्राज्य मे परिणत हुआ था। चीन की जनसख्या ६० करोड है। इनमे से साढे तीन करोड लोगों को छोडकर शेष सभी लोग चीनी वोलते हैं, किन्तु चीन के पेकिंग तथा कैंटन नगरो की वोलियो मे उतना ही अन्तर है जितना अँगरेजी तथा जर्मन मे।

इसमे सन्देह नही कि समस्त चीन मे लिखित भाषा का रूप एक ही है, किन्तु वोलियो में उच्चरित रूप से इसका कोई सम्वन्ध नही है। इसके अतिरिक्त लिखित भाषा मे इतने अधिक चिह्नो का व्यवहार होता है कि केवल कुछ प्रतिशत शिक्षित लोग ही इनसे परिचित हैं। साम्यवाद के प्रचार के पूर्व, अनुमानत. ऐसे लोगो की सख्या अधिक से अधिक १५ प्रतिशत थी।

वोलियो की विभिन्नता का चीन मे एक परिणाम यह हुआ कि भाषा-सम्वन्धी एकता के कारण एक ही देश के विभिन्न प्रदेशो मे जो आर्थिक एव सामाजिक उन्नति होती है उससे प्राय. वह शताब्दियो तक वचित रहा। अनेक

राजवशो ने इस भिन्नता की भित्ति को तोडने का प्रयत्न किया किन्तु उन्हें सफलता न मिली । इधर जब से चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई है तब से बराबर भाषा-सम्बन्धी एकता लाने के लिए वहाँ प्रयत्न चल रहा है । बात यह है कि किसी देश का पूर्ण औद्योगीकरण तब तक सभव नही है जब तक उस देश की समस्त जनता शिक्षित न हो जाय । टेक्निकल काम के लिए मजदूरो का प्रशिक्षित होना आवश्यक है । इधर चीन, एशिया मे, औद्योगिक क्षेत्र मे, सब से आगे बढना चाहता है । अत मजदूरो की शिक्षा की समस्या उसके सामने है । इस मार्ग मे सब से अधिक बाधक है—चीन की बोली-सम्बन्धी विभिन्नता । चीन आज इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि समस्त देश मे एक भाषा और एक लिपि का प्रचार हो जाय किन्तु इस मार्ग मे अनेक बाधाएँ भी है । वह अपनी भाषा-समस्या को भविष्य मे किस प्रकार हल कर सकेगा, यह कहना कठिन है, किन्तु इस सम्बन्ध मे वहाँ जो प्रयत्न हो रहे है उनका सक्षेप मे यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है।

चीन की बोलियो को, मोटे तौर पर, निम्नलिखित पाँच वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—

(१) यूएह—इसे लोग प्राय कैंटनी नाम से जानते है ।

(२) मिन—यह फुकियन नाम से प्रसिद्ध है । इसे केवल फुकियन प्रदेश के लोग ही नही बोलते अपितु सिंगापुर, मलाया, फार्मोसा तथा फिलीपाइन्स मे बसे हुए चीनी लोग भी बोलते हैं। इसके अन्तर्गत तीन बोलियो का समावेश है जो परस्पर अबोधगम्य है ।

(३) हक्का—यह वस्तुतः मडारिन, कैंटनी तथा फुकियन बोलियो के सम्मिश्रण से निर्मित बोली है । चूँकि इस बोली के बोलनेवाले कैंटनी तथा फुकियन लोगो के बाद आये अतएव इन्हे अतिथि कहकर सम्बोधित किया गया ।

(४) वु—इसके अन्तर्गत शघाइ, हाँगचाउ, निंगपो, सुचाउ की बोलियाँ आती है । यद्यपि इन शहरो मे से किसी की भी एक दूसरे से दूरी २०० मील से अधिक नही है तथापि एक शहर के लोग दूसरे शहर के लोगो की बोली को बिलकुल नही समझते ।

ऊपर के चारो वर्गों की बोलियो के बोलनेवालो की सख्या १८॥ करोड है । शेष ४० करोड चीनी जनता 'कुओयु' बोलती है। यही एक प्रकार से यहाँ की राष्ट्रभाषा है और इसे ही मण्डारिन नाम से अभिहित किया जाता है। मण्डारिन की विभिन्न बोलियो में कही-कही पर सुर (टोन tone) का भेद है । किन्तु यह इतना अधिक नही है कि एक बोली बोलने वाले दूसरे

होने के लिए तो उन्हे बारह हजार प्रतीको को जानना पडता है। अँगरेजी तथा हिन्दी भाषा-भाषी बालक अँगरेजी के २६ अक्षरो तथा हिन्दी के ४३ अक्षरो (३३ व्यजन, १० स्वर) को एक अवस्था के बाद कुछ ही महीनो मे सीख लेते है, किन्तु चीनी बालक को चीनी प्रतीको के सीखने मे कम से कम पाँच वर्ष और अधिक लग जाते है। और तब भी वह चीनी समाचार-पत्र को पढने मे असमर्थ रहता है।

जिन लोगो ने केवल यह सुन रखा है कि चीनी लोग लिखने मे चित्रलिपि का प्रयोग करते है उन्हे ऊपर की बातें अतिशयोक्तिपूर्ण लगेगी। किन्तु जहाँ तक चीनी भाषा को चित्र-लिपि मे लिखने की बात है वह केवल आशिक रूप मे ही सत्य है। यह सत्य है कि चीनी भाषा के अनेक प्रतीक मूलत. चित्र ही थे, किन्तु बाद मे जब भाववाचक शब्दो के निर्माण की आवश्यकता पडी तो उन प्रतीको मे उनके समान ध्वनि वाले अन्य प्रतीक भी जोडे गये।

चीनी भाषा की एक अन्य कठिनाई है—उसके शब्दो का अति लघुरूप। हिन्दी तथा अँगरेजी की अपेक्षा इसमे एकाक्षर शब्द अत्यधिक मात्रा मे है और तीन अक्षर के शब्दो का तो इसमे एक प्रकार से अभाव-सा है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि इसमे अनेक शब्दो का उच्चारण प्राय. एक ही है, फिर भी किंचित् सुर (टोन) परिवर्तन से ही उनके अर्थ मे महान् परिवर्तन हो जाता है। लिखित प्रतीको मे कभी-कभी इस अर्थ भेद को नवीन प्रतीको द्वारा स्पष्ट किया जाता है। उदाहरणस्वरूप 'उसका' और 'टोकरी' दोनो का उच्चारण चीनी मे पहले एक ही था, और इसलिए इनका प्रतीक भी एक ही था, किन्तु चूँकि टोकरी बाँस से बनती है अतएव मल प्रतीको मे दो बाँसो का प्रतीक देकर टोकरी का अर्थ द्योतित किया गया।
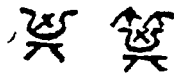
आगे 'घोडा' शब्द को विभिन्न वर्गों के चीनी प्रतीको मे लिखा जा रहा है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि समय की प्रगति से ये प्रतीक किस रूप मे परिवर्तित होते रहे है—

(क) बल्कल तथा अस्थि शैली (१४वी शताब्दी ई० पू०)

(ख) कास्य शैली (१३वी से ४थी शताब्दी ई० पू०)

(ग) महान् मुद्रा शैली (८वी से ३री शताब्दी ई० पू०)

(घ) क्षुद्रमद्रा शैली (३री शताब्दी ई० पू०)

(ङ) लिपिक शैली (३री शताब्दी ई० पू०)

(च) धावित शैली (३री शताब्दी ई०)

(छ) घास शैली (३री शताब्दी ई०)

(ज) मुद्रण शैली (३री शताब्दी ई० से १९५६ ई०)

(झ) साम्यवादी शैली (१९५६ ई० से . . .)

चीन का प्राचीनतम प्रतीकात्मक लेख ई० पू० १४वी सदी का है। इस समय तक चीनी प्रतीक पूर्ण रूप से विकसित हो चुके थे। इसके बाद कास्य तथा महान् मुद्रा शैलियो का युग आया। इन दोनो शैलियो मे चीनी प्रतीक अत्यधिक कलात्मक बन गये। एक बार सन्त कन्फ्यूशस (ई० पू० ५५१-४७८) ने अपने शिष्यो से कहा था कि पर्वतों पर लिखित चीनी के ऐसे अनेक प्रतीक है जिन्हे पढने मे वे असमर्थ हैं।

चीन के प्रथम सम्राट् (ई० पू० २२१-२१०) ने यह घोषणा-पत्र निकाला कि देश के लिए क्षुद्रमुद्रा शैली को परिनिष्ठित माना जाय और सभी लोग उसका प्रयोग करें। चित्रो पर हस्ताक्षर करने के लिए आज भी समस्त चीन मे इसी शैली के प्रतीको का प्रयोग होता है। चूंकि यह शैली नितान्त कलात्मक थी इसलिए सम्राट् ने इसे सरल करके, इसके स्थान पर, लिपिक शैली को प्रचलित किया। ईसा की प्रथम शताब्दी मे, चीन मे, कागज का आविष्कार हुआ अतएव लिखने की शैली मे पुन परिवर्तन हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि लोग अब अधिक लिखने लगे थे इसके फलस्वरूप धावित शैली प्रचलित हुई।

आगे चलकर यह घास शैली मे परिवर्तित हो गयी जो पहले की अपेक्षा अस्पष्ट थी। इसके बाद ही मुद्रण शैली का आविर्भाव एवं प्रचार हुआ। साम्यवादियों के आगमन के पूर्व तक स्कूलो, समाचारपत्रो तथा सरकारी घोषणाओ मे मुद्रण शैली ही प्रयुक्त होती थी। यह दूसरी बात है कि व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार मे लोग इच्छानुसार प्रतीकों का ही व्यवहार करते हैं।

गत तीन हजार वर्षो से, इस प्रकार, लिखने के लिए चीन मे प्रतीको का प्रयोग होता रहा किन्तु इधर सौ वर्षो से इनमे सुधार का प्रयत्न चल रहा है। बात यह है कि साधारण रूप से शिक्षित होने के लिए, चीन मे कम से कम ६ हजार प्रतीको को लिखने का अभ्यास करना आवश्यक है। इसमे पर्याप्त समय और परिश्रम की आवश्यकता है जो आज के औद्योगिक एवं व्यस्त जीवन मे सभव नही है।

सुधार के सम्बन्ध मे एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि एक शती के बाद दूसरी शती मे केवल प्रचलित प्रतीको मे ही सुधार करने का प्रयत्न किया गया, इनके स्थान पर वर्णों को प्रयुक्त करने का किसी ने यत्न नही किया। सर्व-प्रथम, सन् १५८८ ई० मे विदेशी मिशनरियो ने चीनी भाषा पढ़ाने के लिए प्रतीको के स्थान पर वर्णो का प्रयोग किया, किन्तु सन् १८९२ ई० के पूर्व चीनी विद्वानो का ध्यान इस ओर आकर्षित न हो सका। इसी समय लूकनचैग नामक एक चीनी विद्वान् ने अपनी मातृभाषा 'अमॉया' (फुकियन की एक बोली) को उच्चारणानुसार लिखने के लिये वर्णों का प्रयोग किया। आगे चलकर इन वर्णों मे ऐसे सुधार किये गये ताकि इनसे मण्डारिन चीनी भी लिखी जा सके। सन् १९०३ में एक अन्य चीनी विद्वान् ने वर्णों के द्वारा चीनी लिखने के लिए पेकिग मे एक स्कूल खोला। सन् १९०३ वस्तुत चीन के इतिहास मे तूफानी साल था। इसी साल च्यॉग वश का अन्त हुआ था और जनता मे राष्ट्रीयता की लहर दौडने लगी थी। इसका एक परिणाम यह हुआ कि स्वदेशी प्रतीको के स्थान पर लोगो ने विदेशी वर्णों को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार प्रतीको के स्थान पर चीन मे ध्वन्यात्मक वर्णों को प्रचलित करने का जो प्रयत्न चल रहा था, वह स्थगित हो गया।

इस सम्बन्ध मे दूसरा प्रयत्न, सन् १९१३ मे, चीनी प्रजातत्र की स्थापना के एक वर्ष बाद हुआ। इस समय विभिन्न प्रदेशो के विद्वानो का एक सम्मेलन हुआ जिसमे चीनी भाषा की उच्चारण-एकता पर विचार किया गया तथा इस सम्बन्ध मे किंचित् कार्यवाही भी हुई। इसके पाँच वर्ष बाद चीनी सरकार ने प्रतीको के आधार पर राष्ट्रीय-ध्वन्यात्मक प्रतीको (National Phonetic Symbols) की स्वीकृति की घोषणा की। यथा—

3 = न्, Y = ॠ, 3Y = न

इसके उच्चारण का आधार पेकिग की मण्डारिन उपवोली थी। अन्य मण्डारिन उपवोलियो को लिखने के लिए इनके अतिरिक्त तीन और अधिक प्रतीको का निर्माण किया गया। इसके वाद चीनी भापा का एक कोश भी तैयार किया गया और चीनी प्रतीको के साथ ही ध्वन्यात्मक प्रतीको को देकर स्कूली पाठ्य-पुस्तके तैयार की गयी। इस तरह चीन के प्रारम्भिक कक्षाओ मे मण्डारिन की पढाई होने लगी, किन्तु अव तक के प्रयत्नो का उद्देश्य चीनी प्रतीको को समाप्त करना न था अपितु नये प्रतीक वनाकर उनके उच्चारण मे सहायता देना था।

प्रथम विश्वयद्ध के अवसर पर जेम्स वाई० सी० यन० ने एक हजार आधारभत चीनी प्रतीको (शब्दो) का सग्रह किया और पारस्परिक व्यवहार के लिए इन्होने यूरोप स्थित चीनी सैनिको को सिखाया। ये शब्द इतने अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए कि वाद मे चीन के ग्रामीण दूकानदार तथा किसान भी इनका प्रयोग करने लगे।

सन् १९२८ मे, चीन मे रोमन वर्णमाला को प्रचलित करने का प्रयत्न हुआ और उसे वैज्ञानिक एव ध्वन्यात्मक वनाने के लिए अनेक चिह्नो का प्रयोग भी किया गया किन्तु यह प्रयोग सफल न हो सका। क्योकि जनता ने उसे स्वीकार नही किया।

इसके वाद चीनी प्रतीको के सुधार मे रूसी विचारधारा का प्रभाव प्रारम्भ हुआ। सन् १९३१ मे च० च्युपाई०, वू० यू० चग तथा रूस स्थित साम्यवादी अनेक कार्यकर्त्ताओ ने चीनी-लेखन के लिए लैटिन वर्णो का प्रयोग आरम्भ किया। इस कार्य मे अनेक रूसी विशेपज्ञो ने भी इनकी सहायता की। चु० प्राय० यह कहा करता था—"मैं नूतन लेखन-प्रणाली से अत्यधिक प्रभावित हूँ। मेरी इस समस्या मे इसलिए दिलचस्पी है कि मैं करोडो चीनी जनता को साक्षर वनाना चाहता हूँ। जव तक मजदूर तथा किसान साक्षर नही होगे तव तक चीन मे मार्क्स तथा लेनिनवाद का पूर्णतया प्रचार न हो सकेगा।"

इसी समय जनता विश्वविद्यालय तथा लिखित भापा सुधार-समिति के अध्यक्ष श्री वू०यू० चग ने अपने सरकारी वक्तव्य मे नूतन प्रणाली सम्वन्धी तेरह सिद्धान्तो को प्रकाशित किया जो इस प्रकार थे "प्राचीन चीन की लेखन प्रणाली का सम्वन्ध सामन्ती परम्परा से है। यह मजदूरो, किसानो तथा कमेरो को पददलित करने का उपकरण वन गयी है। वास्तव मे इसके द्वारा जनता को साक्षर वनाना

नितान्त कठिन है और आधुनिक युग के लिए यह उपयक्त भी नही है। अतएव इस चित्रात्मक लेखन-प्रणाली को अब समाप्त कर देना चाहिए और इसके स्थान पर ध्वन्यात्मक लेखन-प्रणाली को प्रचलित करना चाहिए।"

सन् १९५५ की अप्रैल मे श्री वू० यू० चग ने अपनी ऊपर की बातो को पुन. दोहराया।

लैटिन वर्णवाली नूतन लेखन-प्रणाली का आरम्भ सन् १९३२ में रूस मे हुआ था। इसका मुख्य उद्देश्य रूस मे स्थित चीनी लोगो को साक्षर बनाना था और उसका शुभ परिणाम यह हुआ कि सन् १९३८ तक अधिकाश चीनी साक्षर बन गये। इस नूतन लेखन-प्रणाली के साथ-साथ चीनी लोगो को चीनी प्रतीक भी दिखाये जाते थे। सन् १९३४ ई० मे साक्षरता के इस आन्दोलन का समाचार चीन मे पहुँचा और इस प्रणाली के अध्ययन के लिए वहाँ अनेक समितियो का निर्माण हो गया।

चूँकि इस नूतन प्रणाली का आविष्कर्त्ता मार्क्सवादी था अतएव इसके लिए जिन समितियो का चीन मे निर्माण हुआ उन्हे चीनी सरकार शका की दृष्टि से देखने लगी। फिर भी चीनी-जापानी युद्ध के फलस्वरूप शाघाई मे शरणार्थियो के लिए जो अन्तर्राष्ट्रीय शिविर बने, उसके लगभग पाँच हजार चीनियो ने इस प्रणाली से लिखना-पढना सीखा। सन् १९३८ मे, अन्ततोगत्वा, उस समय की चीनी सरकार ने इस नवीन लेखन-प्रणाली को स्वीकार कर लिया, किन्तु आगे चलकर न तो चाग काई शेक की सरकार ने और न तो चीन के साम्यवादी-दल ने ही इस प्रणाली को प्रचलित करने मे सहायता की।

साम्यवादी लालचीन की एक भाषा?

ध्वन्यात्मक वर्णों के द्वारा चीनी भाषा को लिखने के लिए जो भी प्रयत्न हुए उनकी असफलता का मुख्य कारण यह था कि सम्पूर्ण चीन की भाषा मे एकरूपता न थी। जब-तक चीन की समस्त जनता प्राय. एक प्रकार से भाषा का उच्चारण न करे तब तक उसे ध्वन्यात्मक रूप मे लिखना असभव था। भाषा को एक रूप देने मे वास्तव मे चीन की प्रतीकोवाली प्राचीन लेखन-प्रणाली की यह विशेषता थी कि समस्त चीन मे एक ही प्रतीक का प्रयोग होता था। यह दूसरी बात है कि विभिन्न बोलियो मे इन प्रतीको की उच्चारण-सबधी एकता का अभाव था। यद्यपि लोग बोलते समय एक दूसरे की बोली को नही समझ पाते थे, किन्तु जब वे प्रतीको द्वारा उसे लिखते थे तो वे तत्काल समझ लेते थे। अतएव बोलियो की विभिन्नता की उन्हे चिन्ता न थी। किन्तु राष्ट्रीय सरकार एक कदम और आगे बढ़ी। वह लेखन की एकता के साथ-साथ उच्चारण की एकता

के लिए भी प्रयत्न करने लगी। उसने चीन के सभी स्कूलो मे मण्डारिन वोली को सिखाना प्रारम्भ किया।

जनसख्या की दृष्टि मे मण्डारिन को राज्य अथवा राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करना उचित ही था क्योकि इसके वोलनेवालो की सख्या सब से अधिक थी। किन्तु दक्षिणी चीन के लोग सब से अधिक साक्षर थे, अतएव वहाँ मण्डारिन का प्रवेश न हो सका। एक वात और है। यदि कोई विद्वान् मण्डारिन द्वारा अपना विचार व्यक्त न कर पाता था तो यह वुरा भी न माना जाता था। सच वात तो यह है कि उस समय के अनेक सरकारी कर्मचारी दक्षिणी चीन के थे। इस प्रकार स्कलो मे मण्डारिन द्वारा शिक्षा प्रचलित होने पर भी लगभग वीस साल वाद तक, जव तक चीन-जापान का युद्ध न छिड़ा, तव तक, दक्षिण-पूर्व के चीनी लोगो ने मण्डारिन के सीखने मे विशेष अभिरुचि न दिखलाई। जव चीन मे साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई तो उसने भी रूस की नीति का अनुकरण करते हुए विभिन्न वोलियो को सुरक्षित रखना ही उचित समझा।

फिर भी चीन मे जनराज्य-स्थापना के प्रथम मास मे ही, पेकिंग मे चीन के सभी प्रदेशो के प्रतिनिधि भाषा-सुधार-अधिवेशन मे भाग लेने के लिए आमन्त्रित किये गये। इसमे विदेश मे रहनेवाले चीनी लोगों ने भी भाग लिया और चीन की अल्पसख्यक जातियो के प्रतिनिधि भी इसमे सम्मिलित हुए। अधिवेशन का मुख्य उद्देश्य समस्त चीन के लिए एक वोली को चुनना, उसके प्रतीको को सरल वनाना तथा चीनी भाषा लिखने के लिए ध्वन्यात्मक प्रणाली का आविर्भाव करना था। यह कार्यभार समितियो तथा उपसमितियो को सौंपा गया। इनमे भी लिखित भाषा का सुधार करनेवाली समिति को सब से अधिक अधिकार दिया गया। सन् १९५४ ई० मे केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत इस समिति का निर्माण हुआ था और आज शिक्षा-मन्त्रालय के तत्त्वावधान मे भाषा-सम्वन्धी सुधार का यह समस्त कार्यभार वहन कर रही है।

भाषा की एकता की ओर

एक भाषा के उद्देश्य को इष्ट मानकर सरकार ने सभी स्कूलो, सैनिक-शिविरो तथा सरकारी कागज-पत्रो मे मण्डारिन का प्रचार आरम्भ कर दिया। आकाशवाणी मे भी यही भाषा प्रचलित थी। इसके उच्चारण का आधार पेकिंग की वोली को वनाया गया और इसके व्याकरण का ढाँचा सामान्य बोलचाल की लिखित भाषा को माना गया। वीसवी शताब्दी के पूर्व इस भाषा का प्रयोग कथा-साहित्य के सर्जन के लिए किया गया था। यह 'पाई-हुआ' के नाम से प्रख्यात थी। कथा-साहित्य के अतिरिक्त चीन मे अन्य साहित्य

की रचना के लिए परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया जाता था।

सन् १९१७ ई० मे साहित्य की भाषा मे जो क्रान्ति हुई थी उसी के परिणामस्वरूप 'पाई-हुआ' अस्तित्व मे आयी थी। चीन मे इसे प्रचलित करने मे कतिपय अमेरिका से लौटे हुए चीनी छात्रो का हाथ था। इनमे से मुख्य हुशी था, जो द्वितीय विश्व-युद्ध के अवसर पर सयुक्त राज्य अमेरिका मे राजदूत था। कतिपय अँगरेजी लेखको से प्रभावित होकर उसने साधारण बोलचाल की मण्डारिन मे साहित्य लिखना प्रारम्भ किया था। यद्यपि इस युग के नये लेखक, बोलचाल में, विभिन्न भाषाओ का प्रयोग करते थे जिसमे दक्षिणी चीन की भाषा प्रमुख थी तथापि साहित्य मे ये जिस भाषा का प्रयोग करते थे उसकी शैली प्राय एक थी। यह यत्किंचित् साहित्यिक तथा कुछ-कुछ मण्डारिन थी। इसका आदर्श मिग-चिग वंशो के युग के उपन्यासो की माँग भाषा थी। उस युग मे चीन मे उपन्यासो की गणना साहित्य के अन्तर्गत नही होती थी।

प्राय चालीस वर्षों तक इस नूतन भाषा मे साहित्य-सर्जन का काम चलता रहा। अनेक नये लेखकों के प्रयोग से यह भाषा मँज गयी और इसमे काफी साहित्य-रचना भी हुई। इसके बाद यह साम्यवादियो के हाथ आयी। इस भाषा को स्वीकार करने मे साम्यवादी दल की बहुत बडी चाल थी। वस्तुत. 'पाई-हुआ' भाषा का उस समय आविर्भाव हुआ था जब चीन पश्चिमी देशो के अनुकरण मे व्यस्त था और जब चीनी भाषा मे पश्चिमी साहित्य एव विचारधारा अनूदित होकर स्वच्छन्दता से आ रही थी। अधिकाश चीनी इसी भाषा मे अपने विचार व्यक्त करने लगे थे अतएव इसे स्वीकार करने मे किसी प्रकार के विरोध की आशका न थी। इस भाषा के प्रचार और प्रसार के लिए जो योजना बनी है उसके अनुसार सन् १९७० तक उच्च ज्ञान के लिए कार्य करनेवाले प्राध्यापको को छोडकर सभी अन्य प्राध्यापक तथा छात्र इस भाषा को सीख लेंगे तथा व्यवहार में लाने लगेंगे। इसी प्रकार प्रायः सभी सरकारी कर्मचारी तथा अन्य लोग भी तबतक इस भाषा मे निपुण हो जायेंगे।

इस भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए ग्रामोफोन के रेकार्ड तैयार किये गये हैं। चलचित्रो द्वारा भी इसका प्रचार किया जा रहा है। ग्रीष्मकालीन स्कूलो मे भी वयस्क तथा मजदूरों एवं किसानो को यही भाषा पढ़ाई जा रही है। इसे पढानेवाले अध्यापको के प्रशिक्षण के लिए भी अनेक केन्द्र खोले गये हैं।

प्रतीको का सरलीकरण

सन् १९५० के ग्रीष्म मे लिखित भाषा के सक्षिप्त प्रतीको के सम्बन्ध मे विचार करने के लिए एक अनुसधान-समिति का निर्माण किया गया गया। सब से पहले समाचार-पत्रो मे सक्षिप्त प्रतीको का रूप प्रकाशित कर दिया गया और लोगो से उनके सम्बन्ध मे सम्मतियाँ माँगी गयी। लगभग दो लाख व्यक्तियों ने इनके विषय में अपने विचार प्रकट किये। सन् १९५५ ई० मे भाषा-सुधार समिति का पुन अधिवेशन हुआ जिसके फलस्वरूप सरकार द्वारा स्वीकृत संक्षिप्त प्रतीक प्रकाशित कर दिये गये। निम्नलिखित तीन सिद्धान्तो के आधार पर ही सरकार ने इन प्रतीको को स्वीकार किया—

(१) व्यक्तियो द्वारा सक्षिप्त किये गये प्रतीको को सरकार ने वैधानिक रूप से स्वीकार किया, यथा—

塵 > 尘

(२) एक ही प्रतीक के विभिन्न रूपो का परित्याग करके केवल एक रूप को ही स्वीकार किया गया, यथा—

鬭 鬬 鬦 鬥 斗 > 斗

(३) व्यक्तियो द्वारा सक्षिप्त किये गये प्रतीको के कतिपय लघुरूपो के टुकडो को अन्य रूपो मे सयुक्त करके, भाव-प्रकाशन के लिए, नये प्रतीक बनाये गये; यथा—

難 : 难 :: 艱 : 艰

यह सब इस आशा से किया गया कि सन् १९५९ तक तीन हजार सक्षिप्त प्रतीक तैयार हो जायें, जिसके द्वारा लोग आसानी से समाचार-पत्रो को पढने लगे। यहाँ यह बात ध्यान मे रखने योग्य है कि इसके पहले समाचार-पत्रो के पढने के लिए छह हजार प्रतीको की जानकारी आवश्यक थी और वे भी सक्षिप्त प्रतीक न थे।

वर्ण अथवा अक्षर का प्रयोग

सन् १९५५ ई० की फरवरी मे उच्चारण के अनुसार चीनी भाषा लिखने

के लिए एक उपसमिति का सगठन किया गया। इस समिति ने तीन सौ वर्षों से प्रचलित समस्त ध्वन्यात्मक लिपियो तथा इस प्रकार की नवनिर्मित ६५५ लिपियों—कुल वारह सौ लिपियो का परीक्षण किया। अक्तूवर तक इन्होंने प्रस्तावित ध्वन्यात्मक लिपियो का छह ड्राफ्ट तैयार किया। इनमे से चार चीनी प्रतीको के आधार पर, एक सिरिलिक (एक प्रकार की लिपि जिसका प्रयोग पूर्वी चर्च के स्लाव लोग करते है) के आधार पर तथा एक लैटिन लिपि के आधार पर तैयार किया गया। परीक्षण के वाद अन्ततोगत्वा लैटिन लिपि को ही समिति ने स्वीकार किया। इसके वाद सन् १९५६ ई० मे राज्य-सभा ने इसे जनता के समक्ष रखा। इस लिपि मे अँगरेजी के वी (v) वर्ण को छोडकर शेष सभी वर्ण थे। इनके साथ ही पाँच सिरिलिक वर्ण भी स्वीकार किये गये किन्तु यह लिपि जनता मे चल न सकी और सन् १९५८ की ६ फरवरी को जनता की राष्ट्रीय कांग्रेस ने केवल एकमात्र लैटिन वर्णों को ही स्वीकार किया।

लैटिन लेखन-प्रणाली की स्वीकृति से चीनी भाषा के लिखावट मे कितनी भयानक क्रान्ति हो गयी इसे निम्नलिखित उदाहरण द्वारा प्रकट किया जा सकता है। लैटिन लिपि मे इन सभी प्रतीको को केवल यस्-आई (SI) द्वारा लिखा जा सकता है। ये प्रतीक इस प्रकार हैं—

絲 रेशम, 死 मरना, 四 चार,

思 सोचना, 寺 मठ

लिखावट की इस प्रणाली का शिक्षित तथा अशिक्षित दोनो प्रकार के लोगो ने विरोध किया। इनमे शिक्षित लोगो के विरोधी तर्कों मे काफी वल था। उनका यह कथन विलकुल सत्य है कि चीनी भाषा को लैटिन लिपि मे लिख-कर उसके साहित्य-सौन्दर्य की रक्षा नही की जा सकती। सच तो यह है कि चीनी भाषा मे अनेक ऐसे भाव है जिन्हे किसी भी ध्वन्यात्मक लिपि के द्वारा स्पष्ट नही किया जा सकता। उदाहरणस्वरूप चीन मे शान्ति का प्रतीक 'छत के नीचे खडे स्त्री' है। भद्रता के भाव का प्रतीक स्त्री तथा वच्चा है। इन प्रतीको के द्वारा चीनी लोगो के हृदय मे जो भाव उदय होते है उन्हे ध्वन्यात्मक लैटिन लिपि द्वारा भला कैसे द्योतित किया जा सकता है?

एक वात और है। निरक्षर चीनी जनता का विद्या के प्रति इतना आदर

है कि किसी लिखे हुए कागज पर पैर रखना वेव हुत वुरा मानते है। चीन मे सर्वत्र छोटे-छोटे वक्सो पर लिखा रहता है—सि-ज् (HSI IZU) अर्थात् लिखे हुए प्रतीको का समादर करो। चीनी लोगो के लिए लिखावट के सभी प्रतीक पवित्र हैं। ये लोग इन प्रतीको के लिखने के लिए ही पढते हैं अन्यथा वे विलकुल नही पढते। अन्य देशो के कृषको की भाँति चीनी किसान भी घोर अपरिवर्तनवादी है। इसका फल भी प्रत्यक्ष है। यद्यपि चीन की आधुनिक साम्यवादी सरकार ने सन् १९५५ ई० मे ही इस वात की घोषणा की थी कि चीन मे व्यवहृत प्रतीको के स्थान पर क्रमशः लैटिन अक्षरो का प्रयोग किया जायगा किन्तु जनता के विरोव के कारण सरकार को अपनी इस नीति मे परिवर्तन करना पडा है। इवर वार-वार जनता को इस वात का आश्वासन दिया जा रहा है कि चीनी प्रतीक सदैव रहेगे और इनका कभी भी उच्छेद नही किया जायगा। इसके अतिरिक्त इन प्रतीको को केवल चीनी 'व्रश' से ही लिखा जायगा, विदेशी फाउण्टेनपेन से नही।

इसके साथ-ही-साथ आज चीन मे लैटिन अक्षरो को प्रचलित करने का अत्यधिक प्रयत्न किया जा रहा है। चाऊ एन लाई ने लैटिन अक्षरो के पक्ष मे भाषण करते हुए एक राजनैतिक सभा मे कहा था, "वर्त्तमान युग में साठ से अधिक राष्ट्र यत्किंचित् परिवर्द्धन के साथ लैटिन अक्षरो का प्रयोग कर रहे हैं अतएव इन्हे प्रचलित करना देशद्रोह नही है।"

आज चीन के प्रत्येक गाँव तथा झोपडो मे ध्वन्यात्मक लैटिन अक्षरो के महत्त्व के प्रचार के लिए प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता भेजे जा रहे है। वे जनता के समक्ष निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं—लैटिन अक्षरो का प्रयोग चीन मे व्यवहृत प्रतीकों के विनाश के लिए नही है अपितु इनके ध्वन्यात्मक उच्चारण के लिए ही इन अक्षरो का प्रयोग किया जा रहा है। इन अक्षरो के प्रयोग से एक ओर लोगो को जनसाधारण की भाषा सीखने मे सहायता मिलेगी तो दूसरी ओर उनकी अपनी-अपनी बोलियाँ भी सुरक्षित रहेंगी। लैटिन अक्षरो को स्वीकार करने का एक परिणाम यह भी होगा कि ध्वन्यात्मक लेखन-प्रणाली से परिचित परदेशी भी चीनी भाषा को सरलता से सीख लेंगे। इनके द्वारा इजीनियरिंग गणित तथा अन्य टेक्निकल विषयो के प्रतीको को समझने मे आसानी होगी। इसके अतिरिक्त तार भेजने, अनुक्रमणिका तैयार करने तथा चीनी कोश के निर्माण मे भी लैटिन अक्षर वरदान सिद्ध होगे।

इस संदर्भ मे लोगो को यह भी समझाया जाता है कि इन अक्षरो के प्रचार से साढे तीन करोड गैर चीनी जनता भी शीघ्रता से चीनी भाषा सीख लेगी और उनके साथ व्यवहार करने मे सुविधा होगी। अन्त मे लोगो के सामने

यह तर्क रखा जाता है कि विश्व की साठ करोड जनता आज लैटिन का व्यवहार कर रही है और एक प्रकार से यह लिपि अन्तर्राष्ट्रीय-संस्कृति को वहन करने-वाली बन गयी है ।

आज चीन की प्रारम्भिक कक्षाओ तथा वयस्को एव जनसाधारण के पढने योग्य पुस्तके लैटिन अक्षरो मे ही प्रकाशित होने लगी हैं। किन्तु उनके सामने ही चीनी प्रतीक भी दिये रहते है। चीनी सरकार तो सभी महत्त्वपूर्ण कागज-पत्रो का प्रकाशन ध्वन्यात्मक लिपि मे करने लगी है।

चीन मे भाषा-सुधार की यह योजना असाधारण है, किन्तु चीनी साम्यवादियों के लिए कोई भी वस्तु असाधारण नही है। सच तो यह है कि माओत्सेतुग भाषा की शक्ति से पूर्णतया परिचित है। सन् १९४२ मे ही यूनान प्रदेश मे, साम्यवादी कार्यकर्त्ताओ को चेतावनी देते हुए उन्होने कहा था—"यह बात कदापि न भूलनी चाहिए कि भाषा एक महान् अस्त्र है और चीन के साम्यवादियो को किसानो, मजदूरो, सैनिको एव साधारण जनता के लिए साहित्य-सर्जन करना है। उन्हे ऐसे साहित्य की रचना करनी चाहिए जिससे सर्वहारा सस्कृति की उन्नति हो और जो सामन्तवादी परम्परा की विध्वसक हो।" इसका परिणाम यह है कि आज चीन के साम्यवादी दल के कार्यकर्ता अपने विचार के लिए प्राचीन मूल्यो की नवीन व्याख्या कर रहे है और जनसाधारण को आकर्षित करने के लिए वे नवीन शब्दावली का भी प्रयोग कर रहे है।

प्रत्येक व्यक्ति को सघर्ष करने दो

इसमे सन्देह नही कि आज चीन मे शिक्षित लोगो की सख्या मे वृद्धि हुई है और आज के चीनी अतीत के लोगो की तरह अब एकान्तसेवी नही रह गये है अपितु शिक्षा के प्रसार के कारण अब उन तक पहुँचना तथा उन्हें प्रभावित करना आसान हो गया है, किन्तु यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि आज की चीनी जनता पर साम्यवादी दल का अत्यधिक प्रभुत्व है और अतीत तथा वर्तमान के उसी साहित्य को जनता पढ सकती है जिसे साम्यवादी लोग प्रकाशित करते हैं।

सन् १९५६ ई० मे माओ ने 'शतपुष्प' वाले प्राचीन चीनी सिद्धान्त को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया जिसका तात्पर्य यह है कि देश मे प्रचलित सैकडो विचारधाराओ को सघर्ष करने दो तथा जिस प्रकार प्रत्येक ऋतु मे अनेक पुष्प विकसित होते हैं, उसी प्रकार लोग स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचारो को प्रकट करे। माओ के इस भाषण ने लोगो को स्वतत्र वायुमण्डल मे श्वास लेने का सुअवसर दिया। लोगो ने इस सदर्भ मे चीनी सरकार

टर्की भाषा में सुधार

टर्की की भापा मे जो सुधार हुआ है वह एक सांस्कृतिक समस्या है और भापा-शास्त्रियो के सम्मुख असाधारण प्रश्न उपस्थित करता है। सच तो यह है कि विश्व के इतिहास मे भाषा के सम्बन्ध मे, आज तक राज्य ने कभी इस प्रकार का हस्तक्षेप नही किया है। यही कारण है कि भापा के वैज्ञानिक अध्ययन करनेवाले आज भी इसकी आलोचना-प्रत्यालोचना मे व्यस्त है। भाषा स्वत विकासोन्मुख वस्तु है और उसकी विकास की धारा मे हस्तक्षेप करना, वास्तव मे, जनता के लिए अरुचिकर होता है। प्राहा के प्रसिद्ध भापाशास्त्री फर्निडनेण्ड डी० सस्योर ने एक स्थान पर लिखा है : "प्राय प्रत्येक भाषा-भाषी अपनी परम्परागत भाषा से सन्तुष्ट रहता है। यह परम्परा भापा को इस प्रकार से बाँधे रहती है कि कोई भी व्यक्ति भाषा के प्रयोग मे स्वच्छन्दता नही प्रदर्शित कर सकता।" टर्की की भाषा के सम्बन्ध मे डी० सस्योर का यह कथन सर्वथा असिद्ध हो गया है, क्योकि अपनी परम्परागत भापा से असन्तुष्ट होकर राज्य ने उसमे स्वच्छन्दता-पूर्वक परिवर्तन किया है। कुछ लोग तो आज टर्की का उदाहरण देते हुए यह स्पष्टरूप से कहने लगे है कि सरकार की अधिकार-सीमा का कही अन्त नही है और वह जो चाहे कर सकती है।

टर्की के भापा-सम्बन्धी सुधार तथ्या उसके सामाजिक एव सांस्कृतिक सुधारो मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इस लेख मे, तथ्य रूप मे, भापा-सम्बन्धी सुधारो का तो उल्लेख किया जाएगा, किन्तु उनकी वैज्ञानिकता के पक्ष-विपक्ष मे कोई विचार नही उपथित किया जाएगा क्योकि धर्म की भाँति भापा का सम्वन्ध भी हृदय की भावना से ही अधिक है। जो हो, टर्की भापा-सम्बन्धी सुधार का प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ है कि उसके शब्द-समूह मे अत्यधिक परिवर्तन हो गया है।

टर्की भाषा में सुधार का प्रथम प्रयत्न

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से, भाषा-शास्त्रियो ने, ससार की भापाओ को कुलो एव उपकुलो मे बाँटा है। इस्लाम धर्मावलम्बी देशो मे अरबी, फारसी, ताजिकी, पश्तो, बगला आदि अनेक भाषाएँ प्रचलित हैं। इनमे से अरबी सामी कुल की, फारसी, ताजिकी, बंगला, भारोपीय परिवार के भारत-ईरानी

[illegible] की भाषाएँ है। तुर्की का इस परिवार [illegible] [illegible] परिवार है। किन्तु पिछली शताब्दियो मे जब 'ओटोमन' तुर्की भाषा साहित्यिक रूप मे प्रतिष्ठित हुई तो इसमें इस्लाम-धर्म के, सम्पर्क के कारण, अरबी-फारसी के अनेक शब्द आ गये। यदि अरबी-फारसी के ये शब्द केवल धर्म एवं सल्तनत के क्षेत्र तक ही सीमित रहते तो कोई बात न थी। किन्तु धीरे-धीरे तुर्की भाषा मे इनकी संख्या इतनी अधिक हो गयी कि इन्होंने ठेठ तुर्की शब्दो को निष्कासित कर उनका स्थान ले लिया। यही नहीं, अरबी-फारसी के व्याकरण तथा वाक्य-सम्बन्धी अनेक नियम भी तुर्की भाषा मे आ गये। पन्द्रहवीं शती के अन्तिम चरण में उस्मानी साम्राज्य प्रतिष्ठित हुआ किन्तु इसमें किसी अरबी-फारसी शब्दो की रोक न हो सकी। [illegible] में, जब तुर्की उस्मानी शक्ति के उच्च शिखर पर विराजमान था तथा उसकी [illegible] [illegible] थी, तो साहित्यिक भाषा मे तुर्की शब्दो की संख्या न्यूनतम थी। जनसाधारण के लिए यह भाषा सर्वथा अबोधगम्य थी और इस युग मे अरबी-फारसी के ज्ञान के बिना साहित्य-रचना का कार्य असम्भव था। इस युग मे, तुर्की मे, अरबी-फारसी को इतनी अधिक प्रतिष्ठा थी कि इनके सामने विशुद्ध तुर्की गँवारू भाषा मानी जाती थी और शिक्षित लोग इसे घृणा की दृष्टि से देखते थे।

१९वी शताब्दी मे, टर्की पर पश्चिमी सभ्यता एव ज्ञान-विज्ञान का प्रभाव पडना प्रारम्भ हुआ। उसके फलस्वरूप चतुर्दिक परिवर्तन अवश्यम्भावी था। टर्की के बडे नगरो मे अब पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित मध्यवित्त के लोगो की शक्ति बढने लगी और उनमे राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ। इसके साथ नवीन ज्ञान-विज्ञान के ग्रहण के लिए, लोगो को, तुर्की भाषा मे, परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव हुआ। सन १८६८ ईस्वी मे जिया पाशा ने साहित्यिक तुर्की की कृत्रिमता की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित किया और जनसाधारण की भाषा मे साहित्य-रचना की अपील की। इसी प्रकार शासन-सम्बन्धी शब्दो को सफल बनाने पर भी उन्होने जोर दिया। जिया पाशा के मित्र एवं सहायक तथा उस युग के श्रेष्ठ साहित्यिक श्री नेमिक केमाल (१८८०–१८८८) ने भी तुर्की मे विदेशी शब्दो के प्रयोग की प्रवृत्ति की अत्यधिक निन्दा करते हुए एक स्थान पर लिखा—भला, इसमे कौन गौरव है कि आज तुर्की भाषा के केवल दो पृष्ठो के लेख को समझने के लिए सैकडो बार अरबी-फारसी का कोश उलटना पडता है।

इसका स्पष्ट प्रभाव तुर्क जनता एव साहित्य पर पडा और इस युग मे भाषा के जो कोश बने उनमे से अरबी-फारसी के कठिन शब्दो को निकाल दिया गया। इसी प्रकार इनमे अरबी-फारसी शब्दो का मूल अर्थ न देकर, उस अर्थ को महत्त्व

दिया गया जो परिवर्तन रूप मे तुर्की मे प्रचलित हो गये थे। इन शब्दो की अखरौटी (Spelling) मे भी तुर्की उच्चारण का ध्यान रखा गया। इसका एक परिणाम यह हुआ कि अब साहित्यिक भाषा अपनी परम्परागत लीक छोडकर नवीन पथ पर चलने के लिए बाध्य हुई। प्रयोग के क्षेत्र मे भाषा का मानदण्ड अब विदेशी अरबी-फारसी न थी किन्तु इसका स्थान अब स्वदेशी तुर्की ने ले लिया। अब धीरे-धीरे जनता की बोलचाल की भाषा स्पृहणीय एव आदरणीय बनने लगी और उसके स्वागत के लिए तुर्की साहित्य ने अपना द्वार उन्मुक्त कर दिया।

ओटोमन तुर्की-भाषा के शब्द-समूह में, तीन सर्वथा भिन्न भाषाओ के शब्द सम्मिलित थे। ये तीन भाषाएँ थी—अरबी, फारसी एव तुर्की। परम्परा से अरबी-फारसी शब्द तुर्की शब्दो की अपेक्षा अधिक सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे किन्तु अब लोगो के मन मे यह भावना आयी कि तुर्की शब्दो को प्रमुख एवं सर्वोच्च स्थान मिलना चाहिए। सन् १८७४ ई० मे सुलेमान पाशा ने 'सर्फे-तुर्की' नामक तुर्की-भाषा का व्याकरण लिखा जिसमे उन्होने यह सुझाव उपस्थित किया कि भाषा का नाम 'ओटोमन तुर्की' के बजाय केवल तुर्की होना चाहिए। तुर्की भाषा के सम्बन्ध मे अपने हृदय के उद्‌गार प्रकट करते हुए श्री पाशा ने इसी पुस्तक मे यह भी लिखा—"वस्तुत तुर्की अपढ किसानो की भाषा नही है अपितु वह सस्कृतिवाहिनी भाषा है और वह ओटोमन साम्राज्य से पुरानी है।"

तुर्की भाषा-सम्बन्धी ऊपर की राष्ट्रीय विचारधारा का प्रथम प्रवर्त्तक शेम्सेद्दीन सामी था। वह कोशकार था और अल्बैनिया का निवासी था। उसने सन् १८८१ के अपने एक महत्वपूर्ण लेख मे लिखा था—"ओटोमन तुर्की, पूर्वी तुर्की से कोई भिन्न भाषा नही है। पूर्वी तुर्की, उच्चारण मे, यद्यपि कठोर भाषा है तथापि उसमे तुर्की भाषा के मूल तत्त्व प्रभूत मात्रा मे सुरक्षित हैं और इस प्रकार वह अधिक पूर्ण भाषा है। ओटोमन तुर्की मे सुधार एव उसे समृद्ध बनाने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि इसमे अरबी के स्थान पर पूर्वी तुर्की के शब्द लिये जायँ। पूर्वी तुर्की के अनेक शब्द ओटोमन साहित्य मे सुरक्षित है और ये आज भी अनातोलिया की बोली मे व्यवहृत होते हैं। चूंकि अरबी-फारसी के अनेक शब्द, आज भी ओटोमन तुर्की मे, अपने विदेशी रूप मे ही है अतएव उनके स्थान पर तुर्की के दैनिक जीवन के शब्दो को व्यवहृत करना उचित है।"

शेम्सेद्दीन के ऊपर के विचारो का, टर्की के उच्च वर्ग के लोगो पर बहुत कम प्रभाव पडा। कतिपय लेखको तथा समाचार-पत्रो के सम्पादको ने सुधार की ओर कदम तो बढाया किन्तु अन्ततोगत्वा भाषा-सुधार-सम्बन्धी यह आन्दोलन

सफल न हो सका। बात यह है कि अभी सुधार के लिए उपयुक्त अवसर न था। इस युग के अधिकांश कवि प्राय सुधार के विपक्ष मे थे। उनके अनुसार बोलचाल की तुर्की भाषा मानव-हृदय के सूक्ष्म भावो को प्रकट करने मे असमर्थ थी। इन कवियो ने अरबी-फारसी के अनेक नये अप्रचलित शब्दो का व्यवहार आरम्भ किया तथा फारसी के अनेक नये सामासिक शब्दो का निर्माण किया। इस प्रकार साहित्यिक ओटोमन भाषा एक बार पुन बोलचाल की भाषा से दूर हटकर अपने पुराने स्थान पर जा पहुँची।

यह अवस्था बहुत दिनो तक न रह सकी। सन् १८९७ मे मेहमत एमिन ने बोलचाल की तुर्की मे अपनी राष्ट्रीय कविताएँ प्रकाशित की जिसमे अरबी-फारसी शब्द अत्यल्प मात्रा मे थे। सन् १९०८-९ की क्रान्ति से तुर्की भाषा के सुधार का दूसरा युग आरम्भ होता है। इस समय साम्राज्य के नये शासक जनता मे, राजनीतिक जागरण उत्पन्न करने के लिए उत्सुक थे। इस कार्य के लिए समाचार-पत्रो का सहयोग आवश्यक था। वस्तुत जनसाधारण तथा अल्प शिक्षित सैनिको से सहायता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि समाचार-पत्रो की भाषा बोलचाल की भाषा हो। क्रान्ति के फलस्वरूप समाचार-पत्रो की भाषा मे बहुत-कुछ सुधार हो गया। इसी युग मे, अन्य आदर्शो पर, टर्की राष्ट्रीयता के आदर्श की विजय हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग टर्की के इतिहास तथा इस्लाम धर्म के पूर्व की सस्कृति एव लोक-साहित्य के अध्ययन मे विशेष रूप से प्रवृत्त हुए। उधर रूस छोडकर जो तुर्क इस्तम्बोल मे बसने के लिए आये थे उन्होने भी ज्ञान-विज्ञान की धारा की प्रगति मे सहायता दी। किन्तु चूँकि अभी तक लोगो पर धर्म का काफी प्रभाव था और उनका अगुआ खलीफा था, अतएव तुर्क लोग इस्लामी सस्कृति एव सभ्यता से अपने को पृथक् न कर सके।

भाषा-सुधार-सम्बन्धी योजना को सर्वप्रथम कार्यरूप मे परिणत करनेवाले कतिपय युवक थे जो सलोनिका से प्रकाशित होनेवाले 'गेन्श कालेम्लेर' (युवक लेखक) पत्र के लेखक थे। इसमे मुख्य, लघु-कथाकार—ओमेर सेयफेद्दीन तथा समाजशास्त्री जिया गोकल्प थे। कुछ तर्क-वितर्क के पश्चात् इन्होने तुर्की भाषा से, अरबी-फारसी-व्याकरण के नियमो एव इनके अनावश्यक शब्दो को निकालने का प्रस्ताव किया। दूसरी ओर अरबी-फारसी के जो शब्द बोलचाल की तुर्की मे घुल-मिल गये थे उन्हे भाषा मे सुरक्षित रखने का भी इन्होने सुझाव दिया। प्राचीन तुर्की के अप्रचलित शब्दो के प्रचलन एवं परिवार की अन्य भाषाओ से शब्द उधार लेने का इन्होने विरोध किया। पारिभाषिक शब्दो के सम्बन्ध मे इनका यह स्पष्ट मत था कि जो शब्द तुर्की मे न हो, उन्हे

अरबी धातुओ से बना लेना चाहिए (किन्तु सामासिक रूप मे नही) और आवश्यकतानुसार यूरोपीय भाषाओ से भी ये शब्द ले लेने चाहिए।

इन सुधारवादियो का मुख्य उद्देश्य एक नवीन, किन्तु सजीव भाषा का निर्माण करना था। इनकी इस भाषा का आधार, इस्तम्बोल की भाषा—विशेष रूप से स्त्रियो की भाषा थी जिसमे विदेशी-तत्त्व न्यूनतम मात्रा मे विद्यमान थे। व्यावहारिकरूप मे इन युवक लेखको ने जनसाधारण की भाषा का प्रयोग नही किया। इनकी भाषा वस्तुत शिक्षित लोगो की दैनिक-जीवन की भाषा थी जिस पर प्राचीन साहित्यिक भाषा का पर्याप्त प्रभाव था। भाषा के सुधार के सम्बन्ध मे इन युवक-लेखको के विचार न तो मौलिक थे और न नवीन ही। इनके पूर्व के सुधारवादियो ने भी इन सभी बातो की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित किया था, किन्तु सच बात यह है कि इस समय सुधार के लिए उपयुक्त वातावरण था, टर्की के युवक नेता तथा शासनाधिकारी भी इस सुधार के पक्ष मे थे। इस समय लोकसभा (पार्लियामेंट) के लिए सुल्तान के जो भाषण तैयार किये जाते थे उनकी भाषा सरल होती थी। रक्षामत्रालय ने भी अब अरबी-फारसी के कठिन शब्दो के स्थान पर सरल तुर्की शब्दो का व्यवहार आरम्भ किया। कविता मे भी अब अरबी-फारसी के छन्दो के स्थान पर प्राचीन तुर्की छन्दो का प्रयोग होने लगा। वास्तव में पुरातन पथियो के घोरविरोध करने पर भी सुधार की धारा न रुक सकी और प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त में 'ओटोमन तुर्की' के स्थान पर नवीन तुर्की भाषा प्रतिष्ठापित हो गयी।

सन् १९२८ ई० मे, तुर्की भाषा ने अतातुर्क कमाल पाशा का ध्यान आकर्षित किया। इसी समय से तुर्की भाषा के सुधार का नया अध्याय आरम्भ हुआ। ओटोमन तुर्की भाषा मे अरबी-फारसी के शब्दो का अस्तित्व अतातुर्क के लिए घोर लज्जा की बात थी। उनके अनुसार देश तथा स्वतत्रता की रक्षा मे तत्पर तुर्क राष्ट्र के लिए यह आवश्यक था कि वह जनता की भाषा, तुर्की को भी विदेशी शब्दो की गुलामी से मुक्त करे। अतातुर्क तथा उनके सहकर्मी पुरातन पथियो की इस विचारधारा से सहमत न थे कि विदेशी शब्दो के बिना तुर्की भाषा उच्च भावो को प्रकट करने मे असमर्थ है। कमालपाशा ने इस बात का अनुभव किया कि टर्की की सास्कृतिक उन्नति मे इस्लाम धर्म बाधक है, अतएव धर्मनिरपेक्ष गणतत्र राज्य की स्थापना को उन्होने अपना ध्येय बनाया। साहित्यिक तथा बोलचाल की तुर्की भाषा के बीच जो खाई थी, वह अतातुर्क के लिए असह्य थी। सम्पूर्ण देश को साक्षर बनाने के लिए इस बात की आवश्यकता थी कि देश की भाषा एक हो। यह कार्य असाधारण था और

इसके लिए समय की अपेक्षा थी किन्तु अतातुर्क मन्द गति से सुधार के विरोधी थे। उनके अनुसार नूतन भाषा के निर्माण के लिए न तो तुर्की भाषा के परम्परागत इतिहास पर दृष्टिपात करने की जरूरत थी और न पुराने लोगो की असुविधा पर ही ध्यान देने की आवश्यकता थी, चूंकि देश की उन्नति के लिए उस समय नवीन भाषा की आवश्यकता थी। अत. उसका तत्काल निर्माण भी अत्यावश्यक था। अतातुर्क का यह स्पष्ट मत था कि जिसप्रकार देश के आर्थिक तथा सामाजिक सुधार का उत्तरदायित्व राज्य पर है, उसीप्रकार भाषा के सुधार की जिम्मेदारी भी राज्य पर ही है, कवियो और लेखको पर नही। इसके लिए अतातुर्क ने 'तुर्की भाषा परिषद्' की स्थापना की जो शिक्षा-मत्रालय तथा अन्य सांस्कृतिक परिषदो के सहयोग से भाषा के सुधार-कार्य मे प्रवृत्त हुई।

नवीन लिपि

सन् १९२८ के अप्रैल मे टर्की की लोकसभा ने विधान की दूसरी धारा मे सशोधन किया। अब तक यह इस रूप मे थी—"टर्की राज्य का धर्म इस्लाम तथा इसकी राज्य भाषा तुर्की है।" लोकसभा ने इस धारा से धर्म को बिल्कुल उडा दिया। इसके अगले महीने मे अरबी अकों के स्थान पर उसने रोमक अकों का प्रचलन स्वीकार किया। सन १९२८ के जून मे, धार्मिक कृत्यो के लिए तुर्की भाषा के उपयोग का कार्यक्रम प्रकाशित हुआ। अभी तक धार्मिक कार्यों के लिए अरबी का प्रयोग होता था। इसी समय तुर्की भाषा के लिए रोमन-लिपि-निर्मात्री समिति सगठित की गयी और उसकी सिफारिश पर, नवम्बर मे, देश के लिए, लोकसभा द्वारा यह लिपि स्वीकार भी कर ली गयी। समिति का यह सुझाव था कि स्कूलो मे, अरबी के स्थान पर, इस नवीन लिपि को प्रचलित करने के लिए पाँच वर्ष आवश्यक है; किन्तु अतातुर्क को समिति का यह सुझाव पसन्द न आया और उन्होने आदेश दिया कि कुछ महीनो के भीतर ही लिपि-परिवर्तन सम्बन्धी यह कार्य सम्पन्न हो जाना चाहिए।

लिपि के इस परिवर्तन का तुर्की भाषा पर गहरा प्रभाव पडा। अरबी लिपि मे तुर्की के शब्द बेगाने-से लगते थे, इनकी अखरौटी (Spelling) कठिन थी और समय-समय पर यह बदलती भी रहती थी। इसके विपरीत अरबी-फारसी के हजारो शब्द, अरबी-लिपि के कारण, अपनी मूल अखरौटी मे ही सुरक्षित थे। लिपि-परिवर्तन के कारण अब स्थिति विपरीत हो गयी। अब तुर्की के शब्द इस नवीन लिपि मे, उच्चारण के अनुसार लिखे जाने लगे।

उधर पुरानी अखरौटी के आधार पर जब अरबी-फारसी शब्दो को रोमक-लिपि मे लिखा गया तो उनका विदेशी रूप स्पष्टतया दिखाई देने लगा। लिपि-परिवर्तन का एक यह भी प्रभाव पडा कि नवीन पीढ़ी के युवको को अब अरबी-फारसी शब्दो की व्युत्पत्ति, उनके रूपो तथा ढाँचे को समझना कठिन होने लगा; क्योंकि सन १९२९ के सितम्बर के बाद से, स्कूलो से अरबी-लिपि एकदम वहिष्कृत कर दी गयी। रोमक-लिपि मे लिखे जाने के कारण अरबी के **दुआ** (प्रार्थना), **दावेत** (निमत्रण), **तेदाइ** (एक दूसरे को बुलाना, विचार विनिमय), **इद्दिआ** (अधिकार), तथा **मुद्देइ** (वादी) शब्दो के रूप अब बिलकुल बदल गये और लोगो के लिए यह पहचानना अब कठिन हो गया कि ये सभी शब्द एक ही धातु से प्रसूत हुए है।

लिपि-सुधार-समिति ने अरबी की 'क', 'ख', 'ग', जैसी ध्वनियो के लिए कतिपय नवीन प्रतीको की व्यवस्था की थी, किन्तु केवल प्राचीन ग्रयो के सम्पादन के अतिरिक्त, कमाल पाशा ने, इन प्रतीको का व्यवहार अस्वीकार कर दिया। इस सम्बन्ध मे, स्पष्टरूप से, अपने विचार प्रकट करते हुए अतातुर्क ने कहा था—"विदेशी शब्दो के लिए नवीन प्रतीक (अक्षर) स्वीकार कर मैं तुर्की के वर्णों की सख्या मे वृद्धि करना उचित नही समझता। ये विदेशी शब्द तुर्की-भाषा मे जबरदस्ती घुस आये हैं और ये थोडे ही दिनो के मेहमान हैं।"

भाषा-परिषद् की स्थापना

सन् १९३१ मे कमाल पाशा ने 'तुर्की इतिहास परिषद्' की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य यह था कि लोग केवल 'ओटोमन इतिहास' का अध्ययन न कर, तुर्कजाति के इस्लाम के पूर्व के इतिहास का अध्ययन करे। इतिहास-परिषद् का प्रथम अधिवेशन सन् १९३२ की जुलाई मे अँकारा मे हुआ। इस अधिवेशन की समाप्ति के दिन कमाल पाशा ने इसके कतिपय विशिष्ट सदस्यो से भेंट की और 'तुर्की-भाषा-परिषद्' की स्थापना का सुझाव दिया। इसके परिणामस्वरूप, दूसरे दिन, (१२ जुलाई सन् १९३२ को) 'तुर्की-भाषा-परिषद्' (तुर्क दिल कुरुम) की नियमितरूप से स्थापना हुई। भाषा-परिषद् की नियमावली की दूसरी धारा के अनुसार, इस परिषद् का उद्देश्य तुर्की भाषा को समृद्ध बनाना तथा उसे ससार की श्रेष्ठतम भाषाओ की पक्ति मे बैठाना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक समिति सगठित की गयी जिसे तुर्की भाषा एव व्याकरण के अनुसार, पारिभाषिक शब्दो के निर्माण एव प्रचलित शब्दो के चयन का भार सौंपा गया।

तुर्की-भाषा-परिषद् का प्रथम अधिवेशन, सन् १९३२ मे पुराने सुल्तान

तुर्की भाषा मे शुद्धीकरण की धारा

सन् १९३३-३४ मे तुर्की भापा को विशुद्ध बनाने का कार्यक्रम चला। सन् १९३३ के मार्च से, भापा-परिषद् ने इस कार्य को आरम्भ किया था। तीन महीने तक, प्रतिदिन, शेम्सेद्दीन सामी के 'कौमुसे तुर्की कोश' से १०-२० अरवी-फारसी के शब्द, समाचार-पत्रो के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित कर दिये जाते थे और जनता से माँग की जाती थी वह इन शब्दो के तुर्की प्रतिशब्द, सुझाव रूप मे प्रकाशित करे। जनता, प्रेस तथा रेडियो के सहयोग से, इस प्रकार, १४०० तुर्की पर्यायवाची शब्द प्रकाशित किये गये। किन्तु यह कार्य सफल सिद्ध नही हुआ। बात यह है कि केवल १८०० विदेशी शब्दो के तुर्की पर्याय से ही यह कार्य पूरा होनेवाला न था क्योकि तुर्की-भापा मे अरवी-फारसी शब्दो की सख्या बहुत थी। तब विदेशी शब्दो के तुर्की-पर्याय के लिए एक लाख पच्चीस हजार सकलित शब्दो की छान-बीन की गयी। यह कार्य विविध स्कूलो के उत्साही अध्यापको ने किया और इसे पाँच सप्ताह में ही पूरा कर डाला। काम के सिलसिले मे इस बात का अनुभव हुआ कि तुर्की भाषा मे जातिवाचक सज्ञा शब्द तो हैं किन्तु भाववाचक शब्दों का अभाव है। इस अभाव की पूर्ति प्राचीन-साहित्य एव पुराने कोषों के उपलब्ध इसप्रकार के शब्दो से की गयी। सन् १९३४ के ग्रीष्म में विदेशी शब्दो के तुर्की पर्यायवाची कोश 'तरमादेर्गिसि' (Tarma dergisi) का प्रकाशन हुआ। इसमें सात हजार विदेशी शब्दो के तीस हजार तुर्की-पर्यायवाची शब्द दिये गये।

'तरमादेर्गिसि' के प्रकाशन से तुर्की भाषा के शुद्धीकरण का कार्य अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया। यह ठीक वही समय था जब तुर्की मे इस्लाम धर्म के विरुद्ध जोरो से प्रचार-कार्य चल रहा था। सन् १९३३-३५ मे इस्तम्बोल विश्वविद्यालय के धर्म फैकल्टी (Theological faculty) को 'इस्लामिक रिसर्च इंस्टिट्यूट' मे बदल दिया गया। लोगो को आदेश दिया गया कि वे धार्मिक अवसरो पर पहने जानेवाले वस्त्र अन्य स्थानो तथा अवसरो पर न पहनें। धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली उपाधियाँ समाप्त कर दी गयी। प्रसिद्ध 'आयासोफिया' (हैगिया सोफिया) को म्युजियम मे परिणत कर दिया गया तथा अन्य अनेक मस्जिदे बन्द कर दी गयी। इसी समय शुक्रवार के बजाय रविवार को छुट्टी दी जाने लगी तथा स्कूलो मे धार्मिक-शिक्षा बन्द कर दी गयी।

शुद्धीकरण की प्रवृत्ति इस समय कितने जोरो पर थी इसका अनुमान गालाटासरयि माध्यमिक स्कूल एव इस्तम्बोल विश्वविद्यालय के छात्रो की सन् १९३३ की उस घोषणा से मिलता है जब उन्होने भापा-परिषद् के

पास इस आशय का प्रस्ताव भेजा था कि विदेशी शब्दो के साथ किसी प्रकार के समझौते की जरूरत नही। उनके अनुसार तुर्की भाषा के भद्दे से भद्दे शब्द भी विदेशी भाषा के सरस शब्दो से श्रेष्ठ है। इस युग के लोगो के मनोभाव की तुलना १९वी शताब्दी के मध्य भाग के ओटोमन के लेखको से की जा सकती है जिनके लिए अरबी-फारसी का प्रत्येक शब्द तुर्की शब्दो से श्रेष्ठ था। अब अनातोलिया के गाँव मे प्रचलित साधारण तुर्की शब्द अथवा सुदूर साइबेरिया की तुर्की बोली मे उपलब्ध शब्द की कदर होने लगी। इसके विपरीत दैनिक-जीवन मे परम्परा से प्रयुक्त होनेवाले अरबी-फारसी शब्द विदेशी एव निकृष्ट माने जाने लगे और उन्हे तुर्की भाषा से निकालकर उनके स्थान पर तुर्की शब्दो को बिठाने का प्रयत्न होने लगा।

इस युग के लोगो की मानसिक स्थिति का पता उन खोज-विवरणो मे मिलता है जहाँ दैनिक जीवन के 'सज़ा', 'दफ्तर', 'दौलत', 'दीन', (धर्म), 'दोस्त', 'कबूल' (स्वीकार), 'कानून', 'जरर' (हानि) जैसे अरबी-फारसी के शब्द सकलित किये गये हैं। ये शब्द तुर्की के प्राय. अशिक्षित लोगो मे भी प्रचलित थे। भाषा-परिषद् ने इन शब्दो के लिए भी तुर्की पर्याय दिया है जिससे स्पष्टरूप से प्रतीत होता है कि इन शब्दो के भी बहिष्कार के वह पक्ष मे है। 'तरमादेर्गिसि' मे भी अनेक ऐसे विदेशी शब्दो के तुर्की-पर्याय दिये गये हैं जो जनसाधारण द्वारा प्रयुक्त होते थे।

उदार-नीति की ओर

'तरमादेर्गिसि' मे प्रत्येक विदेशी शब्द के अनेक तुर्की पर्याय दिये गये थे। इसके प्रकाशन के बाद पुन: भाषा-परिषद् ने जनता से इस बात की अपील की कि वह उपयुक्त शब्दो के चुनाव के सम्बन्ध मे अपना मन्तव्य प्रकाशित करे। अनेक लोगो ने अपने सुझाव भेजे। इसकी छानबीन की गयी। अगस्त, सन् १९३४ के भाषा-परिषद् के द्वितीय अधिवेशन मे, इस सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय करने का मन्तव्य स्वीकृत हुआ। सन् १९३५ (मार्च-मई) मे सर्व-सम्मति से स्वीकृत शब्द समाचार-पत्रो में प्रकाशित कर दिये गये तथा इनके सम्बन्ध मे जनता को अपने सुझाव भेजने का एक मास का समय दिया गया। अन्ततोगत्वा, सन् १९३५ (सितम्बर-नवम्बर) मे, इन प्रयत्नो के फल-स्वरूप दो पॉकेट कोश तैयार किये गये—१ 'आटोमन टर्किश पॉकेट कोश,' जिसमे अरबी-फारसी शब्दो के तुर्की पर्यायवाची शब्द थे, २. 'टर्किश ओटो-मन पॉकेट कोश' जिसमे तुर्की शब्दो के अरबी-फारसी पर्याय उपलब्ध थे।

'तरमादेर्गिसि' के प्रकाशन के कतिपय वर्ष बाद भाषा-परिषद् के मनोभाव

मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। सन् १९३३-३४ के अति-शुद्धीकरण के वाद, परिपद् को इस वात का अनुभव हुआ कि अरवी-फारसी के उन शव्दो को जो जन-साधारण के जीवन मे घुलमिल गये हैं, निकाल फेकना नितांत कठिन है। इसके वाद परिपद् ने अपने शुद्धीकरण की नीति की गति को किंचित् मन्द कर देना उचित समझा। 'किलावुज़' के अवसर पर परिपद् ने यह वक्तव्य प्रकाशित किया—"इस ग्रथ के प्रकाशन का उद्देश्य उन विदेशी शव्दो को प्रकाशन मे लाना है जो केवल साहित्यिक अथवा लिखित भापा मे प्रयुक्त होते हैं किन्तु जो वोलचाल की भापा मे व्यवहृत नही होते। तुर्की भापा मे सुधार करने का उद्देश्य उसे विशुद्ध वनाना नहीं है अपितु साहित्य एव शिक्षा की भाषा को वोलचाल की भाषा के निकट लाना है।" जैसा कि 'किलावुज़' की भूमिका मे लिखा है—"इस पुस्तक की रचना व्यावहारिक दृष्टिकोण से की गयी है और इसका कार्य लेखको का मार्ग-दर्शन करना है ताकि साहित्य की भापा को वे जन-भापा के निकट ला सके।"

सुधार-सम्वन्धी परिवर्तित-मनोवृत्ति के कारण अरवी-फारसी के सैकड़ों शव्द 'किलावुज़' मे सुरक्षित रखे गये, किन्तु ध्वन्यात्मक दृष्टि से वे तुर्की रूप मे ढाल दिये गये थे। इनके दो-एक तुर्की पर्याय भी दिये गये थे। खोज-विवरणो मे, जन-साधारण मे प्रचलित अरवी-फारसी शव्दो को भी विदेशी मानकर अलग रखा गया था किन्तु 'किलावुज़' मे उन्हे तुर्की शव्दो की श्रेणी मे ही रखा गया। इसी प्रकार अरवी फारसी के जिन साधारण शव्दो के लिए तुर्की पर्याय देने की जरूरत नही थी उन्हे 'किलावुज़' मे स्थान नही दिया गया।

इस नूतन उदार नीति का यह सैद्धान्तिक कारण दिया गया कि 'शव्द-व्युत्पत्ति-समिति' के अनुसार अरवी-फारसी के अनेक शव्द जिन्हे विदेशी माना गया है, मूलत. तुर्की-भाषा के हैं और तुर्की से ही वहाँ गये हैं। 'किलावुज़' के प्रकाशन के समय ही तुर्की मे 'पुत्र-भाषा सिद्धान्त' (गुनेश्-दिल त्योरिसि) का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अनुसार जिस प्रकार तुर्को का प्राचीन स्थान, 'मध्य एशिया' मानव सभ्यता का मूल स्थान है, उसी प्रकार तुर्की भापा, विश्व की सभी भापाओ की जननी है। सन् १९३५ के सितम्वर-नवम्वर के वाद इस सिद्धान्त की पुष्टि मे अनेक पत्रक एव लेख प्रकाशित हुए जिनमे यह सिद्ध किया गया कि ओटोमन मे प्रयुक्त अरवी-फारसी तथा यूरोपीय भाषाओ के शव्द मूलत तुर्की से ही प्रसूत हुए हैं। यह नूतन सिद्धान्त इतना प्रवल एव महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ कि भाषा-परिषद् को अव किसी शव्द को विदेशी कहकर वहिष्कृत करने की जरूरत ही न रह गयी। तर्क से यह वात विलकुल ठीक थी। जव तुर्की से ही विश्व की सभी भाषाएँ प्रसूत हुई हैं तो

इन भाषाओ के शब्द भी मूलत. उसी के हैं, अतएव उसका शुद्धीकरण निरर्थक एव व्यर्थ है ।

तुर्की भाषा के आधुनिक लेखको के अनुसार जब अतातुर्क की भाषा-सुधार-सम्बन्धी नीति सफल न हुई तब उन्होंने भाषा-विषयक नवीन सिद्धान्त को परिचालित किया । इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य मे विदेशी शब्दो के बदले तुर्की-शब्दो को प्रचलित करने की गति मन्द पड गयी। इस सम्बन्ध मे अतातुर्क ने लोगो के सामने आदर्श उपस्थित किया। सन् १९३४ के नवम्बर मे उन्होंने 'हकिमियेते-मिल्लिये' समाचार-पत्र का नाम बदलकर 'उलुस' (राष्ट्र) रखा था। 'उलुस' शब्द तुर्की भाषा मे बहुत पहले लुप्त हो चुका था और उसे समझने में लोगो को बहुत कठिनाई हो रही थी। अतातुर्क ने पुन इसे बदलकर इसका नामकरण 'मिल्लत' (अरबी) किया। 'तरमादेर्गिसि' मे नित्य के व्यवहार मे आनेवाले अरबी-फारसी शब्दो के भी तुर्की पर्याय दिये गये किन्तु 'किलावुज' मे ये शब्द बिना पर्याय के रखे गये। वस्तुत यह अतातुर्क की भाषा-सम्बन्धी नीति का दूसरा उदाहरण था। सन् १९३५ मे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी कि अतातुर्क को उधर ध्यान देना आवश्यक हो गया। अतएव उन्होंने भाषासुधार की अपनी क्रान्तिकारी नीति मे परिवर्तन कर दिया, किन्तु पारिभाषिक शब्दो के निर्माण का कार्य पूर्ववत् चलता रहा ।

भाषा-परिषद् का तीसरा अधिवेशन सन् १९३६ के अगस्त मे हुआ। उधर परिषद् पारिभाषिक शब्दो के निर्माण में सलग्न थी। परिषद् का प्रथम उद्देश्य प्राइमरी तथा मिडिल तक के छात्रो के लिए पारिभाषिक शब्द तैयार करना था। सन् १९३३-३४ मे तीस हजार विदेशी शब्दो की सूची तैयार की गयी और उनका तुर्की प्रतिरूप देने के लिए उन्हे विशेषज्ञो के पास भेज दिया गया। विशेषज्ञो द्वारा गढे गये तुर्की शब्दो की छान-बीन की गयी और इसके बाद गणित एव भौतिक-विज्ञान के पारिभाषिक शब्दो की अस्थायी सूची तैयार की गयी। सन १९३७ मे परिषद् ने यह सूची शिक्षा-मत्रालय के पास भेज दी। मत्रालय ने अध्यापको तथा अन्य लोगो से अनुरोध किया कि वे इन शब्दो के आवश्यक सुधार के सम्बन्ध मे अपने सुझाव उपस्थित करे। लोगो के सुझाव के बाद विविध समितियो ने इनके सम्बन्ध मे पुन विचार किया। इस प्रकार अन्त में पाँच हजार पारिभाषिक शब्दो की सूची तैयार हो गयी। सन् १९३९ मे सरकार ने इन्हे स्वीकार कर लिया और पाठ्य-पुस्तको मे इन्हे चालू करने की आज्ञा दी ।

सन् १९३८ के नवम्बर मे अतातुर्क की मृत्यु हो गयी और इसके बाद

तुर्की भाषा मे सुधार अथवा क्रान्ति की गति और मन्द पड गयी। अर्द्धसरकारी पत्र 'उलुस' तक ने भाषा-सुधार के सम्बन्ध मे अतिवाद का विरोध किया। सन् १९३४ में तुर्की के समाचार पत्र 'वक्त' का अरबी नाम बदलकर 'कुरुन' रखा गया था किन्तु सन् १९३९ मे इसका नाम पुन वक्त कर दिया गया। इसीप्रकार प्रान्त तथा जिले के लिए पहले अरबी शब्द 'विलायत' एव 'काजा' प्रयुक्त होते थे किन्तु बाद मे इन्हे तुर्की 'इल' एव 'इल्से' मे परिणत कर दिया गया। अतातुर्क की मृत्यु के पश्चात् पुन पुराने शब्दो—विलायत एव काजा— का ही प्रयोग होने लगा। यद्यपि 'पुत्र-भाषा' सम्बन्धी सिद्धान्त अब समाप्त हो गया था तथापि भाषा-परिषद् ने अपनी नीति उदार रखी। सन १९४० मे परिषद् के महामंत्री ने अपने इस मन्तव्य को पुन दुहराया कि जो विदेशी शब्द तुर्की भाषा मे घुल-मिल गये हैं उन्हे नागरिकता प्राप्त हो गयी है और कुछ शर्तो के साथ उन्हे तुर्कीभाषा के शब्द-समूह मे सम्मिलित कर लेना चाहिए।

शुद्धीकरण का पुनः प्रयत्न

जिस समय भाषा-सुधार-सम्बन्धी आन्दोलन प्राय समाप्त हो चुका था उसी समय अतातुर्क के उत्तराधिकारी ने शुद्धीकरण का आन्दोलन पुन. चलाया। इस्तमत इनोनु भाषा-सुधार आन्दोलन मे सदैव दिलचस्पी लेते रहे। अपने प्रधान मंत्रित्वकाल मे, सन् १९२९ की फरवरी मे, उन्होने विद्वानो एव अध्यापको के समक्ष भाषण देते हुए कहा था—"आधुनिक तुर्की भाषा मे ऐसे कोश का निर्माण होना चाहिए जिसकी भाषा सरल एव शुद्ध हो।" सन् १९४१ मे, भाषा-सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए प्रेसिडेंट इनोनु ने कहा—"अतातुर्क ने तुर्की को शुद्ध करने तथा उसे राष्ट्रभाषा बनाने के लिए जो प्रयत्न किया था उसे जारी रखना चाहिए।" इसके एक महीने बाद इनोनु ने लोकसभा के समक्ष विशुद्ध तुर्की मे भाषण देकर लोगो के सामने आदर्श उपस्थित किया।

राष्ट्रपति इनोनु ने अपने एक भाषण मे, जनता से, विदेशी शब्दो के बहिष्कार के लिए अनुरोध किया था। भाषा-परिषद् ने तुर्की भाषा के शुद्धीकरण के लिए इसे अपना नारा बनाया। राष्ट्रपति की विचारधारा की पुष्टि में, सन् १९४१-४२ मे, 'उलुस' ने अनेक लेख प्रकाशित किये। समाचार-पत्रो, प्रेस के प्रतिनिधियो तथा रेडियो ने भी तुर्की भाषा के शुद्धीकरण मे योगदान दिया। इस आन्दोलन का मन्तव्य यह न था कि विदेशी शब्दो के तुर्की-पर्याय ढूँढे जायँ अपितु इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि भाषा-परिषद् जिस रूप मे तुर्की-भाषा मे सुधार करना चाहती थी, लोग उसे स्वीकार करे।

तुर्की मे भापा-परिवर्तन-सम्बन्धी इस आन्दोलन का सूत्रपात ठीक उस ममय हुआ जब सरकार अतातुर्क के धर्म-निरपेक्ष सुधारो को परिचालित करने मे दृढता-पूर्वक कार्य कर रही थी। सन् १९४१ की २ जून को लोक-सभा ने तुर्की के फौजदारी के कानून की ५२६वी धारा को सशोधित किया जिसके अनुसार तुर्की टोपी पहनने तथा अरबी अक्षरो के प्रयोग करने के लिए सजा की मियाद बढ़ा दी गयी। इसी प्रकार अरबी मे 'एजान' (नमाज के पूर्व की घोपणा) के प्रयोग के लिए तीन महीने का जेल दण्ड निर्धारित किया गया। सन् १९३२ के प्रथम भापा-परिपद् के समय ही नमाज़ (प्रार्थना) को तुर्की में अनूदित कर दिया गया था और लोग प्राय तुर्की मे ही प्रार्थना करने लगे थे।

तुर्की भापा के शुद्धीकरण के प्रयत्न का व्यावहारिक रूप वस्तुत भापा-परिपद् के सन् १९४२ के प्रकाशनो मे स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। इस वर्ष परिपद् ने दर्शन, शिक्षा, समाजशास्त्र तथा व्याकरण-सम्बन्धी शब्दो की सूचियो का प्रकाशन किया था। सन् १९३९ मे परिपद् की ओर से जो शब्द-सूची प्रकाशित की गयी थी, उससे परिपद् की उदारनीति का पता चलता है क्योंकि इनमे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय शब्दो को भी स्थान मिला था, किन्तु सन् १९४२ मे परिपद् ने अपनी नीति बिल्कुल बदल दी। अब पारिभापिक शब्दों की सूची मे बहुप्रचलित विदेशी शब्द भी निकाल दिये गये और उनका स्थान शुद्ध तुर्की-शब्दो ने ले लिया।

भापा-परिपद् की ऊपर की नीति लोगो को पसन्द न आयी। यह प्रथम अवसर था जब लोगो ने परिपद् की नीति का विरोध किया। इस नीति की सब से कडी आलोचना शिक्षा-सस्थाओ ने की। इस्तम्बोल विश्वविद्यालय के प्राध्यापको ने वैज्ञानिक शब्दो के निर्माण मे, परिषद् की प्रामाणिकता अस्वीकार कर दी। बात यह थी कि विश्वविद्यालय तथा कई अन्य शिक्षा-सस्थाएँ पारिभापिक शब्दो के निर्माण का कार्य स्वय कर रही थी। सन् १९४१ मे, विश्वविद्यालय की केन्द्रीय-समिति ने पारिभापिक शब्दो के सम्बन्ध मे कतिपय सिद्धान्त बनाये किन्तु भापा-परिपद् ने इन्हे अस्वीकार कर दिया। विश्वविद्यालय के अधिकारी प्रगतिशील राष्ट्रो द्वारा स्वीकृत अन्तर्राष्ट्रीय पारिभापिक शब्दो को तुरन्त चालू करने के पक्ष मे थे किन्तु परिपद् के मतानुसार धीरे-धीरे इनके लिए विशुद्ध तुर्की शब्दो का गढना आवश्यक था।

विश्वविद्यालय के प्राध्यापको का कथन था कि अन्तर्राष्ट्रीय पारिभापिक शब्दो के प्रयोग से यह लाभ होगा कि तुर्की के छात्र पश्चिमी देशों के वैज्ञानिक अनुसन्धानो को सरलतया हृदयगम कर सकेंगे। इनके मतानुसार प्रत्येक विदेशी पारिभापिक शब्द के लिए तुर्की पर्याय ढूँढना कठिन एव अनावश्यक था।

भापा-परिपद् के सदस्य जिनमें श्री इस्माइल हाक्किवाल्त चिग्ल भी थे, प्राव्यापकों के विचार से सहमत न थे। श्री इस्माइल ने इस सम्बन्ध मे जर्मन, जापानी, फिन्नीय तथा हुंगेरीय लोगों का उदाहरण देते हुए कहा कि इन राष्ट्रों ने अपनी-अपनी भाषाओं में पारिभाषिक शब्दो का निर्माण किया है। श्री इस्माइल के मतानुसार ग्रीक तथा लैटिन से बने हुए पारिभाषिक शब्द भारोपीय परिवार की भाषाओंवाले देशों मे प्रचलित हो सकते हैं किन्तु तुर्की मे इन्हे चालू करना ठीक नही; क्योंकि तुर्कीभाषा अन्य परिवार की है। परिषद् के अन्य सदस्य भी अन्तर्राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दों के इसलिए विरुद्ध थे कि ग्रीक-लैटिन भाषाएँ तुर्की के स्कूलों मे नही पढाई जाती।

विश्वविद्यालय के प्राव्यापको का एक यह भी तर्क था कि पारिभाषिक शब्दो के अभाव मे न तो विविध विषयो का अध्ययन-अध्यापन ही बन्द किया जा सकता है और न नवीन पुस्तको का प्रकाशन ही। दूसरी ओर भाषा-परिषद् पारिभाषिक शब्दो के तत्काल निर्माण करने मे असमर्थ थी। कार्य अत्यधिक गुरुतर था। उदाहरणस्वरूप एक लाख पच्चीस हजार जर्मन पारिभाषिक शब्दो के तुर्की पर्याय देने के लिए, तीन सौ तुर्क वैज्ञानिक सन् १९३८ से सन् १९४९ तक व्यस्त रहे। यद्यपि विश्वविद्यालय से किसी प्रकार का समझौता न हो सका तथापि भाषा-परिषद् अपने कार्य मे व्यस्त रही और सन् १९४८-४९ में उसने कानून, प्राणि-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, साहित्य एव भाषा-शास्त्र तथा कृषि-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दो की सूचियाँ प्रकाशित की।

नवीन कोश तथा संविधान का नूतन संस्करण

सन् १९४१ से तुर्की भाषा के शुद्धीकरण की जो धारा चली थी उसका प्रभाव इस युग मे निर्मित तुर्कीकोश पर भी पडा। सन् १९३९ मे ही भाषा-परिषद् ने इस कोश के निर्माण का कार्य अपने हाथो में लिया था। इसके निर्माण का उद्देश्य यह था कि भाषा-सुधार-आन्दोलन के फलस्वरूप जितने नवीन शब्द तुर्की मे चालू हो गये हैं उन्हे इस कोश में एकत्र कर दिया जाय। अनेक वर्षो के अनुसन्धान एवं कठिन परिश्रम के परिणामस्वरूप 'तुर्कशे सोज़्लुक' (तुर्की-तुर्की-कोश) का प्रकाशन हुआ।

कई दृष्टियो से यह कोश पूर्व प्रकाशित कोशों से महत्त्वपूर्ण है। पारिभाषिक शब्दो के अतिरिक्त, इस कोश मे बोलचाल मे प्रयुक्त होनेवाले विदेशी शब्द भी हैं। इसकी एक विशेषता यह भी है कि भविष्य मे प्रयुक्त करने के लिए नये शब्द भी इसमे दिये गये हैं। बहुत वाद-विवाद के बाद भाषा-परिषद् ने यह निश्चय किया था कि जो विदेशी शब्द, बोलचाल की तुर्की भाषा में

नहीं प्रयुक्त होते उन्हे इस कोश मे स्थान नही मिलना चाहिए। 'सोज़लुक' की भूमिका में विदेशी शब्दो के सम्बन्ध मे यह विचार प्रकट किया गया था—"इस कोश में आ जाने से ही विदेशी शब्दों को तुर्की भाषा मे सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। इस बात के लिए सदैव यत्न होना चाहिए कि इनके तुर्की-पर्याय मिले ताकि अगले सस्करण मे इनके स्थान पर उन्हे दिया जा सके।" सच बात तो यह है कि विदेशी शब्दो से तुर्की भाषा को मुक्त करने के लिए ही 'सोजलुक' का निर्माण हुआ था और इसके सम्पादको को यह आशा थी कि विदेशी शब्द बहुत दिनो तक तुर्की भाषा मे न रह सकेंगे।

भाषा के शुद्धीकरण के भाव का पूर्ण प्रतिबिम्ब वस्तुत विधान के नूतन-सस्करण मे मिलता है। विधान मे प्रयुक्त शब्दावली का कानून तथा विज्ञान के पारिभाषिक शब्दो पर भी स्वाभाविक रीति से प्रभाव पडता है। इसी प्रकार प्रेस, रेडियो तथा शासन-सम्बन्धी शब्दावली पर भी विधान की भाषा का प्रभाव अवश्यम्भावी है। विधान की भाषा को ठीक करने मे लगभग तीन वर्ष लगे। सर्वप्रथम इस्तम्बोल और अकारा विश्वविद्यालयो के कानून विभाग के प्राध्यापको तथा लोकसभा के सदस्यो एव भाषा-शास्त्रियो ने विधान का प्रारूप तैयार किया। भाषा-परिषद् को इसकी भाषा मे कुछ त्रुटियाँ मालूम पडी, इसलिए उसने अपना अलग प्रारूप तैयार किया। इसी प्रकार अन्य लोगो ने भी विधान के अपने-अपने प्रारूप तैयार किये। अन्त मे इन सभी प्रारूपो पर विचार कर विधान की प्रामाणिक प्रति तैयार की गयी जिसे सन् १९४५ की जनवरी मे लोकसभा ने स्वीकार कर लिया। इस नूतन सस्करण में, विधान की भाषा मे किस रूप मे परिवर्तन हो गया, इसे स्पष्ट करने के लिए इसकी २६वी धारा से, यहाँ उदाहरण दिया जाता है। सन् १९२४ के विधान के संस्करण मे इस धारा मे ६६ शब्द अरबी के तथा केवल ७ शब्द तुर्की के थे, किन्तु इसके १९४५ के सस्करण मे (जिसमे दो शब्द कम थे) ३७ शब्द तुर्की के, १ शब्द फ्रेंच का तथा ३३ शब्द अरबी के हो गये। यदि इस धारा मे अरबी के दो बार आये हुए शब्दो को केवल एक ही बार गिने तो इनकी सख्या ५० से १५ रह गयी। विधान की कुल १०५ धाराओ मे अरबी-फारसी शब्दो की संख्या केवल १४० है। इनमे वे शब्द सम्मिलित नही है जो विदेशी शब्दो मे तुर्की-प्रत्यय जोडकर बनाये गये है। यूरोपीय भाषाओ के तो इनमे केवल १० शब्द ही है। विधान मे अरबी-फारसी के सैकडों शब्दो के स्थान पर तुर्की के शब्द दिये गये हैं और जो विदेशी शब्द हैं भी, उन्हे तुर्की ध्वनि एव व्याकरण का जामा पहना दिया गया है। धार्मिक तथा राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विदेशी शब्दो को वि ान मे सुरक्षित रखा

गया है किन्तु इनके सम्बन्ध मे टिप्पणी मे यह भी कहा गया है कि ये शब्द तुर्की भाषा में चन्द दिनो के मेहमान हैं। यह होते हुए भी विधान के इस नूतन सस्करण मे समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही प्रधान है। उदाहरणस्वरूप प्रान्त और जिले के लिए अरबी 'विलायत' और 'कजा' शब्द तो इस विधान में बहिष्कृत कर दिये गये है किन्तु नगरपालिका, छोटे नगर तथा बडे नगर के लिए इसमे 'बेलेदिये', 'कस्बा' तथा 'शहर' शब्द सुरक्षित रखे गये है।

भाषा-परिषद् का विरोध

शुद्ध तुर्की में विधान के नवीन सस्करण की स्वीकृति वस्तुत भाषा-सुधार की चरम सीमा थी। उधर अतातुर्क तथा इनोनु ने राजनैतिक तथा धार्मिक क्षेत्रो मे जो भी सुधार किये थे उनके परिणामस्वरूप अब तुर्क जाति प्रजासत्तात्मक शासन चलाने के योग्य हो चली थी। अतएव सन् १९४५ के नवम्बर मे इनोनु ने अपनी नीति मे परिवर्तन किया और लोगो को लोकसभा मे प्रतिपक्षी अथवा विरोधी दल के निर्माण का अधिकार दिया। इस अधिकार के साथ ही तुर्की के राजनैतिक एव सास्कृतिक इतिहास मे एक नवीन अध्याय का आरम्भ हुआ। गत कई वर्षों से लोग भाषा-परिषद् की सुधार-योजनाओ से असन्तुष्ट थे किन्तु जब तक उसे एकतंत्र शासन का समर्थन प्राप्त था तब तक वे खुलकर उसकी आलोचना करने मे असमर्थ थे। किन्तु शासन मे प्रजासत्तात्मक-प्रणाली के प्रादुर्भाव तथा द्वितीय युद्ध के बाद लोग भाषापरिषद् का विरोध करने लगे। इन विरोधियो मे इस्तम्बोल के समाचार-पत्र, विश्वविद्यालय के प्राध्यापक तथा माध्यमिक स्कूलो के अध्यापक प्रमुख थे। तुर्की की 'विचार स्वातन्त्र्य-समिति' ने तो सन् १९४९ मे, एक विशेष अधिवेशन बुलाकर भाषा-परिषद् की नीति की आलोचना की और यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि भाषा के सम्बन्ध में किसी भी सस्था का किसी प्रकार का हस्तक्षेप उचित नही है। उधर धर्म-निरपेक्षता के नाम पर अतातुर्क ने, स्कूलो तथा विश्वविद्यालयो मे धार्मिक शिक्षा बहिष्कृत कर दी थी। किन्तु नवीन वातावरण मे वह पुन चालू की गयी।

भाषा-परिषद् के विरोध के अनेक कारण थे, जिनमे से पहला था लोगो का आलस्य। जिस भाषा को बडे-बूढे तथा अधिकारीगण लडकपन से बोलते आये थे उसे छोडकर वे नये शब्द तथा नयी भाषा सीखने के लिए तैयार न थे। समाचार-पत्रो के सम्पादको की यह आलोचना थी कि लोग दैनिक-पत्रों को जल्दी से जल्दी पढ़ना चाहते है, किन्तु नयी भाषा के कारण उन्हे इन पत्रो के पढते समय कोश की आवश्यकता पडती है। कवियो, कहानी एवं

उपन्यास लेखकों तथा अन्य साहित्यिकों की यह आलोचना थी कि नवीन भाषा के द्वारा वे भाव तथा चित्र लोगों के सम्मुख नहीं आ पाते जो पुरानी भाषा के द्वारा आते हैं। इसके अतिरिक्त इन्हें इस बात का भय था कि भाषा में निरन्तर परिवर्तन के फलस्वरूप निकट भविष्य में लोग उनकी कृतियों को समझने में असमर्थ हो जायेंगे। यद्यपि अनेक अध्यापक भाषा-परिषद् की नीति के समर्थक थे तथापि ऐसे अनेक पुराने लोग भी थे जो इसके विरोधी थे। बात यह थी कि वे नूतन भाषा सीखने में असमर्थ थे।

भाषा-परिषद् की नीति के विरोध के अन्य कारण मनोवैज्ञानिक एवं आदर्शमूलक थे। पुराने लोगों को इस बात का भय था कि अरबी तथा फारसी शब्दों के बहिष्कार का यह परिणाम होगा कि लोग प्राचीन धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा से विच्छिन्न हो जायेंगे। उदार-दल के लोगों को भाषा-परिषद् की नीति में एकतंत्रवाद की गन्ध आ रही थी। उनके अनुसार भाषा-निर्माण का काम कवियों एवं लेखकों का है, सरकार का नहीं।

भाषा-विकास की दृष्टि से भी परिषद् की कम आलोचना नहीं हुई। कतिपय लोगों का यह कथन था कि भाषा के अपने नियम हैं और उनके अनुसार वह स्वतः परिवर्तित होती रहती है। अतएव किसी सरकार अथवा परिषद् को यह अधिकार नहीं है कि वह संगठित ढंग से भाषा को परिवर्तित करने का प्रयत्न करे। इनके अनुसार समय की प्रगति के साथ तुर्की भाषा स्वतः सरल एवं सम्पन्न हो रही थी किन्तु भाषा-परिषद् उसके मार्ग में बाधक बन गयी। इन आलोचकों का कथन था कि भाषा की विशिष्टता तथा मौलिकता वस्तुतः उसके रूप-तत्त्व (Morphology) तथा वाक्य-तत्त्व (Syntax) में रहती है, उसके शब्द-समूह (Vocabulary) में नहीं।

अन्य लोगों के मतानुसार सुधार के कारण तुर्की भाषा असम्पन्न हो रही थी और उसका सौन्दर्य नष्ट हो रहा था। वे बहु-प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों के बदले अप्रचलित तुर्की शब्दों के चालू करने के प्रयास को व्यर्थ समझते थे। परिषद् ने भविष्य के लिए जो शब्द गढ़े थे उन्हें ये लोग ध्वनि, व्याकरण एवं अर्थ की दृष्टि से भद्दे एवं अशुद्ध मानते थे। इसी प्रकार अप्रचलित तुर्की शब्दों को प्रचलित करने तथा तुर्की के बाहर की तुर्की-भाषाओं से शब्द उधार लेने के भी ये विरोधी थे।

अनेक आलोचकों के अनुसार भाषा-परिषद् अपने प्रयास में असफल रही। वस्तुतः परिषद् का उद्देश्य तत्कालीन तुर्की भाषा को इस रूप में विकसित करना था ताकि वह जनसाधारण के विचारों के प्रकाशन का माध्यम बन सके, किन्तु यह कार्य छोड़कर भाषा-परिषद् एक नवीन कृत्रिम भाषा के निर्माण

मे संलग्न हो गयी। यह कृत्रिम भाषा वस्तुतः प्राकृत भाषा से दूर होती गयी जिसका स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि वह लोगों के लिए अबोधगम्य बन गयी। उनके अनुसार साक्षरों तथा निरक्षरों की भाषा में काफी अन्तर हो गया था और इसी प्रकार लिखित भाषा बोलचाल की भाषा से दूर होती जा रही थी।

यहाँ पर यह बात स्पष्टतया जान लेनी चाहिए कि सुधार के कट्टर से कट्टर विरोधी भी प्रतिक्रियावादी न थे। उनका भी यह मत था कि आधुनिक तुर्की का ओटोमन भाषा से पार्थक्य आवश्यक था, किन्तु इसके साथ ही ये लोग यह भी मानते थे कि सन् १९२८ तक तुर्की भाषा पर्याप्त रूप से विकसित हो चुकी थी और उसमें विशेष सुधार की जरूरत न थी। इन विरोधियों एवं आलोचकों की सब से बड़ी कमजोरी यह थी कि भाषा को सक्षम बनाने के लिए इनके पास कोई स्पष्ट कार्यक्रम न था। इसके अतिरिक्त भाषा-परिषद् की तरह विचारों के प्रचार के लिए न तो इनका कोई संगठन था और न इनके पास कोई साधन ही थे।

पुनः उदार नीति की ओर

आलोचना तथा विरोध के वातावरण में, सन् १९४९ के दिसम्बर में, भाषा-परिषद् का छठा अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के सभापति एक ऐसे सज्जन हुए जो वस्तुतः भाषा के शुद्धीकरण के विरोधी थे। इसी समय परिभाषा समिति ने यह निश्चय किया कि कुछ शर्तों के साथ, विश्वविद्यालय में अध्यापन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दों को चालू कर देना चाहिए।

सन् १९५१ की फरवरी में भाषापरिषद् का एक विशेष अधिवेशन हुआ। बात यह थी कि सन् १९५० के मई में जो चुनाव हुआ उसमें डेमोक्रेटिक दल की विजय तथा रिपब्लिकन दल की हार हो गयी। भाषापरिषद् का इस दूसरे दल से ही सम्बन्ध था। इसके हार के परिणामस्वरूप परिषद् के कतिपय नियमों में परिवर्तन आवश्यक हो गया। इस अधिवेशन में 'भाषा-परिषद्' को 'भाषा एकेडेमी' के रूप में परिवर्तित करने के प्रस्ताव पर खूब बहस हुई। लोग यह भी चाहते थे कि इस एकेडेमी के कतिपय विशेषज्ञ ही सदस्य हों। अन्त में प्रस्ताव स्वीकृत न हो सका किन्तु इस अधिवेशन का यह परिणाम हुआ कि परिषद् की सदस्यता तथा सभापतित्व आदि में बहुत अन्तर आ गया। अब भाषा में दिलचस्पी रखनेवाला प्रत्येक बालिग तुर्क भाषापरिषद् का सदस्य हो सकता था। इसी प्रकार अब तक परिषद् का सभापति कोई नेता या लोकसभा का सदस्य ही होता था किन्तु अब विद्वानों के लिए भी

इसका द्वार खुल गया। सन् १९५१ में परिषद् की कार्यकारिणी समिति में, विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों, भाषाशास्त्र के पंडितों तथा माध्यमिक स्कूल के अध्यापकों का बहुमत हो गया। इस बार भाषा-परिषद् के जो सभापति तथा महामंत्री चुने गये वे भाषा-सुधार के सम्बन्ध में उदार मतवादी थे। परिषद् ने अब मध्यम मार्ग को अपनाया। इस मार्ग की पृष्ठभूमि जीवित भाषा बनी। परिषद् ने शब्द-ग्रहण की नीति इस रूप में निर्धारित की: सर्वप्रथम स्थान बोलचाल तथा साहित्य में प्रचलित शब्दों का रहेगा। इसके बाद अप्रचलित अथवा बोलियों के शब्द आयेंगे। तदुपरान्त तुर्की के बाहर की तुर्की भाषा के शब्द आ सकते हैं और अन्त में दूर की बोलियों के भी शब्द ग्रहण किये जा सकते हैं।

सन् १९५० के चुनाव के बाद भाषापरिषद् का अर्द्धसरकारी रूप समाप्त हो गया था। उसे सरकार की ओर से जो सहायता मिलती थी उसमें बहुत कमी कर दी गयी। सन् १९५२ की २४ दिसम्बर को लोकसभा ने सन् १९४५ वाली विधान की भाषा को अस्वीकार करके पुनः सन् १९२४ वाली भाषा स्वीकृत की। इस सम्बन्ध में लोकसभा का यह मत था कि नवीन भाषा अभी तक इतनी समर्थ नहीं बन सकी है कि विधान जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु के लिए उसका प्रयोग किया जा सके। डेमोक्रेटिक दल ने अब अरबी में नमाज पढ़ने तथा अंकारा रेडियो से कुरान के पाठ की भी आज्ञा दे दी।

नये शब्दों का कैसे प्रचार किया गया

अरबी-फारसी शब्दों के स्थान पर तुर्की शब्दों को कैसे प्रचारित किया गया, यह भी एक दिलचस्प कहानी है। पारिभाषिक शब्द तो स्कूल तथा कालेजों की पाठ्य-पुस्तकों द्वारा प्रचलित किये जा सकते हैं। इसी प्रकार विधान में प्रयुक्त शब्द भी सरकारी आज्ञा से चालू किये जा सकते हैं किन्तु पारिभाषेतर शब्दों को जनता में चालू करना सरल कार्य नहीं है। किन्तु यह कार्य भी तुर्की में सम्पन्न हुआ। भाषा-क्रान्ति के प्रथम युग (सन् १९३४-३५) में सरकार ने समाचारपत्रों को कम-से-कम दो लेख नवीन भाषा में प्रकाशित करने के लिए बाध्य किया। इन लेखों के अन्त में नये शब्दों की सूची तथा उनकी व्याख्या भी दी जाती थी। यह कार्य बहुत दिनों तक न चल सका। भाषा-परिषद् को तत्काल इस बात का अनुभव हुआ कि नये शब्दों को जनता पर लादना कठिन है। सन् १९३५ में परिषद् के महामंत्री ने अपने एक वक्तव्य में कहा—" 'किलावुज़' में विदेशी-शब्दों के स्थान पर, सुझाव रूप में, जो तुर्की शब्द रखे गये हैं उन्हें हम जनता पर जबर-

दस्ती लादना नही चाहते।" सन् १९४५ मे पुन यही वात दुहरायी गयी—"जनता पर नवीन शब्द लादने का हमें अधिकार नही है। ये शब्द केवल सुझाव रूप मे दिये जा रहे हैं और यदि लेखको को ये पसन्द आये तो वे इनका प्रयोग करे।'

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, नये शब्दो के प्रयोग के लिए किसी प्रकार की कानूनी वाध्यता न थी। फिर भी इन्हे चालू करने के लिए परिषद् पूर्ण नैतिक वल का प्रयोग करती थी। अतातुर्क तथा इनोनू, वस्तुत. भाषा-सुधार के पक्ष में थे और वे अपने भाषणो तथा वक्तव्यो मे सदैव विशुद्ध तुर्की शब्दो का प्रयोग करते थे। कई पनडुब्बियो का नामकरण अतातुर्क ने स्वयं किया और ये नाम विशुद्ध तुर्की के थे। गणित एव ज्यामिति के लिए भी इन्होने कई पारिभाषिक शब्द गढे। भाषा-परिषद् को आरम्भ के दो राष्ट्रपतियो का पूर्ण सहयोग प्राप्त था। सन १९३५ मे स्कूलो की पाठ्य-पुस्तकें नयी भाषा में छापी गयी। इसी प्रकार कई महत्त्वपूर्ण सरकारी कागज-पत्रो का प्रकाशन भी इस नवीन भाषा मे ही हुआ। इस युग मे जो नूतन तुर्की विश्व-कोष वना, उसके द्वारा भी अनेक नये तुर्की शब्द चालू हुए। सरकारी समाचार एजेन्सी तथा इस्तम्बोल एवं अकारा की आकाशवाणियो ने भी विदेशी शब्दों के निष्कासन मे, भाषा-परिषद् का साथ दिया।

भाषा-सुधार के मामले मे तुर्की सेना ने भी परिषद् का साथ दिया। तुर्की सैनिको को धर्म में कम तथा सुधार मे अधिक दिलचस्पी थी। इनके अतिरिक्त सेनाधिकारी सामान्य शिक्षा में भी काफी रस लेते थे और इसके लिए वे भाषा एव लिपि मे सुधार आवश्यक समझते थे। सन् १९२५-२८ मे फौजी-नियम सम्वन्धी पुस्तिका छापी गयी जिसमे अरवी-फारसी शब्दों के वदले तुर्की-शब्दो का व्यवहार किया गया। सन् १९३५ की फरवरी मे 'सेना के मुख्य अधिकारी ने विदेशी सैनिक शब्दो के वदले विशुद्ध तुर्की शब्दो को व्यवहृत करने का आदेश दिया और इसके फलस्वरूप ऐसे शब्दो की एक सूची भी प्रकाशित की गयी।

ऊपर भाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित पुस्तको का उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त परिषद् ने अनेक अन्य ऐसी पुस्तके प्रकाशित की, जिनका सम्वन्ध तुर्की ध्वनियो, भाषा एवं व्याकरण से था। साधारण जनता तक पहुँचने के लिए परिषद ने मनोरजक पुस्तको का भी प्रकाशन किया।

नये शब्दो के चालू करने मे परिषद् को अत्यधिक कठिनाई हुई। परिषद् की शुद्धीकरण की नीति के लोग कितने विरुद्ध थे, यह पहले कहा जा चुका है। परिषद् ने जव एक साथ ही अनेक नये शब्दो को चालू करने का

प्रयत्न किया तो लोग और भी अधिक उसके विरुद्ध हो गये। जब नये और पुराने शब्द सन्दर्भ में साथ-साथ आते हैं तो नये शब्दो का समझना आसान होता है। किन्तु जहाँ सभी शब्द नये होते हैं वहाँ पाठको की समझ मे कुछ भी नही आता। एक बात और थी, जहाँ भाषा-परिषद् शीघ्रातिशीघ्र अपना कार्य सम्पन्न करना चाहती थी वहाँ यदा-कदा अपनी नीति भी वह बदल देती थी। इससे भी लोगो की कठिनाई बढ़ जाती थी।

आधुनिक तुर्की भाषा की कतिपय समस्याएँ

अरबी-फारसी के प्रचलित शब्द

तुर्की भाषा के सुधार के सम्बन्ध मे आरम्भ से ही यह समस्या थी कि अरबी-फारसी के किन शब्दो को तुर्की मे रखा जाय तथा किन्हें बहिष्कृत किया जाय। बहुत पहले भी अरबी-फारसी के अप्रचलित शब्दो को तुर्की से निकालने का प्रयत्न किया गया था। बाद के सुधारको ने विदेशी व्याकरण के नियमो के अनुसार शब्दो की बनावट पर रोक लगा दी। इसके अतिरिक्त उन्होंने अरबी-फारसी के उन आवश्यक शब्दो को भी बहिष्कृत कर दिया जिनके पर्याय चलित तुर्की मे उपलब्ध थे। भाषा-परिषद् ने एक कदम और आगे बढाया। उसने शुद्धीकरण की सीमा निर्धारित नही की तथा प्रचलित एव अप्रचलित विदेशी शब्दो के अन्तर को भी स्वीकार नही किया। इस सम्बन्ध मे परिषद् समय-समय पर अपना मत बदलती भी रही। भाषा-सुधार के प्रथम चरण (सन् १९३२-३४) मे परिषद् यथासम्भव प्रत्येक विदेशी शब्द को तुर्की भाषा से बहिष्कृत करना चाहती थी। बाद मे उसने चालू विदेशी शब्दो को अस्थायी रूप मे रखना स्वीकार कर लिया। 'मोलजुक' के प्रकाशन के पूर्व तथा उसके बाद परिषद् ने अपनी उदार नीति का त्याग कर दिया था, किन्तु छठें भाषा-परिषद् (सन् १९४९) के बाद उसने पुनः उदार नीति का अवलम्बन किया। सिद्धान्त रूप मे परिषद् प्रत्येक विदेशी शब्द को बहिष्कृत करने के पक्ष में थी, किन्तु व्यवहार मे वह उन गैर-तुर्की शब्दो को निकालने मे असमर्थ थी जो शब्द तुर्की शब्द-समूह के अग बन गये थे।

तुर्की भाषा में सब से अधिक विदेशी शब्द अरबी-फारसी के हैं। इन शब्दो को निम्नलिखित पाँच भागो मे विभक्त किया जा सकता है —

(क) ऐसे सज्ञावाची शब्द जिन्हे तुर्की भाषा में अनूदित नही किया जा सकता; यथा—**बुलबुल, कहवा** आदि।

(ख) दैनिक जीवन-सम्बन्धी वे शब्द जो इस्लामी सस्कृति के साथ तुर्की में आये हैं, यथा—**दुकान, हमाम, पर्दा** आदि।

(ग) प्रचलित धर्म-सम्बंधी तथा कानूनी शब्द, यथा—**परी, नमाज** आदि।

(घ) साधारण शब्द ; यथा—**दोस्त, कबूल** आदि।

(ङ) विशिष्ट शब्द; इनके सम्बन्ध मे आगे लिखा जायेगा।

ऊपर के क, ख, ग तथा घ विभागो के शब्दो को भाषा-परिषद् ने अपने कोषो मे किसी न किसी रूप में स्थान दिया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि परिषद् उन्हे तुरन्त बहिष्कृत करना नहीं चाहती। अब देखना यह है कि इन शब्दो की क्या विशेषता है जिससे ये शुद्धीकरण से बचे रहे हैं। सब से पहली बात इन शब्दो के सम्बन्ध मे यह है कि (क) समूह के कतिपय शब्दो को छोडकर इन चारो समूह के शब्द बहु-प्रचलित हैं। इस्तम्बोल की साधारण जनता इन शब्दो का प्रयोग करती है और इनमे से कई शब्द तो बोलचाल के मुहावरो मे प्रयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त ये प्राय. एक या दो अक्षरो (syllables) के सक्षिप्त शब्द हैं। इनमे से अनेक शब्दो के उच्चारण मे भी काफी परिवर्तन हो गया है क्योकि अरबी के 'सि' तथा 'सीन' वर्ण तुर्की में एक ही प्रकार से उच्चरित होते हैं। जब से तुर्की रोमन-लिपि में लिखी जाने लगी है तब से इन दो वर्णो को पृथक् अखरौटी का भेद भी मिट गया है। इनमें से कई शब्दो में तो विदेशी द्वित्व वर्ण के स्थान पर केवल एक ही वर्ण रह गया है; यथा—**हम्माल** (कुली) तुर्की में हमाल हो गया है। इसी प्रकार कई शब्दो में स्वर का उच्चारण अपने मूल रूप में न होकर तुर्की की भाँति होता है; यथा—**आदम > आदेम**।

इन विभागो के कई विशेषण-शब्दो में, विशिष्ट भाव-द्योतन के लिए, तुर्की की भाँति ही आनुप्रासिक उपसर्गो का प्रयोग होता है; यथा—**बेम्बेयाज** अत्यधिक धवल, **सिम् सियाह,** अत्यधिक कृष्ण। कतिपय विदेशी शब्दो मे तुर्की—लेमेक—नेमेक प्रत्ययो को जोडकर उन्हें क्रिया पदो मे परिवर्तित कर दिया जाता है; यथा—**हाजिर-लमाक**—तैयार करना; **मुहिम सेमेक**—महत्त्वपूर्ण समझना। इनमें से कई शब्द तो तुर्की में नये अर्थ में प्रत्युक्त होते हैं, यथा—तुर्की, **फेना** 'उच्छेद', अरबी, फना, तुर्की, **पाजार**, 'रविवार', फारसी, बाजार। इनमे अधिकांश शब्द ऐसे हैं जिनके तुर्की मे पर्याय नही मिलते और यदि मिलते भी हैं तो बहुत पहले से ही उनके स्थान पर ये विदेशी शब्द प्रयुक्त हो रहे हैं, यथा—तुर्की **'गोजगु'** के स्थान पर अरबी **आइना,** 'दर्पण'।

इन कारणो से ऊपर के चारों समूह के शब्द तुर्की शब्द-समूह के अग हो गये हैं। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि अरबी-फारसी के जिन शब्दों मे ध्वन्यात्मक अथवा व्याकरण-सम्बन्धी परिवर्तन नही हुए हैं उन्हे विदेशी समझना चाहिए तथा जिनमें इस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं उन्हे स्वदेशी

तुर्की शब्द मानना चाहिए। अन्य भाषाओं में विदेशी-स्वदेशी-सम्बन्धी सिद्धान्त है, वह तुर्की भाषाओं में नहीं लागू होता। सच तो यह है कि जिस प्रकार अँगरेजी में अन्य भाषाओं से अनेक शब्द उधार लिये गये हैं उसी प्रकार तुर्की में भी अनेक शब्द अरबी-फारसी से उधार लिये गये है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि तुर्की की मूल ध्वनि में किंचित् अन्तर आ गया है।

विशिष्ट विदेशी शब्द

यद्यपि (घ) तथा (ङ) समूह के शब्दो के बीच सीमा निर्धारित करना कठिन है तथापि इसमें सन्देह नहीं कि (ङ) समूह के शब्द, शेष चार समूह के शब्दो से भिन्न है। ये अधिकांश शब्द भाववाचक हैं और ये प्राय. अरबी-फारसी के तुर्की अनुवाद के साथ आये हैं। १९वी शताब्दी तक सांस्कृतिक दृष्टि से ये शब्द महत्वपूर्ण माने जाते थे और तुर्की में इनके पर्याय होते हुए भी लोग इन्हे विशिष्ट मानकर व्यवहृत करते थे। (क), (ख), (ग), (घ) समूहो के शब्दो से ये इस बात में भी भिन्न है कि इनके शब्द-रूप अरबी-फारसी के व्याकरणानुसार है। इनमे से अनेक शब्द तीन अक्षरो के हैं और इनके मूल अर्थ मे प्राय बिल्कुल परिवर्तन नहीं हुआ है। अरबी अक्षरो मे इनकी अखरौटी अरबी की भाति ही है। इनमें से अनेक शब्द एक धातु से ही प्रसूत हुए है—यथा, इल्म (علم) से **इलिम्, उलूम, आलिम, उलेमा, अल्लामे, मालूम, मालूमात, मुअल्लिम, मुअल्लेम, तालिम, तालिमात, इलांम, ताल्लुम, इस्तिलाम** आदि।

अँगरेजी, फ्रेंच आदि भाषाओं में भी ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं से शब्द उधार लिये गये है और यह कहा जा सकता है कि अरबी-फारसी से तुर्की मे लिये गये शब्द उसी प्रकार के हैं। किन्तु वास्तव मे बात ऐसी नही है, और तुर्की में उधार लिये गये शब्दो तथा अन्य भाषाओं मे उधार लिये गये शब्दो में बहुत अन्तर है। अँगरेजी तथा फ्रेंच मे ग्रीक-लैटिन भाषाओं के जो शब्द उधार लिये गये है उनकी अखरौटी अँगरेजी-फ्रेंच के अनुसार ही है। इसके अतिरिक्त इनमे अँगरेजी-फ्रेंच प्रत्ययो का ही प्रयोग होता है, किन्तु तुर्की मे अरबी-फारसी से उधार लिये गये शब्दो के सम्बन्ध मे यह बात नही है। इन शब्दो की अखरौटी, इनके प्रत्यय तथा अर्थ आदि मूल अरबी-फारसी के ही रह गये है। यही कारण है कि राष्ट्रीयता के वातावरण मे पले हुए युवक तुर्कों की इन शब्दो के प्रति तनिक भी सहानुभूति नही है।

अरबी-फारसी के विशिष्ट शब्दो के विरुद्ध इस शताब्दी के आरम्भ में ही युद्ध-घोषणा हुई थी। सब से पहले सुधारको की दृष्टि विदेशी प्रत्ययों

तथा विदेशी व्याकरण के अनुसार वने हुए रूपों की ओर गयी और उन्होंने मुख्यतया इजाफत तथा अरवो-फारसी ढग से वने हुए वहुवचन वाले शब्दो को वहिष्कृत किया। इस प्रकार के शब्द वोलचाल की तुर्की मे नही व्यवहृत होते थे किन्तु साहित्य तथा लिखित भाषा मे ये प्रयुक्त होते थे। इस कार्य मे सुधारको को पर्याप्त सफलता मिली। इसका फल यह हुआ कि अरवी-फारसी के अनेक ऐसे शब्द तुर्की से वहिष्कृत हो गये। भाषा-परिषद् इस सम्बन्ध मे और भी आगे वढी। कतिपय इजाफतवाले साधारण शब्द (जैसे, 'दृष्टिकोण' के लिए 'नुकतए नज़र') तथा विदेशी ध्वनिवाले शब्द अभी भी तुर्की मे रह गये थे। परिषद् ने इन्हे भी निकालने का प्रस्ताव किया। सच वात तो यह है कि भाषा-परिषद् को विदेशी व्याकरण के आधार पर वने हुए वोलचाल के साधारण शब्द भी असह्य थे। वस्तुत: इन शब्दों को, तुर्की मे सुरक्षित रखने मे, परिषद् राष्ट्र-भाषा का अपमान समझती थी। भाषा-परिषद् का एक यह भी तर्क था कि चूँकि अरवो-फारसी का अध्ययन-अध्यापन तुर्की मे वन्द हो गया अत. नयी पीढ़ी के युवक इन्हे समझने में असमर्थ हैं। सुधारको का यह स्पष्ट मत था कि जनभाषा तक पहुँचने मे ये शब्द वाधक हैं। सर्वेक्षण से इस वात का भी पता चला कि अशिक्षित जनता अरवी-फारसी शब्दो का प्रयोग अत्यल्प मात्रा मे करती है। अतएव ऐसे शब्दो से तुर्की भाषा को मुक्त करना ही श्रेयस्कर है।

तुर्की शब्दो के अरवी-फारसी पर्याय

हाल तक अनेक विदेशी शब्द तुर्की-शब्दसमूह के अग रहे क्योंकि इनके तुर्की पर्याय उपलब्ध न थे, किन्तु कभी-कभी तुर्की मे उपयुक्त पर्याय उपलब्ध होने पर भी ये शब्द व्यवहृत होते रहे। इस प्रकार के शब्द विशेष रूप से साहित्य मे ही चलते रहे। जव वोलचाल की तुर्की को साहित्य का आधार वनाने का आन्दोलन परिचालित हुआ तो इन विदेशी शब्दो का स्वत छूट जाना अनिवार्य हो गया। 'जल' के लिए तुर्की शब्द 'सु' है किन्तु लिखित भाषा मे इसके स्थान पर अरवी 'मा' तथा फारसी 'आव' शब्द प्रयुक्त होते थे। भाषा-सुधार-आन्दोलन के परिणामस्वरूप अरवी-फारसी के ये शब्द तुर्की भाषा से स्वत निकल गये।

विदेशी शब्दो के व्यवहार का एक कारण तुर्की काव्य-रचना के लिए अरवी-फारसी छन्दो का प्रयोग भी था। तुर्की मे दीर्घ स्वर का अभाव है। इसके लिए कवियो को अरवी-फारसी के दीर्घ अक्षरवाले शब्द लेने पडते थे। सुधारको ने जव तुर्की छन्दो का प्रयोग प्रारम्भ किया तव इन विदेशी शब्दो की आवश्यकता न रह गयी।

सुधारको का कहना था कि बहुत से लोग तो अरबी-फारसी शब्दों का व्यवहार अपनी शिक्षा-दीक्षा तथा सुसंस्कृति प्रदर्शित करने के लिए करते है। ऐसे लोग साधारण तुर्की शब्दो को गँवारू और उन्ही के पर्यायवाची अरबी-फारसी शब्दो को प्रतिष्ठावाची समझते थे। इस मत के माननेवाले लोगो का कहना था कि प्रत्येक देश के ललित-साहित्य की तथा बोलचाल की भाषा मे प्रयुक्त होनेवाले शब्दो मे अन्तर होता है। इसके अतिरिक्त पर्यायवाची शब्दो के प्रयोग से शैली मे सम्पन्नता, सुन्दरता तथा विशेषता आ जाती है। अपने मत की पुष्टि मे ये लोग अँगरेजी का उदाहरण देते थे। इनके अनुसार अँगरेजी की सम्पन्नता का मुख्य कारण यह था कि वह किसी भी विदेशी भाषा मे आवश्यकतानुसार शब्द ग्रहण कर लेती है।

भाषा-परिषद् के आलोचको के मतानुसार ओटोमन साहित्य के लेखक तथा सुधारवादी, दोनो दो छोरो पर थे। यदि ओटोमन के साहित्यिको की यह गलती थी कि वे अपनी रचना मे अन्धाधुन्ध अरबी-फारसी शब्दो का व्यवहार करते थे, तो दूसरी ओर सुधारको का यह दोष था कि वे सभी विदेशी शब्दको तत्काल बहिष्कृत कर देना चाहते थे। इनके अनुसार इस प्रकार के जबरदस्ती सुधार का यह परिणाम था कि तुर्की से अनेक मूल्यवान् तथा सूक्ष्म भावो को व्यक्त करनेवाले शब्द बहिष्कृत हो रहे थे।

भाषा-परिषद् के मत के समर्थको का कथन था कि अरबी-फारसी के एक-एक शब्द के लिए तुर्की मे कई पर्यायवाची शब्द उपलब्ध है जो नितान्त सूक्ष्म भावो को प्रदर्शित करने मे समर्थ हैं।

उदार मतवादियों के अनुसार भाषा की सम्पन्नता की दृष्टि से, तुर्की शब्दो के साथ-साथ बोलचाल मे व्यवहृत विदेशी शब्दो को भी सुरक्षित रखना आवश्यक था। वे दैनिक जीवन तथा मुहावरो में प्रयुक्त होनेवाले विदेशी शब्दो के निष्कासन के विशेष रूप से विरोधी थे। उनके मतानुसार सांस्कृतिक दृष्टि से भी कतिपय विदेशी शब्दो को सुरक्षित रखना आवश्यक था। इसी प्रकार जहाँ नये तुर्की शब्द ठीक रूप से भाव-प्रकाशन मे असमर्थ थे वहाँ अरबी-फारसी शब्दो को भी रखना जरूरी था।

इन आलोचनाओ का भाषा-परिषद् की कार्यवाही पर प्रभाव पडे बिना रह न सका। सन् १९५१ के अपने एक वक्तव्य मे इसके महामंत्री ने यह विचार प्रकट किया—जो विदेशी शब्द विशेष अर्थ द्योतित करते हैं उन्हे तुर्की पर्याय के साथ सुरक्षित रखना उचित है। सच बात तो यह है कि अब भाषा-परिषद् भी इस बात का अनुभव करने लगी थी कि तुर्की का शब्द-समूह क्रमश सकुचित हो रहा है तथा शब्दो का प्रयोग करके अर्थ देने के अधिकारी कवि एवं लेखक ही होते है।

यूरोपीय भाषाओं से उधार लिये गये शब्द

ओटोमन तुर्की ने यूरोपीय भाषाओं से भी अनेक शब्द ग्रहण किये थे। इन शब्दों को दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) पुराने शब्द जिन्हें तुर्की भाषा ने अनातोलिया में राज्य स्थापित करने के समय से १९वीं शताब्दी तक ग्रहण किया था। इस युग में, तुर्की में, पड़ोस की भाषाओं से अनेक शब्द लिये गये थे। इनमें से मुख्य भाषाएँ ग्रीक, इतालीय, हंगेरीय, स्लाव आदि हैं। इन शब्दों को तुर्की ने अपने पड़ोस की जातियों से सुनकर ग्रहण किया था। इनमें से अधिकांश शब्द विविध वस्तुओं के नाम हैं। ये शब्द प्राय जन-साधारण तक में प्रचलित हैं और इसके फलस्वरूप इनमें पर्याप्त मात्रा में ध्वन्यात्मक-परिवर्तन भी हुआ है। आज ये शब्द तुर्की शब्द-समूह के अंग हो गये हैं और कोई भी सुधारक इन्हें बहिष्कृत करने की बात तक नहीं सोचता।

(ख) किन्तु तुर्की में अधिकांश शब्द फ्रेंच भाषा से उधार लिये गये हैं। ये शब्द गत डेढ़ सौ वर्ष में, टर्की के पश्चिमीकरण के साथ आये हैं। इनमें से अधिकांश शब्द पश्चिम के नये विचारों को व्यक्त करने के लिए ग्रहण किये गये हैं। किन्तु कतिपय शब्द अरबी-फारसी शब्दों के पर्याय रूप में भी आये हैं। इनके ध्वनि एवं अर्थ में काफी परिवर्तन हो गया है, और ये शब्द भी तुर्की शब्द-समूह में घुल-मिल गये हैं।

भाषा-परिषद् ने यूरोपीय भाषाओं से उधार लिये गये शब्दों की कभी भी चिन्ता न की। उसका एकमात्र लक्ष्य अरबी-फारसी शब्दों को बहिष्कृत करना था। एक ओर जहाँ अरबी-फारसी शब्द तुर्की भाषा से निकाले जा रहे थे, वहाँ दूसरी ओर योरोपीय भाषाओं से नये-नये शब्द ग्रहण भी किये जा रहे थे। वास्तव में यूरोपीय शब्दों की स्वीकृति अतातुर्क की पश्चिमीकरण-नीति के अनुकूल थी। अतएव ये शब्द तुर्की भाषा में प्रेम के साथ अपनाये जा रहे थे। इसके अतिरिक्त अरबी-फारसी शब्दों की भाँति यूरोपीय भाषाओं के शब्द तुर्की के लिए घातक भी न थे क्योंकि ये तुर्की-ध्वनि एवं व्याकरण के अनुकूल बन गये थे। रोमन-लिपि की स्वीकृति एवं पश्चिमी साहित्य तथा विज्ञान के प्रभाव के कारण भी तुर्की में अनेक यूरोपीय शब्दों का ग्रहण करना अनिवार्य-सा हो गया। एक बात और थी। नवीन विचारों एवं ज्ञान-विज्ञान को व्यक्त करने के लिए तुर्की में शब्दों का अभाव भी था। यद्यपि भाषा-परिषद् के विद्वान् यूरोपीय शब्दों की बाढ़ को भी रोकना चाहते थे तथापि इसमें वे असफल रहे। शासन एवं सेना के सुधार के साथ भी अनेक नये यूरोपीय शब्द तुर्की-भाषा में आये।

यूरोपीय शब्दो के ग्रहण करने के सम्बन्ध मे अरब देशो, इजराइल तथा ईरान की टर्की से तुलना काफी दिलचस्प होगी। अरबी, हिब्रू तथा फारसी मे जहाँ सायकिल, ड्राइवर, स्टेशन, फैक्टरी जैसे शब्दो के लिए भी प्रतिशब्द गढे गये हैं वहाँ तुर्की मे निर्बाध गति से यूरोपीय भाषाओ के शब्द ग्रहण किये जा रहे है।

पारिभाषिक शब्द

भाषा के सुधार तथा विकास पर दृष्टि रखते हुए तुर्क लोग तुर्की शब्द-समूह को दो वर्गो में विभाजित करते है —(१) साधारण शब्द, (२) विशिष्ट अथवा पारिभाषिक शब्द। जहाँ तक प्रथम वर्ग के शब्दो का प्रश्न है, सुधार-वादियो का मुख्य उद्देश्य तुर्कीकरण था। जैसे-जैसे अरबी-फारसी शब्दो के तुर्की प्रतिरूप मिलते गये, सुधारवादियो ने विदेशी शब्दो को निकालकर उनके स्थान पर इन्हें रखा। ये शब्द बोलचाल अथवा साहित्यिक तुर्की से लिये जाते थे। किन्तु दूसरे वर्ग के शब्दो की बात सर्वथा भिन्न थी। सुधारवादियो का कहना था कि किसी भी भाषा मे पारिभाषिक शब्द विकसित होकर नही आते किन्तु उन्हे विद्वान् गढते है। इन शब्दो की यह विशेषता होती है कि ये उपयुक्त तथा स्पष्ट होते हैं और निर्धारित सिद्धान्त के अनुसार गढे जाते है।

तुर्क लोगो ने जब इसलाम धर्म को ग्रहण किया था तो अन्य इस्लाम-धर्मावलम्बी देशो की भाँति, उन्होने अपने पारिभाषिक शब्द अरबी से लिये थे। १९वी शताब्दी मे जब पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से नये पारिभाषिक शब्दो की आवश्यकता पडी तब ओटोमन तुर्कों ने अरबी तथा फारसी से ही शब्द गढे। नये युग मे जब तुर्की भाषा को प्रतिष्ठापित करने का प्रश्न आया तो उस समय भी पारिभाषिक शब्द अरबी-फारसी से ही गढे गये, यद्यपि यूरोपीय भाषाओ से भी कतिपय शब्द ग्रहण किये गये। किन्तु अतातुर्क के अधिनायकत्व मे, रिपब्लिकन दल के हाथ मे शक्ति आते ही तुर्की का नक्शा ही बदल गया। अब तुर्क-लोग इस्लामी सभ्यता तथा सस्कृति से विमुख हो गये, स्कूलो मे अरबी-फारसी का अध्ययन-अध्यापन बन्द हो गया तथा रोमन लिपि चालू हो गयी।

इस परिस्थिति मे अरबी-फारसी के पारिभाषिक शब्द बेकार हो गये। इसके दो कारण थे—प्रथम, रोमनलिपि मे लिखित अरबी शब्द लोगो के लिए दुर्बोध्य हो गये, दूसरे पुराने पारिभाषिक शब्द अपर्याप्त थे। ओटोमन तुर्की मे अनेक पारिभाषिक शब्द उपलब्ध न थे और ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ इस अभाव को पूरा करना आवश्यक था।

पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में भाषा-परिषद् ने नये मार्गों का अवलम्बन किया। उसने फ्रेंच, जर्मन तथा अँगरेजी कोशों की सहायता से पारिभाषिक शब्दों की सूची तैयार की तथा ओटोमन तुर्की में उपलब्ध इनके पर्यायों की जाँच की। इन सभी पर्यायों को भाषा-परिषद् ने अस्वीकार कर दिया और उनके स्थान पर या तो अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों को या तुर्की शब्दों को रखा।

साधारण विदेशी शब्दों के लिए बोलचाल की तुर्की में पर्याय प्राप्त कर लेना सरल था किन्तु पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में काफी कठिनाई थी। इनके प्रतिरूप न तो बोलचाल की भाषा ही में मिलते थे और न प्राचीन साहित्यिक भाषा में ही उपलब्ध थे। नये शब्दों का गढ़ना भी आसान न था। पश्चिमी भाषाओं, विशेषतया जर्मन में उपसर्ग, प्रत्यय तथा समास की सहायता से नूतन शब्दों के गढ़ने की पूर्ण क्षमता है। किन्तु तुर्की तथा सामी भाषाओं में इस शक्ति का अभाव है। कुछ हद तक तुर्की ने अपने में यह शक्ति पैदा की।

भाषा-परिषद् ने पारिभाषिक शब्दों को दो मुख्य भागों में बाँट रखा है। पहले भाग में वे शब्द आते हैं जो प्राइमरी तथा मिडिल (छठी से आठवीं) कक्षाओं में प्रयुक्त होते हैं। दूसरे भाग में वे शब्द हैं जो इससे ऊपर की कक्षाओं (९वीं से ११वीं) में व्यवहृत होते हैं। जहाँ तक प्राइमरी तथा मिडिल कक्षाओं में प्रयुक्त होनेवाले पारिभाषिक शब्दों का प्रश्न है ये सभी तुर्की के हैं। भाषा-परिषद् के विचार में, देश को साक्षर बनाने तथा शिक्षा के शीघ्र प्रसार के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा की भाषा को दैनिक जीवन की भाषा के निकट लाया जाय। अतएव 'एलेक्ट्रिक' तथा 'डायनमो' जैसे कतिपय विदेशी शब्दों को छोड़कर, भाषा-परिषद् ने स्कूल की पाठ्य-पुस्तकों में तुर्की भाषा के पारिभाषिक शब्दों को ही स्थान दिया। सन् १९३९ की स्कूली पाठ्य-पुस्तकों में जो पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए थे वे ऊपर के ढंग से ही बनाये गये थे। भाषा-परिषद् के आँकड़ों के अनुसार पाँच हजार पारिभाषिक शब्दों में से, पहले केवल नौ प्रतिशत शब्द तुर्की भाषा के थे, किन्तु अब प्रायः अस्सी प्रतिशत शब्द खाँटी तुर्की हैं।

साधारणतया जो लोग भाषा-परिषद् की शुद्धीकरण की नीति को पसन्द नहीं करते थे उन्होंने भी तुर्की पारिभाषिक शब्दों का स्वागत किया तथा सभी लोगों ने इस बात को स्वीकार किया कि अरबी पारिभाषिक शब्दोंकी अपेक्षा तुर्की के ये शब्द सरल तथा बोधगम्य हैं। प्राणिशास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में भी यही बात थी। तुर्की के पारिभाषिक शब्द प्रायः जर्मन आदर्श पर गढ़े गये थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उच्च कक्षाओं के पारिभाषिक शब्दों के

सम्बन्ध मे पहले भाषा-परिषद् ने अपनी शुद्ध भाषावाली नीति अपनायी तथा बॉयालोजी, बोटेनिक जैसे अन्तर्राष्ट्रीय शब्दो को भी पाठ्य-पुस्तको से निकालकर इनके बदले शुद्ध तुर्की शब्दो को रखा किन्तु १९४९ के छठे भाषा-परिषद् के अधिवेशन के बाद भाषापरिषद् की नीति मे परिवर्तन हुआ और उन्होंने निश्चित नियम के आधार पर प्रगतिशील राष्ट्रो मे प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय शब्दो को स्वीकार किया। अब तो परिषद् ग्रीक एव लैटिन के कतिपय पारिभाषिक शब्दो को व्यवहृत करना ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक मानती है।

अन्तर्राष्ट्रीय-पारिभाषिक शब्दो की अखरौटी तथा उनका उच्चारण किस रूप मे हो यह आज तुर्की की एक समस्या है। इसका समाधान तीन ढग से सम्भव है—यह कि फ्रेंच रूप मे उच्चरित किया जाय तथा इसी रूप में इन्हे लिखा भी जाय, अथवा इनके मूल उच्चारण तथा अखरौटी को सुरक्षित रखा जाय या इन्हे तुर्की रोमक लिपि मे लिखकर अखरौटी के अनुसार इन्हे उच्चरित किया जाय। सन् १९५० मे भाषा-परिषद् ने निश्चय किया था कि अन्तर्राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दो को तुर्की व्याकरण एव उच्चारण के नियमो का अनुगमन करना चाहिए। इन शब्दो के सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय करने के पूर्व परिषद् ने इनकी अखरौटी के विषय मे एक प्रश्नावली तैयार की और विद्वानो के पास उसे भेजकर उनकी सम्मति ली। उदार सुधारवादी अन्तर्राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दो की अखरौटी मूल भाषा की ही रखना चाहते थे, किन्तु परिषद् उच्चारणानुसार अखरौटी के पक्ष मे थी। परिषद् के कतिपय सदस्यो की तो यहाँ तक राय थी कि व्यक्तिवाचक विदेशी नामो को भी मूल अखरौटी के अनुसार न लिखकर उच्चारणनुसार ही लिखना चाहिए, किन्तु इसके साथ-ही-साथ मूल अखरौटी भी कोष्ठ मे दी जानी चाहिए। इधर हाल मे तुर्की मे, विदेशी (विशेषतया यूरोपीय) शब्दो की अखरौटी व्युत्पत्ति के अनुसार दी जाने लगी है।

यह तो हुई यूरोपीय भाषाओ से लिये गये पारिभाषिक शब्दो की बात। अरबी-फारसी के इसप्रकार के शब्दो की बात इससे अलग है। भाषा-परिषद इन भाषाओं के शब्दों को तुर्की मे नही रखना चाहती और जनता मे प्रचलित अरबी-फारसी शब्दो के लिए भी वह तुर्की पर्याय ही देना उपयुक्त समझती है। वह अरबी के **'अक्ल'**, **'जेक'** (बुद्धि), **'तबीअ'** (प्राकृतिक) जैसे जन-प्रिय शब्दो के स्थान पर भी तुर्की के **'उस'** **'अनलक'** तथा **'दोगल'** जैसे शब्दो को बिठाना चाहती है। उदार मतवादी भाषा-परिषद् की इस शुद्धीकरण की नीति को पसन्द नही करते। उनका कहना है कि थोडे से अरबी-फारसी शब्दो से तुर्की भाषा को हानि नही पहुँच सकती। इसके अतिरिक्त जो शब्द जीवित-

भाषा में है तथा जनप्रिय हैं उन्हे निकालना उचित नही है। उदार मतवादियो के विचार का प्रभाव इधर भाषा-परिषद् पर पड़ा है। और उसने इस बात को विज्ञापित भी किया है कि पारिभाषिक शब्द जीवित भाषा मे लिये जायेंगे किन्तु कौन-सी भाषा जीवित है, इसे भाषा-परिषद् ने स्पष्ट नही किया है।

परिभाषा-विषयक शब्दो के निर्माण-सम्बन्धी वाद-विवाद का यह परिणाम प्रतीत होता है कि कदाचित् ये शब्द अन्ततोगत्वा इस्तम्बोल विश्वविद्यालय के सुझाव के अनुसार बनेंगे। जहाँ तक ओषधि-विज्ञान (मेडिकल) के शब्दो का प्रश्न है, विद्वानो के अनुसार इनके दो रूप हैं—(१) राष्ट्रीय स्वास्थ्य, (२) अन्तर्राष्ट्रीय विज्ञान। रोगी से बातें करने के लिए डॉक्टर को तुर्की भाषा के शब्दो की आवश्यकता है किन्तु शिक्षा एवं अनुसन्धान के लिए ग्रीक एव लैटिन पारिभाषिक शब्दो की जरूरत है। ओषधि-विज्ञान विभाग ने इन शब्दो को निम्नलिखित तीन वर्गों मे विभक्त किया है—

(क) ओषधि तथा रोग सम्बन्धी वे शब्द जो जनसाधारण मे प्रचलित हैं, ये सभी शब्द केवल तुर्की भाषा के होने चाहिए।

(ख) इसप्रकार वे शब्द जिन्हे साधारण शिक्षित लोग तक जानते हैं— इसके अन्तर्गत तुर्की, एव अरबी-फारसी तथा ग्रीक-लैटिन के भी कतिपय पारिभाषिक शब्द आ सकते हैं।

(ग) वे शब्द जिनका प्रयोग केवल डाक्टर लोग आपस मे करते हैं। ऐसे शब्द अन्तर्राष्ट्रीय होने चाहिए, किन्तु इनकी अखरौटी तुर्की भाषा की होनी चाहिए। इसके साथ ही, इनकी मूल अखरौटी भी कोष्ठ में रखनी चाहिए।

विदेशी शब्दो के तुर्की पर्याय

विदेशी शब्दो के बहिष्कार मे तभी सफलता सम्भव है जब उनके पर्याय-वाची तुर्की शब्द मिले। इस सम्बन्ध में तुर्की भाषा-सुधारकों को अनेक सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समस्याओ का समाधान करना पडता है और कई प्रश्नो का तो वास्तव मे समाधान हो भी नही पाता।

भाषा-परिषद् ने निम्नलिखित सिद्धान्तो के आधार पर विदेशी शब्दो के लिए तुर्की पर्याय ढूँढे—

(क) विदेशी शब्दो के लिए आधुनिक साहित्यिक-भाषा से तुर्की शब्द चुनकर; यथा—वफात (मृत्यु) के लिए **ओलुम**।

(ख) बोलचाल की भाषा तथा तुर्की बोलियो से शब्द लेकर, यथा—खेल के लिए **गोर्कम्**।

(ग) तुर्की भाषा से लुप्त प्राचीन शब्दो को पुनर्जीवित करके, यथा—अतिथि के लिए **कोनुक्** तथा साक्षी के लिए **तानिक्**।

(घ) प्राचीन तुर्की ग्रन्थो तथा टर्की से बाहर बोली जानेवाली इस परिवार की अन्य भाषाओ से शब्द लेकर; यथा—राष्ट्रपति के लिए **बश्कन्**।

(ङ) उपलब्ध तुर्की शब्दो को विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त करके, यथा—**उरुन**, मूल अर्थ मे गोरस (dairy product) सम्बन्धी वस्तुएँ, किन्तु विशिष्ट अर्थ मे वस्तुएँ।

(च) वस्तुवाची तुर्की शब्दो को भाववाची बनाकर, यथा—**कयनक**, पानी का सोता, किन्तु भाववाची अर्थ मे उत्पत्ति अथवा मूल।

(छ) विदेशी शब्दो को अक्षरश तुर्की मे अनूदित करके; यथा—**बकन्**, मत्री। अरबी **नाजिर** से यह शब्द बना है। नाजिर का शाब्दिक तुर्की शब्द **बक्** है। इसी से **बकन्** शब्द बनाया गया है।

(ज) विदेशी शब्दो को तुर्की ध्वनियो के अनुसार उच्चरित करके, यथा—अरबी कुव्वेत को **कुवेत** तथा अँगरेजी स्पोर्ट को **इस्पोर** रूप मे उच्चरित करके।

(झ) अनेक प्रकार के सामासिक शब्द बनाकर, यथा—**ते-केल** (एक-हाथ), एकाधिपत्य अर्थ में, **यु-जिल** (सौ-वर्ष), शताब्दि अर्थ मे।

(ञ) उपसर्ग जोडकर, यथा—**उस्त** (उपरि) + इन्सान > **उस्तिन्सान**, मानवोपरि।

(ट) प्रयत्नो से नये शब्द बनाकर, यथा—अरा (व्यक्तियो के सम्बन्ध) मे **चि** प्रत्यय जोडकर **अराचि** शब्द बना जिसका अर्थ है, मध्यस्थ।

(ठ) विदेशी भाषाओ—फ्रेंच, अरबी, आदि के शब्दो को तुर्की-ध्वनियो के अनुकूल बनाकर, यथा—**ओकुल** (फ्रेंच ecole स्कूल), **तेरिम्** (फ्रेंच, terme, अँगरेजी, term), **बेलेतिन,** (फ्रेंच तथा अँगरेजी bulletin), दायलेक (फ्रेंच, dialecte, अँगरेजी dialect,) **कमुन** (फ्रेंच, Commune), **नोमल** (फ्रेंच-अँगरेजी normal) आदि। इसीप्रकार अरबी 'इरादे' को तुर्की **इर्दे** में परिणत कर दिया गया है। कहीं-कहीं तो विदेशी एवं तुर्की ध्वनियाँ एक-सी हैं किन्तु इसे वास्तव मे सयोग ही समझना चाहिए। भाषा-परिषद् इस बात को नही स्वीकार करती। उसके अनुसार तो ये सभी शब्द तुर्की धातुओ से ही निर्मित हुए है, यथा—तुर्की धातु, **ओकु** 'पढ़ना' से **'ओकुल'**, **'तेर'**, आधुनिक तुर्की धातु, देर, चयन करना' से **'तेरिम्'**; तुर्की, **बेल्ले**, 'कठाग्र करना' से **'बेलेतिन्'**। यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि ध्वनि-परिवर्तन द्वारा ये नये शब्द

उस समय बनाये गये थे जब तुर्की मे 'पुत्र-भाषा सिद्धान्त' का जोर था और जब लोग ये मानते थे कि विश्व की सभी भाषाएँ तुर्की से निकली है। भाषा-परिषद् इन नये शब्दों को उसी प्रकार से सिद्ध करती है जिस प्रकार अपने देश में संस्कृत को विश्व की भाषाओ की जननी माननेवाले लोग पाणिनि के सूत्रो से मियाँ, मुलुक, मौलना तथा डियाँ, डुलुक, डोलना सिद्ध करते है। आज सभी भाषाओ में अनेक ऐसे शब्द हैं जिनको लोग परम्परा से जनश्रुति-प्रचलित-व्युत्पत्ति (Folk Etymology) देते आ रहे है। तुर्की भाषा तथा इस प्रकार की व्युत्पत्ति मे अन्तर यह है कि यहाँ जान बूझ कर इन प्रकार की व्युत्पत्ति दी जाती है।

विदेशी शब्दो के बदले जिन स्रोतो से तुर्की के नये शब्द लिये गये है, उनका सापेक्षिक-महत्त्व, भाषा-परिषद् द्वारा प्रस्तुत किये गये निम्नलिखित आँकडो से स्पष्ट हो जाता है। ये आँकडे विदेशी शब्दो के ८७५२ तुर्की-पर्याय के आधार पर तैयार किये गये है—

५४ प्रतिशत बोलचाल की तुर्की से लिये गये है।

२० प्रतिशत शब्द ऊपर के शब्दो मे प्रत्यय लगाकर बनाये गये हैं।

५ प्रतिशत शब्द तुर्की के बाहर की बोलचाल की तुर्की भाषाओ से लिये गये है।

५ प्रतिशत शब्द इन बाहरी तुर्की भाषाओ मे प्रत्यय लगाकर बनाये गये है।

६ प्रतिशत अरबी-फारसी के वे शब्द है जो आधुनिक तुर्की मे घुल-मिल गये है।

१० प्रतिशत शब्द इन घुले-मिले शब्दो मे प्रत्यय जोड कर बनाये गये है।

इधर हाल मे भाषा-परिषद् ने अन्य तुर्की भाषाओ से शब्द उधार लेना बन्द कर दिया है क्योंकि इन शब्दो को जनता पसन्द नही करती। दूसरी ओर परिषद् ने समास तथा प्रत्ययो द्वारा अनेक नये शब्दो का निर्माण किया है। इन रीति से नये शब्दो के निर्माण की कहाँ तक गुंजायश है, इस अनुसन्धान मे आज भी परिषद् व्यस्त है।

भाषा-परिषद् ने अरबी धातुओ से बने हुए शब्दो के स्थान पर तुर्की धातुओ से निर्मित शब्दो को रखने का सफलतापूर्वक प्रयत्न किया है। तुर्की भाषा मे प्रचलित आज के नये शब्द, इस बात को स्पष्टतया प्रकट करते है कि जनता की विचारधारा किस रूप मे परिवर्तित हो गयी है तथा प्राचीन आदर्शो के बदले किस रूप मे जनता ने नये आदर्शो को ग्रहण किया है। लोग आज उपनिवेशवाद से कितनी घृणा करते है, यह भाव **सोमुर्गे** तथा

नोमुर्मक शब्दो से प्रकट होता है। इनमें से प्रथम का अर्थ 'उपनिवेश' तथा दूसरे का अर्थ 'निगलना' है। संविधान के लिए तुर्की **अन्यास** शब्द प्राचीन तुर्की—मंगोल भाषा **'यास्'** (स्मृति) से बनाया गया है। इससे यह भाव स्पष्टतया द्योतित होता है कि आज के राष्ट्रवादी तुर्की किस प्रकार अरबी-फारसी के विदेशी-शब्दो के बदले तुर्की के बाहर की तुर्की भाषाओ से शब्द लेना उपयुक्त समझते है। इसी प्रकार **बस रिलि** तथा **येनेर** शब्द तुर्की की धर्म निरपेक्ष भावना को द्योतित करते है। इन शब्दो के अर्थ है—स्व-अर्जित सफलता। ये शब्द आज अरबी-शब्द 'मुवफ्फक' तथा 'मन्सूर' या 'मुजफ्फर' शब्दो के बदले चालू हो रहे हैं जिनका अर्थ है 'ईश्वरप्रदत्त सफलता'।

सुधारवादियो ने मुख्यरूप से विदेशी शब्दो के निष्कासन तथा उनके बदले तुर्की शब्दो को प्रचलित करने का ही सर्वाधिक प्रयत्न किया है, किन्तु भाषा के प्रधान तत्त्व वाक्य एव वाक्य-विन्यास पर उन्होने बिल्कुल ध्यान नही दिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि अनुवाद मे प्राय विदेशी वाक्य-विन्यास ज्यो-के-त्यों आ गये हैं। साहित्यिक लोग स्वाभाविक रीति से यह बात पसन्द नही करते।

तुर्की शब्द-समूह की वर्तमान स्थिति

भाषा-सुधारको को आधुनिक तुर्की-शब्द-समूह को बदलने मे कितनी सफलता मिली है, इसका आज निश्चयात्मक रूप से उत्तर देना कठिन है क्योंकि अभी तक परिनिष्ठित तुर्की भाषा का वास्तविक रूप सामने नही आ सका है। आज तुर्की समाचारपत्रो, शासन, कानून, स्कूली पाठ्य-पुस्तको तथा उच्च साहित्य की भाषा मे उल्लेखनीय अन्तर है। साहित्य के एक ही क्षेत्र मे कार्य करनेवाले लेखको की भाषा मे भी पर्याप्त अन्तर है क्योकि प्राय प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार शब्दो का चयन करता है। फिर भी तुर्की भाषा के शब्द-समूह के सम्बन्ध मे, कतिपय सामान्य बातें उल्लेखनीय है।

साधारणतया तुर्की समाचारपत्रो की भाषा बोलचाल के इतना निकट रहती है कि उसे प्राय निरक्षर लोग भी समझ जाते हैं। चूंकि तुर्की मे प्राय मासिक पत्रो का अभाव है, अतएव विद्वान् लोग भी दैनिक समाचारपत्रो मे ही लिखते है। परिनिष्ठित भाषा के विकास पर इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड रहा है। कतिपय समाचारपत्रो की भाषा दो अन्तो की होती है। इनमे से एक छोर पर कुछ तो ऐसी भाषा का प्रयोग करते है जो आज से बीस वर्ष पूर्व प्रचलित थी और जिनमे अधिकाश शब्द अरबी-फारसी के ही होते है। दूसरे छोर पर वे समाचारपत्र है जो तुर्की-शब्दो के अतिरिक्त अरबी-फारसी

शब्दो को बिल्कुल प्रयोग नही करते। साधारण समाचारपत्रो की भाषा इन दोनो के बीच की होती है। कभी-कभी एक ही वाक्य मे अरबी-फारसी तथा तुर्की के नवीन शब्दो का विचित्र सगम रहता है। प्रतिष्ठा-द्योतन के लिए भी समाचारपत्रो मे कतिपय अरबी-फारसी शब्द प्रयुक्त होते हैं, किन्तु अनेक अरबी-फारसी शब्द एव वाक्य केवल हास-परिहास मे ही आते हैं और इनका अधिकतर प्रयोग व्यग्य-चित्रो मे होता है। यह सब होते हुए भी समाचारपत्रो की भाषा में आज भी लगभग ४० प्रतिशत शब्द अरबी-फारसी के हैं।

नयी पीढी की भाषा पर पाठ्य-पुस्तको की भाषा का प्रभाव है। प्रारम्भ के चार वर्षो की रीडरो मे अरबी-फारसी शब्द अल्प मात्रा मे है। यह उल्लेखनीय बात है कि प्रारम्भिक प्राइमर मे **'और'** के लिए अरबी **'वे'** सयोजक नही प्रयुक्त होता। इसी प्रकार इसमे नवनिर्मित शब्दो का अभाव है और केवल तुर्की-शब्द प्रयुक्त हुए है। ऊपर की कक्षाओ मे नवनिर्मित शब्द क्रमश अधिक सख्या मे प्रयुक्त होते है। चौथी कक्षा की इतिहास की पुस्तक मे **ओलय्** (घटना) **उय्गर्लिक** (सभ्यता), **ओजेत** (साराश), **एत्कि** (प्रभाव), एव **उलुसल** (राष्ट्रीय) शब्द प्रयुक्त हुए है। नवनिर्मित शब्द अधिकांशत, विज्ञान की पाठ्यपुस्तको मे प्रयुक्त होते हैं।

आधुनिक साहित्य की भाषा के सम्बन्ध मे, साधारणतया कुछ भी कहना कठिन है। यहाँ प्रत्येक लेखक देशी तथा विदेशी शब्दो का चुनाव अपनी रुचि के अनुसार करता है। इस सम्बन्ध मे इतना ही कहना पर्याप्त है कि अधिकाश लेखक नव-निर्मित शब्दो का बहुत कम प्रयोग करते हैं किन्तु अरबी-फारसी शब्दो के स्थान पर वे तुर्की के बोलचाल के शब्दो का प्रयोग अवश्य करते है। इसके फलस्वरूप आधुनिक तुर्की भाषा में अरबी-फारसी शब्दो की सख्या धीरे-धीरे कम होती जा रही है। दूसरी ओर साहित्य मे यथार्थ चित्रण के साथ-साथ अनेक ग्रामीण मुहावरे तथा शब्द धडल्ले के साथ आ रहे है।

तुर्की मे कानून की भाषा मे बहुत कम परिवर्तन हुआ है। जिस प्रकार इगलैण्ड मे १८वी शती तक फ्रेच कानूनी शब्दो का प्रयोग होता था उसी प्रकार तुर्की के वकील आज भी कचहरियो मे अरबी-फारसी शब्दो का प्रयोग करते है।

शासन की भाषा का सम्बन्ध प्राय शासको से होता है। अतातुर्क तथा उनके उत्तराधिकारी अरबी-फारसी शब्दो के अत्यधिक विरुद्ध थे, अतएव उनके शासन-काल मे तुर्की शब्दो का ही शासन में अधिक प्रयोग चलता था। किन्तु सन् १९५० के चुनाव के बाद, भाषा के विषय मे, शासन ने उदार-नीति का अवलम्बन किया और अरबी-फारसी के अनेक पुराने प्रचलित शब्द पुनः

चालू किये गये किन्तु भाषा-सुधार के परिणामस्वरूप अनेक नवनिर्मित शब्दो का प्रयोग भी शासन में होता है।

तुर्की के भाषा-सुधार-आन्दोलन की तुलना इसी प्रकार के नार्वे एव मध्य पूर्वी योरप तथा एशिया के भाषा-सुधार-सम्बन्धी आन्दोलनो से की जा सकती है। फिन्नो-उग्रीय वश की भाषा हुगेरीय की विशुद्धीकरण नीति का भी तुर्की के आन्दोलन पर विशेष रूप से प्रभाव पडा क्योकि तुर्की के अनेक भाषाशास्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा बुडापेस्ट मे हुई थी। आधुनिक जर्मन भाषा के विकास का भी अत्यधिक प्रभाव तुर्की-भाषा-सुधारको पर पडा। इन सुधारको ने भाषा-सुधार-विषयक योजना को जनता के सामने रखते हुए बारबार जर्मन भाषा का उदाहरण दिया। तुर्की पर जर्मन भाषा के प्रभाव के अनेक कारण है। इनमे से पहला कारण यह है कि तुर्की का राष्ट्रीय आन्दोलन बहुत-कुछ १९वी शताब्दी के जर्मन राष्ट्रीय आन्दोलन के समान है। दूसरी बात यह है कि तुर्की मे उच्च शिक्षा प्राप्त लोग केवल जर्मन भाषा से परिचित है और विदेशी शब्दो के सम्बन्ध मे तुर्की और जर्मन की समस्या समान है। इन कारणो से जर्मन-भाषा के विशुद्धीकरण की नीति का बहुत-कुछ प्रभाव तुर्की भाषा के सुधार मे स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है और जिस प्रकार जर्मनी मे इस नीति का विरोध हुआ था उसी प्रकार टर्की मे भी इसका विरोध हुआ।

ऊपर तुर्की तथा जर्मन भाषाओ की समानता का उल्लेख किया गया है किन्तु कई बातो मे तुर्की की समस्या सर्वथा भिन्न एव जटिल है। इनमे पहली बात यह है कि जर्मनी के विपरीत तुर्की मे भाषा-सुधार का कार्य परम्परागत प्रचलित लिपि एव भाषा के बहिष्कार से प्रारम्भ हुआ। आज का तुर्क अपने प्राचीन साहित्य मे न तो आस्था ही रखता है और न उसमे अपने लिए कुछ आदर्श ही पाता है। दूसरी बात यह है कि ओटोमन तुर्की मे विदेशी शब्दो के रूप मे केवल अरबी-फारसी के शब्द हैं। इन दोनो मे से किसी का तुर्की से वशगत सम्बन्ध नही है क्योकि अरबी सामी भाषा है और फारसी भारोपीय परिवार की। यही कारण है कि तुर्की अरबी-फारसी शब्दो को आत्मसात् न कर सकी। तीसरी बात इस सम्बन्ध मे यह है कि विदेशी अरबी-फारसी शब्दो के बाहुल्य के कारण ओटोमन तुर्की अशिक्षित एव निरक्षर जनता के लिए अबोधगम्य थी। यही कारण है कि जब जनसाधारण को साक्षर एवं शिक्षित बनाने का प्रश्न सामने आया तब भाषा को सरल बनाना आवश्यक हो गया और सुधारको को स्वर्ण अवसर मिल गया। अन्तिम बात इस सम्बन्ध में यह है कि सुधारको को केवल भाषा की ही शुद्धि नही करनी थी अपितु पारिभाषिक शब्दो से भी उसे पूर्ण बनाना था। ओटोमन तुर्की मे पारिभाषिक

शब्दों का अभाव था और ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के साथ इनमे निर्माण करना आवश्यक था ।

तुर्की भाषा के सुधारकों से चाहे जो भी भूलें हुई हों, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि सुधार का परिणाम शुभ ही हुआ है । इससे तुर्की भाषा विकसित एव समृद्ध हुई है। इसने विद्वानों का ध्यान तुर्की भाषा की रूपरेखा तथा उसके इतिहास के अध्ययन की ओर प्रवृत्त किया है । अब तुर्की भाषा सरस, सरल एव बोधगम्य बन गयी है तथा धीरे-धीरे वह नव-निर्मित पारिभाषिक शब्दों से भी पूर्ण हो रही है ।

●●

अनुक्रमणिका

[क] भाषा, बोली तथा लिपि

[ख] स्थान-नाम

[ग] व्यक्ति-नाम

[घ] ग्रन्थ-नाम

●●●